योगवासिष्ठ-सुधा मोक्ष प्रदायक महान ग्रन्थ है

भगव
वसि
इस
है, '
कुछ
अनन
शुद्ध,
लेती
है।
पदा
चक्र

सार
होता
स्वा
प्राप्त
है।
है।
और

योगवासिष्ठ-सुधा

स्वामी विष्णु शरणानन्दा
(पूर्वाश्रम डॉ० स्वर्ण लता अग्रवाल)

प्रकाशक
मानसी

योगवासिष्ठ-सुधा मोक्ष प्रदायक महान ग्रन्थ है

☐ प्रकाशक
अरूण कुमार
मानसी प्रकाशन
39, कैलाशपुरी
मेरठ—2
✆ (0121) 25208

Manoj Dalmia
1048–Hyannis Circle,
Carol Stream
IL 60188–6037 USA
Tel. No. (630) 289–6176

☐ ISBN No.–81–85494–28–2

☐ प्रथम संस्करण—1998

☐ मूल्य—रु० 250.00
$ 25.00
£ 15.00

☐ लेसर—निकिता कम्प्यूटर ग्राफिक्स
मेरठ

ॐ

समर्पण

यह शब्दांजलि उन परमगुरु महर्पि शिवानन्द जी महाराज को सादर समर्पित करती हूँ जिनके दिव्य दर्शन, ससर्ग एवं कृपा पियूष के पान द्वारा मेरी सुप्त अध्यात्म चेतना जागृत हुई।

अपने जीवन साथी दर्शन शास्त्राचार्य प्रो० अग्रवाल की दिवंगत आत्मा को समर्पित करती हूँ, जिनके प्रबल शिक्षानुराग, धर्मनिष्ठा और पावन प्रेम ने मुझे गृहस्थाश्रम प्रवेश के बाद भी शैक्षणिक विकास हेतु प्रोत्साहन देकर बौद्धिक स्फुरण में योग दिया।

समर्पित है पूज्य गुरु देव एवं स्वामी चिदानन्द जी महाराज को जिनकी अहैतुकी कृपा से मुझे परम स्पृहणीय चतुर्थ आश्रम (सन्यास) में प्रवेश मिला और सांसारिक कर्त्तव्यों से मुक्त होकर शास्त्राध्ययन मे संलग्न हो सकी। और समर्पित है समस्त जिज्ञासु गण को जो दुर्लभ मानव जन्म के रहस्य को समझकर अपने परम लक्ष्य भगवत प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने की आकाँक्षा से सम्पन्न हैं।

अंत में समर्पित है समस्त गृहस्थाश्रम के परिवार को जिन्होंने मेरे सन्यस्त जीवन में भी सब प्रकार की सुख सुविधाएँ उपस्थित करते हुए लेखन कार्य में सब प्रकार से सहयोग देकर अनन्य मातृभक्ति का परिचय दिया।

हरि ॐ

योगवासिष्ठ सुधा मोक्ष प्रदायक महान ग्रन्थ है

भग
वरि
इस
है,
कुछ
अन
सुख
लेते
है।
पद
चन्न

सा
होत
स्वा
प्रा
है।
है।
औ

Swami Chidananda

GOD IS TRUTH

Sivananda Ashr.
P.O. Sivanandanagar
Distt. Tehri-Garhw

FOREWORD

Worshipful homage to the Supreme ALMIGHTY BEING. Loving Adorations to Revered Gurudev Swami Sivanandaji Maharaj. May the Divine grace and the choicest blessings of God and Gurudev be upon Revered Mataji Sri Swami Vishnusharanananda Saraswati, the writer of this "Yoga Vasishtha Sudha"

It is a great happiness to me to write these lines as a foreword to this unique book. Sri Vishnusharanananda Mataji has presented, the most invaluable essence of this great sacred scripture in this book, thus enriching Hindi spiritual literature and at the same time benefiting sincere seekers and spiritual aspirants. I am not only happy but also consider it a spiritual privilege to give this foreword to the work of my learned gurubandhu or spiritual relative in Gurudev for whom Gurudev always had the highest esteem and admiration during his own life time

I wish this publication wide circulation so that the reading public may be immensely benefited. May the blessings of Guru and Govind be upon the readers and as well as the printers and publishers of this book

Om Sri Ram!

Swami Chidananda

28th July 1997

Swami Chidananda

SERVE LOVE MEDITATE

RESEARCH FOUNDATION

5111 S W 74th Avenue, Miami, Florida 33143 U S A • Tel (305) 666 2006 Non-Profit, Federally Tax Exempt

योग-वासिष्ठ सुधा
प्रस्तावना

श्री स्वामी विष्णुशरणानंद जी का व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे राजस्थान (भारत) के एक प्रमुख कालेज की रिटायर्ड प्रिंसिपल हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने विविध सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं की अपार सेवा की है तथा जनता में धर्म संस्कृति एवं सदाचार के प्रसार का प्रशंसनीय कार्य किया है।

अपने जीवन की संध्याबेला में भी श्री स्वामी विष्णुशरणानंद जी (संन्यास से पूर्व जिनका नाम डा०स्वर्णलता अगरवाल था) अपने ज्ञानभंडार मे मुमुक्षुओं एवं जिज्ञासुओं मे ज्ञान का वितरण करती रहती हैं। उनका जीवन इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है कि आध्यात्म ज्ञान से मनुष्य निकम्मा एवं शिथिल नहीं बनता वरन् वह अद्भुत उत्साह एवं उमंग से भरपूर हो जाता है।

अनासक्ति की शिक्षा जो गीता एवं योग-वासिष्ठ में दी गई है उसका अर्थ जगत् की ओर निराशापूर्ण एवं पंगु भाव रखने के लिए नहीं वरन् प्रसन्नता पूर्वक कार्य करने के लिए है---क्योंकि यह जगत् परमात्मा की लीला है।

योग-वासिष्ठ का प्रचार जनसाधारण में बहुत कम हुआ है। इसका कारण यह है कि यह ग्रंथ बहुत विशाल है- यह संस्कृत भाषा में है तथा इसमे वेदान्त के गूढ़ तथ्यों का किया गया है इस पुस्तक को लिख कर श्री स्वामी

विष्णुशरणानंद जी ने इस गंभीर ग्रंथ को जन साधारण की पहुंच में ला दिया है।

जिस तरह निपुण गोताखोर समुद्र से मुक्ता का चयन करते हैं उसी तरह श्री स्वामी विष्णुशरणानंद जी ने योग वासिष्ठ के ज्ञान-सागर में गोता लगाकर ज्ञान-मुक्ताओं का सुंदर संग्रह इस पुस्तक में किया है। इसके प्रकरणों की व्यवस्था इस तरह की गई है कि जन-साधारण के लिए यह सुलभ एवं सुगम हो जाय। मुझे विश्वास है कि पाठक गण इसे अनमोल निधि समझकर इसका समादर करेंगे।

परमात्मा की परम कृपा श्री स्वामी विष्णुशरणानंद जी पर सदा बनी रहे।

भवदीय,

स्वामी ज्योतिर्मयानंद

प्रकाशकीय

इस पुस्तक की लेखिका (पूर्वाश्रम स्वर्णलता अग्रवाल, राज० के शैक्षणिक, [illegible] साहित्यिक जगत में जानी मानी सुपरिचित व्यक्तित्व हैं। [illegible] का शिक्षा क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान है।

उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद के एक सुसंस्कृत अग्रवाल परिवार में [illegible] लेकर एक सामान्य बालिका रूप में आपने जीवन आरम्भ किया। आप की माता [illegible] देवी और पिता ला० रामशरण दास अत्यन्त सौम्य प्रकृति के [illegible] छोटी अवस्था में ही उत्कट शिक्षाप्रेमी, दर्शन शास्त्र के विद्वान डॉ० [illegible] अग्रवाल के [illegible] पाणिग्रहण होने के पश्चात् कठोर श्रम साधना एवं संकल्प [illegible] तक की उच्च शिक्षा प्राप्त की और राजस्थान की विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में [illegible] बीकानेर के स्नातकोत्तर डूंगर महाविद्यालय की प्राचार्या पद [illegible] वहां से अवकाश प्राप्त किया।

राज० विश्वविद्यालय की सीनेट, एकेडेमिक कौंसिल तथा बोर्ड [illegible] रहने के अतिरिक्त आपने अखिल भारतीय स्काउट गाइड [illegible] कमिश्नर के रूप में 25 वर्षों तक सेवाएँ अर्पण की और [illegible] एवं राष्ट्रीय विकास योजना आदि संगठनों को भी आप का [illegible]

स्वर्णलता जी ने राजस्थान में नारी समाज के [illegible] जागृत करके उन्हें शिक्षित और स्वावलम्बी बनाने के लिए [illegible] से सराहनीय कार्य किया। बीकानेर में स्थापित [illegible] निष्कर्म सेवाओं का साक्षात प्रतीक है।

प्राणी मात्र के प्रति करुणार्द्र, हृदय, प्रकृति माधुर्य, [illegible] पूर्ण व्यवहार आदि विशिष्ट गुणों से यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में [illegible] सिद्ध हुई। अनेकों संस्थाओं, संगठनों और व्यक्तियों द्वारा अभिनन्दन, [illegible] जाने पर भी अहंकार और दिखावे से दूर रहकर आप [illegible]

धर्म और अध्यात्म के प्रति गहन निष्ठा के फलस्वरूप [illegible] एव संत साहित्य का स्वाध्याय किया और यथा सम्भव [illegible] लाभ उठाती रहीं। अन्ततोगत्वा आधुनिक युग के महर्षि स्वामी शिवानन्द [illegible] हिंदू संस्कृति और दर्शन में उनकी निष्ठा इतनी दृढ़ है [illegible] होकर वर्णाश्रम धर्म के अनुसार 75 वर्ष की अवस्था होने पर [illegible] ऋषिकेश (भारत) के परमाध्यक्ष महामहिम स्वामी चिदानन्दजी महाराज द्वारा [illegible] होकर स्वामी विष्णु शरणानन्दा नाम पाया। आध्यात्मिक क्षेत्र में [illegible] रूप बीकानेर में स्थापित दिव्य जीवन संघ शाखा [illegible] रूपों में आध्यात्मिक स्पन्दन प्रसारित कर रही हैं।

वर्तमान पुस्तक 'योगवासिष्ठसुधा' स्वामी विष्णु शरणानन्दा के [illegible] एव आत्मचिन्तन का परिणाम है। पूर्व काल में [illegible] सम्भव साहचर्य प्राप्त करना उनके जीवन का [illegible] पुस्तक रचना आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

प्रकाशक

आमुख

रामायण के बालकाण्ड में उल्लेख है कि ऋषि वसिष्ठ ने राम को आध्यात्मिक ज्ञान दिया वही ज्ञान महर्षि वाल्मीकि ने विस्तारपूर्वक लगभग 32000 श्लोकों में गुंथित करके योगवासिष्ठ विशाल ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ को महारामायण भी कहा जाता है और विषय एवं इसमे निहित ज्ञान की महत्ता के प्रतीक उत्तर रामायण, आर्ष रामायण, ज्ञान वासिष्ठ, वासिष्ठ रामायण आदि अन्य कई नाम दिए गए हैं।[1]

रामायण मे भगवान राम का जीवन चरित्र तथा उनके मानवीय गुणों का व्यावहारिक चित्र प्रस्तुत करके सामाजिक मर्यादा का आदर्श प्रस्तुत किया गया है - इसीलिए रामचन्द्र जी मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं। योगवासिष्ठ में राम की आन्तरिक अनुभूतियों का वर्णन है, जिससे आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर आत्मिक विकास मे उन्नति चाहने वाले साधक मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार की ओर अग्रसर हो सकें।

यह महारामायण योग वेदान्त की सर्वाधिक प्रारम्भिक रचना है। इसमें वेदान्त के सूक्ष्म दार्शनिक तथ्यों को युक्तिसंगत ढंग से अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाकर भगवान राम के माध्यम से जिज्ञासु साधकों के लिए मानो एक रसायन तैयार कर दिया गया है। निष्ठापूर्वक विधिवत् इसका पानकर यथार्थ साधक जीव और जगत के रहस्योद्घाटन द्वार तक पहुँच सकता है।

योगवासिष्ठ मोक्ष प्रदायक शास्त्र है - मोक्ष प्राप्त होता है आत्मज्ञान द्वारा - अतएव इस ग्रन्थ मे वर्णित विषय सभी मानव जन्म के परम लक्ष्य आत्मज्ञान की ओर ले जाने वाले हैं।

सामान्य मानव बुद्धि की दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए इसमें गूढ़ तात्विक बिन्दुओं को कई बार दोहराकर उनकी गहनता को दर्शाया है। मन में उठने वाले प्रश्नों के समाधान हेतु प्रश्नोत्तर शैली के प्रयोग से मनोवैज्ञानिक पद्धति का दर्शन होता है एवं दृष्टान्त रूप में अनेक उपाख्यान देने के अतिरिक्त कथा के भीतर कथा पद्धति से विश्व के भीतर विश्व और सर्वभूत चित्त के भीतर चित्त की असीमता का भावात्मक दिग्दर्शन हुआ है।

इस प्रकार यह विशाल ग्रन्थ घुमाव-फिराव के साथ चक्कर खाता हुआ अंत में राम के आत्मज्ञान प्राप्ति में समाप्त होता है।

अद्वैतदर्शन के प्रवर्तक आचार्य शंकर ने एकसूत्र में वेदान्त के मूल तथ्य को बांध कर बताया है कि केवल ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या - जीव ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं —

'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या, जीव ब्रह्मेव नापरः।'

इस सूत्र को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानवान् पुरुषों ने अपने अपने ढंग से समझाया है। उपनिषदों की उक्तियां - 'सर्वं खल्विदं - ब्रह्मै', 'एको देवः सर्वभूतेषु', 'सर्वं ब्रह्ममंय रे रे।' आदि इसी ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं।

क्रान्तिदर्शी ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से स्फुरित वेदान्तदर्शन हिन्दू धर्म का आधारभूत तथ्य है जो हमारे जीवन में रमा हुआ है फिर भी हमारी चेतना से ओझल रहता है

मैंने सन् 1941-42 में काशी से सस्कृत एम ए की परीक्षा के में

निर्धारित 'वेदान्तसार' शीर्षक छोटी सी पुस्तक का अध्ययन किया। सर्वप्रथम उससे मुझे वेदान्त की झलक प्राप्त हुई थी। परन्तु उस समय परीक्षा मात्र के दृष्टिकोण से रटाई करके परीक्षा पास कर ली - वेदान्त के सारभूत तथ्य 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या जीव ब्रह्मैवनापरः' का रहस्य बुद्धि में नही बैठ पाया।

कालान्तर में महान सन्तों की प्रेरणा से राजस्थान राज्य सेवा से निवृत्त होने पर कन्या महाविद्यालय रिवाड़ी में कार्यरत रहते हुए वहां के पुस्तकालय से लेकर सम्पूर्ण योगवासिष्ठ ग्रन्थ पढा और उस विशाल ग्रन्थ का सूत्र रूप में सार भी लिख लिया।

तत्पश्चात् श्रीमद्भागवद्गीता तथा वेदान्त दर्शन के मर्मज्ञ महान सन्तों का साहित्य तो निरन्तर पढती ही थी, परन्तु अभिवांछा होते हुए भी जीवन की अत्याधिक व्यस्ततावश पुनः योगवासिष्ठ महारामायण का स्वाध्याय नहीं हो पाया।

परिस्थितिवश बच्चों के आग्रह पर सन् 1990 मे अमरीका निवास बन गया यहाँ आकर स्वाध्याय के लिए प्रचुर समय मिलने लगा, अतएव वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र, पंचदशी, नारद भक्ति सूत्र, विवेक चूड़ामणि तथा अष्टावक्र गीता आदि का अध्ययन हो गया - साथ ही योगवासिष्ठ के आंग्ल भाषा अनुवाद (स्वामी वेंकटेशानन्द) तथा स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा द्वारा आंग्ल भाषा में चार भागों में रचित सम्पूर्ण योगवासिष्ठ प्राप्त हो गया।

परिणामस्वरूप भगवत् प्रेरणा स्फुरित हुई कि अपने इस अध्ययन का सार लेखनी बद्ध कर लू। यदि प्रकाशित हो सका तो जिज्ञासु साधक भी इससे लाभान्वित होंगे।

संसार के बहुधन्धी प्राणियों में शास्त्र अध्ययन की जिज्ञासा भी हो तो समय निकालना कठिन प्रतीत होता है - इस महारामायण जैसे स्थूलकाय ग्रन्थ को देखकर पढ़ने का साहस नहीं बटोर पाते। संक्षिप्त सार पढ़कर सम्पूर्ण ग्रन्थ के स्वाध्याय की प्रेरणा भी जागृत हो सकती है।

इस दृष्टि से मैंने अपने अध्ययन को सार रूप में टूटी फूटी शब्दावली में बांधकर प्रस्तुत करने का निश्चय किया। परन्तु एक आत्मज्ञानी गुरु के मार्ग दर्शन के अभाव में इस मोक्ष प्रदायक महारामायण जैसे रहस्यपूर्ण ग्रन्थ का सार निचोड़कर लेखनीबद्ध करना दुर्लभ था। इसमें भारतीय विभूति श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा के आत्मीयतापूर्ण व्यक्तिगत परामर्श एवं मार्ग दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान है। अन्यथा इस अध्ययन का अध्यात्मप्रेमी विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करने योग्य बनना सशयजनक होता। योगमार्तण्ड स्वामी ज्योतिर्मयानन्द मेरे भी परम गुरु महर्षि शिवानन्द के शिष्य रत्न हैं। आप अपनी दिव्य प्रतिभा के आधार पर योग वेदान्त संबंधी लगभग पचास ग्रन्थों की रचना कर चुके हैं और गत चार दशाब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे वेदान्तदर्शन एवं योगवासिष्ठ के व्याख्याता रूप में अध्यात्म एवं धर्म शास्त्रों के व्यावहारिक पक्ष को प्रकाशित करते हुए मानव सेवारत हैं। मायामी फ्लोरिडा (यू. एस ए) स्थित आपके दिव्य आश्रम निवास का भी मुझे कई बार सुयोग प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मविद्या का मूल स्रोत भारत भूमि से सुदूर देश अमरीका में रहते हुए मुझे स्वामी जी जैसे धुरन्धर विद्वान और शास्त्रवेता मानो उपगुरु रूप में उपलब्ध हैं और उन्होंने इस तुच्छ प्रयास 'योगवासिष्ठ सुधा' की भूमिका भी लिख कर ग्रन्थ की प्रामाणिकता को पुष्टि प्रदान की है - स्वामी जी के प्रति नत मस्तक होकर आभार प्रकट करना मेरा पुनीत कर्तव्य है।

विश्वविख्यात अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान दिव्य जीवन संघ के परमाध्यक्ष परम योगी स्वामी चिदानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक के लिये दिव्य आर्शीवचन लिख कर अपनी तुच्छ शिष्या पर कृपा पीयूष बरसाया। मै उनके चरणार्विन्द में हृदय के गहन तल से नमन करती हूँ।

'अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः।'

इन दिव्य विभूतियों के शब्दों से मेरे तुच्छ प्रयास का महत्व उसी प्रकार कई गुना बढ़ गया

जिसप्रकार मूर्ति रूप में प्रतिष्ठित होने पर पत्थर के टुकड़े को देवत्व प्राप्त हो जाता है।

आधुनिक युग में महर्षि शिवानन्द जी महाराज के ही शिष्य स्वामी श्री वेंकटेशानन्द अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भ्रमण करके गुरु ज्ञान का विश्व में प्रसार करते रहे हैं और उसके आधार पर भारतीय अध्यात्म की रश्मियां लेखनीबद्ध करके जगती तल पर छिटकायी। उसी क्रम मे दो भागो मे प्रकाशित उनका योगवासिष्ठ आंग्ल भाषा अनुवाद सुप्रीम योग मेरे इस अध्ययन का प्रमुख बिन्दु बना। उन ब्रह्मलीन दिव्य आत्मा को मेरा शत शत प्रणाम।

अत में प्रिय बच्चों के प्रति भी भावोद्‌गार प्रकट करना चाहूँगी- वृहत् परिवार की ज्योति किरणें सदैव मेरी लेखनी में प्रदीप्त रहती हैं। इस ग्रन्थ में विशेष सहयोग सौ० विनोदिनी, शिरोमणि वन्दना और कनिष्ठ बिटिया रंजना का रहा है। ये सभी मातृभक्ति के प्रतीक बच्चे परम पिता परमात्मा की अहैतुकी कृपा के भागी हैं।साथ ही साथ आमुख में अपने ही पूर्व आश्रम नारी रत्नों पुत्री शिरोमणी गोयल तथा पुत्रवधु डॉ० कुन्तल अग्रवाल को स्मृति पथ पर लाना नहीं भूलूंगी जिन्होंने भारत मे रहते पाण्डुलिपि को टाइप कराने एव प्रकाशन का दायित्व संभाल कर मेरे श्रम को सार्थक बनाया।

हृदय के गहनतल से मैं मंगल कामना करती हूँ की उन्हें सदेव परम पिता परमात्मा की अहैतुकी कृपा प्राप्त हो।

इस विशाल ग्रन्थ का संक्षिप्त सार लिखने में यथासम्भव चेष्टा रही है कि महारामायण के महत्वपूर्ण बिन्दु छूटने न पावें, फिर भी अभाव तो रहेंगे ही - तदनिमित्त ज्ञानी विद्वानो द्वारा निर्दिष्ट सुझाव प्रार्थनीय हैं।

स्वामी विष्णु शरणानन्दा
(पूर्वाश्रम डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल)

दिसम्बर 1997
गीता जयन्ती 2016

□ **जिसमें सबकुछ है, जिसका यह सब है, जिससे यह अखिल विश्व प्रकट हुआ है, जिसके द्वारा यह सब है, उस परम सत्य की उपासना की जाती है जो सर्वस्व है।**

योग-वासिष्ठ और श्रीमद्भागवद्गीता

ज्ञान और कर्म का समन्वय एक गहन समस्या है। ज्ञान और कर्म के योग से ही जीवन के प्रत्येक कार्य में जीवन लक्ष्य तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसी रहस्य का उद्घाटन-समस्या का समाधान - इस महत्ती रचना योगवासिष्ठ के द्वारा किया गया है।

भगवान कृष्ण की अमरवाणी गीता मे भी कर्मयोग नाम से यही विषय सूत्र रूप में बताया है । मोह के कारण उलझन में पड़े हुए अर्जुन के मन में प्रश्न उठते हैं कि मै क्षत्रिय धर्म का पालन करने हेतु युद्ध करूं अथवा विरक्त होकर शान्तिपूर्वक ध्यानावस्थित हो जाऊं। इस मोहग्रस्त स्थिति मे कृष्ण उसे ज्ञान और कर्म का समन्वय बताते हुए अपना धर्मपालन करने के लिए युद्धरूप कर्म की प्रेरणा देते हैं कि विवेक पूर्ण वृत्ति से किया हुआ कर्म अकर्म हो जाता है - निष्काम भाव से अहकार रहित होकर कर्त्तव्य कर्म करना ही ज्ञानपरक कर्म है जो मोक्षदायक है। उस कर्म का बधन नही होता - फल भोगने हेतु बारम्बार जन्म नहीं लेने पड़ते। जबकि स्वार्थ के लिए अहंभाव से किए हुए कर्म बन्धन में डालकर बारम्बार जन्म मरण का कारण बनते हैं। महर्षि वसिष्ठ ने राम के मन में विरक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न जिज्ञासा के समाधान रूप में ज्ञान और कर्म की समान महत्ता कई राजऋर्षियों के दृष्टान्तों द्वारा विस्तार से समझाई है जो जप, तप, ध्यान द्वारा चित्तशुद्धि करके ज्ञान प्राप्ति के अधिकारी बने; तत्पश्चात् संसार के मिथ्यात्व को समझकर गुरुकृपा से आत्मज्ञानी हुए और फिर यथावत् सांसारिक कर्त्तव्यों के पालन में आरुढ़ हो गए।

700 श्लोकों की 18 अध्यायों में लिखी भगवद्गीता का विषय समान है। उसी समस्या को महर्षि वसिष्ठ ने पूर्ण विस्तार से अधिकार पूर्वक समझाया है - क्योंकि वह आत्मज्ञानी थे, अत अपने को ब्रह्म ही मानते थे - हम सभी ब्रह्म हैं - किन्तु आत्मज्ञान के अभाव में हम अपने ब्रह्मत्व को न पहिचान कर तुच्छ भ्रमण करते जीव ही मानते हैं। इसी कारण दुख सुख में भ्रमण करते रहते है। भागवद्गीता और योगवासिष्ठ के ज्ञान को भली प्रकार समझ कर जीवन में उतारें तो हमें भी अपने ब्रह्मस्वरूप की अनुभूति हो जाये और ब्रह्माकार वृत्ति बनकर संसार में दुख-सुख के चक्र से मुक्त हो जायं - फलस्वरूप सम्पूर्ण सृष्टि सात्विक आनन्द से परिपूर्ण प्रतीत होने लगे।

गीता में भगवान् कृष्ण ने कर्मयोग का स्वरूप समझाकर बताया है जिससे बिना आत्मा की शान्ति विचलित हुए जीवन की क्रियाशीलता चलती रहे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान और कर्म तथा त्याग और क्रियाशीलता में सामंजस्य स्थापित करने की कला सिखाई है।

योगवासिष्ठ का विषय भी यही है। संत सुतीक्ष्ण की वार्ता द्वारा मूल समस्या प्रस्तुत की गई है। वह जानना चाहता है कि केवल ज्ञान द्वारा निवृत्ति मार्ग से मोक्ष प्राप्त हो सकता है अथवा कर्म द्वारा प्रवृत्ति मार्ग से अथवा दोनों के योग से। इस पर उसे सूत्र रूप उत्तर मिलता है कि जिसप्रकार पक्षी दोनों पंखों से उड़ता है, एक से नहीं उड़ सकता, इसी प्रकार आत्मा ज्ञान और कर्म दोनों पंखों से ब्रह्म के पास पहुँच सकती है।

योगवासिष्ठ की विशाल रचना में यही समस्या और उसका समाधान अनेक रूपों में दृष्टान्तों और आख्यानों द्वारा हृदयंगम कराया गया है। गम्भीर दार्शनिक विषय आसानी से मानव बुद्धि मे नहीं बैठते, अतः नर रूपधारी भगवान राम को समझाने के लिये वासिष्ठ जी ने प्रत्येक बिन्दु को पूर्ण विस्तार देकर मनोवैज्ञानिक विधि से समझाया है। विभिन्न दृष्टिकोण से योगवासिष्ठ में एक राजकुमार शिष्य को आत्मज्ञानी ऋषि वसिष्ठ द्वारा उच्च ज्ञान देकर चेतना जागृत की गई है कि "मैं दिव्य आत्मा हूँ, और जिस कार्य के लिए ससार में आया हूँ, उसमें संलग्न होना है"

विषयानुक्रमणिका

वासिष्ठ-सुधा

थ के दरबार में मुनि वसिष्ठ जी के उपदेशों को सुनते हुए

परमगुरु महर्षि शिवानन्द जी महाराज के सानिध्य में लेखिक

स्वर्णलता अग्रवाल जून, 1960

॥ स्वामी चिदानन्द जी महाराज के चरणों में सन्यास
॥ स्वामी विष्णु शरणानन्दा (पूर्वाश्रम डॉ० स्वर्ण लता
जुलाई, 1990

लेखिका स्वामी विष्णु शरणान्दा (पूर्वाश्रम डॉ० स्वर्ण लत
महामहिम गुरुदेव स्वामी चिदानन्द जी महाराज के चरण
दीक्षा ग्रहण करते हुए।

मातृभक्त कर्मठ परिवार के साथ लेखिका

महामहिम स्वामी चिदानन्द जी महाराज परमाध्यक्ष दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश, (भारत)
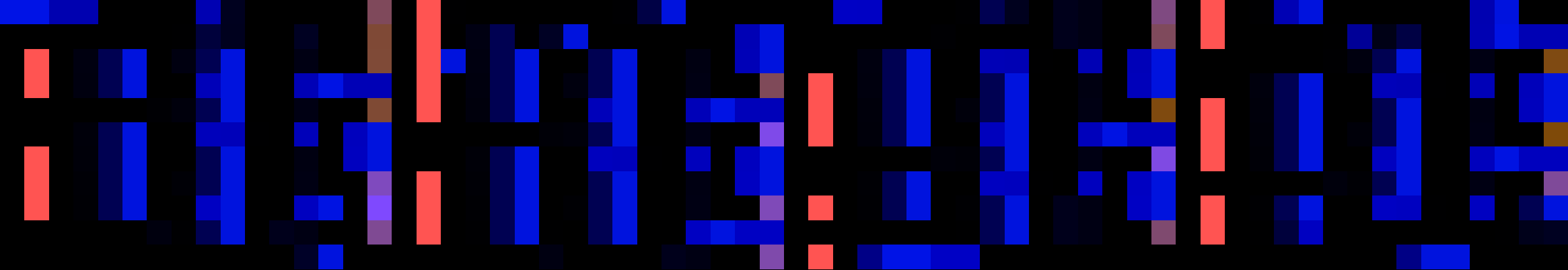
महामहिम स्वामी ज्योर्तिमयानन्दा जी अधिष्ठाता, योगा रिस

मायामी, फ्लोरिडा, अमेरिका

1
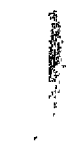
वैराग्य प्रकरण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥*

1. योगवासिष्ठ महारामायण की पृष्ठभूमि

सन्त सुतीक्ष्ण ने अगस्त्य ऋषि से पूछा, "भगवन् ! कृपया मोक्ष की समस्या पर प्रकाश डालें—कर्म और ज्ञान में कौन मोक्ष देने वाला है ?" अगस्त्य मुनि बोले कि कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं—न केवल कर्म से मोक्ष प्राप्त होता है और न ज्ञान से। पक्षी दोनों पंखों से उड़ता है। एक से नहीं।' इस सम्बन्ध में उन्होंने एक कथा सुनाई—अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य ने अपने पिता अग्निवेश्य से पूछा कि शास्त्र कहते हैं जीवन पर्यन्त शास्त्रीय विधान के अनुसार कर्म करते रहना चाहिए। उधर यह भी कहा है कि सारे कर्मों के त्याग से अमरता प्राप्त होती है। मेरे गुरु रूप पिता। बताओ मैं क्या करूँ ?

अग्निवेश्य बोले, "पुत्र ! मैं तुम्हें एक पौराणिक कथा सुनाता हूँ। उससे जो सबक मिले, वैसा ही करना।"

कथा यह है—एक सुरुचि नाम की अप्सरा हिमालय की चोटी पर बैठी थी। उसने देवराज इन्द्र के संदेश वाहक को तीव्र गति से आकाश में जाते देख कर पूछा—कहां जा रहे हो ? उसने उत्तर दिया—

"अरिष्टनेमि नामक राजर्षि अपना राज्य बेटे के सुपुर्द करके भारी तपस्या करने वन को चला गया—यह देख कर देवराज इन्द्र ने मुझे अप्सराओं की एक टोली लेकर उसे स्वर्गलोक में लाने को भेजा था। उस राजर्षि ने मुझ से पूछा—स्वर्ग जाने से क्या लाभ होगा तो मैंने बता दिया कि अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप तुम इन्द्रलोक में सुख भोगोगे। पुण्यकर्म समाप्त होने पर फिर वापिस पृथ्वी पर जन्म लेना होगा। इस पर अरिष्टनेमि ने स्वर्ग जाने से मना कर दिया।

यह सुन कर इन्द्र ने मुझे फिर भेजा कि उससे कहना—मेरा आमंत्रण ठुकराने से पूर्व वह महर्षि वाल्मीकि से राय ले ले। तब मैंने उसे वाल्मीकि जी से मिलवाया। राजर्षि ने वाल्मीकि जी से पूछा कि "भगवन् ! जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने का सर्वोपरि क्या उपाय है ?"

उत्तर में वाल्मीकि जी ने भगवान राम और वसिष्ठ जी के बीच हुआ वार्तालाप सुनाया जो योगवासिष्ठ नामक ग्रन्थ है।

वाल्मीकि जी बोले, "मैंने राम की कथा पहले लिख कर अपने प्रिय शिष्य भारद्वाज को सुनाई थी। एक बार जब वह मेरू पर्वत पर गया तो उसने वह कथा ब्रह्माजी को सुनाई। ब्रह्माजी ने उससे अति प्रसन्न होकर भारद्वाज को एक वरदान मांगने को कहा तो भारद्वाज ने यह वर मांगा कि "ऐसा उपाय सोचें जिससे समस्त मानव आत्माएं दुःख से छुटकारा पावें।"

ब्रह्माजी ने कहा कि वाल्मीकि जी के पास जाकर उनसे अनुरोध करो कि राम की सुखदकथा इस प्रकार लिखें कि श्रोतागण अज्ञान के अंधकार से मुक्त हो जाएं। यह कहकर ही सन्तोष न रखकर ब्रह्माजी स्वयं भारद्वाज के साथ मेरे आश्रम में आ पहुँचे।

मेरे द्वारा स्वागत सत्कार स्वीकार करने के पश्चात ब्रह्माजी बोले, "हे महात्मन ! तुम्हारी रामकथा मनुष्यों को संसार सागर से पार उतारने वाली नौका का काम करेगी। इसलिए उसे चालू रख कर एक सफल समाहार करो। यह कहकर सृष्टिकर्ता एकदम दृश्य से विलुप्त हो गए।

ब्रह्माजी के अनायास आदेश से चकराया हुआ सा होकर मैंने भारद्वाज से स्पष्टीकरण पूछा तो उसने उनकी बात को दोहराते हुए बताया कि ब्रह्माजी इस प्रकार आप से रामकथा लिखवाना चाहते हैं जो सब को दुख से मुक्त कर सके। मैं भी आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे बताएं राम, लक्ष्मण तथा अन्य भाइयों ने किस प्रकार दुख से मुक्ति पाई।"

तब मैंने भारद्वाज को राम-लक्ष्मण आदि भाइयों के तथा अनेक माता पिता एवं दरबार के लोगों के मोक्ष का रहस्य बताया कि किस प्रकार राम एक जीवनमुक्त सन्त की भांति रहे जिसे जानकर वृद्धावस्था और मृत्यु संबंधी भ्रान्ति दूर हो जाए।

2. महर्षि वसिष्ठ के शब्दों में मोक्ष प्रदायक ग्रन्थ महारामायण की भूमिका

हे राम ! यह मोक्ष संबंधी वार्ता सुन कर तुम और यहां एकत्रित समस्त जनसमूह उस परमसत्ता को जानोगे जिसमें न दुख है न विनाश—यह ज्ञान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने स्वयं मुझे पूर्वयुग में दर्शाया था।

हे राम ! वह सर्वशक्तिमान सत्ता सब प्राणियों में सदैव प्रकाशमान है। समुद्र में तरंग की गतिशीलता होने तक लहर की उत्पत्ति की भांति जब उस परमसत्ता में स्फुरण होता है, तब विष्णु उत्पन्न होता है। विष्णु से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा ने असंख्य प्रकार के जंगम और स्थावर सृष्टि में उपजाए और संसार प्रलय से पहले जैसा था, वैसा ही हो गया।

ब्रह्मा ने देखा सृष्टि में सारे जीव रोग, कष्ट, मृत्यु के शिकार होते हैं—करुणा से द्रवीभूत होकर उन्होंने जीव सृष्टि के लिए इस स्थिति से बचाव हेतु मार्ग खोजा। उन्होंने तीर्थ स्थान और दिव्य गुणों—तपस्या, दान, सत्य और धर्माचरण आदि खोजा, किन्तु ये सब कष्ट से बचने के अस्थायी उपाय थे—इनसे दुख से मुक्ति सम्भव नहीं थी।

इस प्रकार चिन्तन करते करते ब्रह्मा ने मुझे अस्तित्व दिया—उन्होंने मुझे अपने पास बुला कर सर्व प्रथम अज्ञानता का पर्दा मेरे मानस पर डाल दिया, जिस से मैं अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गया। मैं दुख सागर में डूबा हुआ कुछ भी करने में असमर्थ था और आलसी और निष्क्रिय बन गया। मेरी प्रार्थना पर मेरे पिता (ब्रह्मा) ने मुझे सत्य ज्ञान दर्शाया जिससे तुरन्त उन्हीं का डाला हुआ अज्ञान का पर्दा उठ गया—और तब ब्रह्मा ने मुझ से कहा, "मेरे बच्चे ! मैंने तुम्हारे ऊपर अज्ञान का पर्दा डाल कर अर्थात् प्रथम ज्ञान को ढक कर फिर तुम्हें ज्ञान दर्शाया, जिससे तुम स्वयं अनुभव द्वारा भली प्रकार अज्ञानी जीवों के दुखों को समझ कर उन्हें मदद कर सको।" हे राम ! उस ज्ञान से सम्पन्न मैं यहां हूँ और सृष्टि के अंत तक रहूँगा। इसी प्रकार प्रत्येक युग में ब्रह्मा सभी को ज्ञान से प्रकाशित करने हेतु कई सन्तों को एवं मुझे अस्तित्व में लाता है, और सब के द्वारा विभिन्न कर्तव्यों का पालन भली प्रकार होता रहे, इस लिए वह राजाओं को भी जन्म देता है जो न्यायपूर्वक कर्तव्य परायणता से पृथ्वी पर शासन करें—परन्तु ये राजा लोग शीघ्र ही शक्ति और भोगों की वांछा से दूषित हो कर आपस में लड़ने लगते हैं, जिस से क्लेश पैदा हो जाते हैं। उनकी अज्ञानता को दूर करने के लिए सन्त-महात्मा, ऋषिगण उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान देते थे। हे राम ! प्राचीन काल में राजा लोगों को यह ज्ञान मिलता था और वे उसे जीवन में उतारते थे। अतः वह राजविद्या (Kingly Wisdom) कहलाता था।

सृष्टि रचना के रहस्य पर प्रकाश डालते हुए महामुनि वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! इस

विशाल ससार का आधार ब्रह्मन् है। ब्रहान् से विष्णु भगवान माया के माध्यम से प्रकट हुए। विष्णु भगवान के हृदय स्थित कमल से चतुर्मुखी प्रजापति ब्रह्मा उद्भूत हुये। वास्तव में यह कमल ही सम्पूर्ण सृष्टि का सार है उसकी पंखड़ियां दिशाएं हैं और उसकी परिमल सुमेरु पर्वत। समस्त सृष्टि एक प्रकार से दिव्य आत्मा रूप में खिला हुआ कमल है। ब्रह्मा ने इस कमल से प्रकट हो कर जीव सृष्टि और विभिन्न पदार्थ उत्पन्न किए।

यह सोच कर कि जीवात्माएं संसार में दुख भोगेंगी—ब्रह्मा ने करुणा भाव विकसित किया और जीवन के नैतिक नियम—सत्य, दान, तप आदि योग रूप में उत्पन्न किए, जिससे विश्व प्रक्रिया रूप भवसागर को आत्माएं पार कर सकें। इसलिए ज्ञान शास्त्र की योजना बनाई और मानसिक वाछा से अपनी कल्पना का लडका उत्पन्न किया—उस लड़के ने उन्हें अपने दिव्य पिता रूप माना—जो मैं हूँ।

इस प्रकार ब्रह्मा जी की योजना के अनुसार ही इस महान् ज्ञानशास्त्र का उदय हुआ—अर्थात् सृष्टि रचयिता ब्रह्मा जी के मानस पुत्र श्री वसिष्ठ जी के हृदय में उनके पिता द्वारा निहित ज्ञान उद्भूत हुआ जो उन्होंने शिष्य रूप में विद्यमान भगवान राम को प्रदान किया और महर्षि वाल्मीकि ने ब्रह्मा जी की प्रेरणा से ही उसे अपने शिष्य भारद्वाज ऋषि के प्रति विस्तार दे कर वर्णन करते हुए लेखनी बद्ध किया।

3 योगवासिष्ठ महारामायण की विषय-सामग्री

लगभग 32000 पदों के बृहद् ग्रन्थ योगवासिष्ठ महारामायण का सूत्र रूप सारांश यह है—

यह संसार मिथ्या, माया का खेल, दृश्य मात्र है, समय और दूरी भ्रान्ति मात्र है। ये केवल मन के विचार हैं। आत्मा की अमरता के क्षणिक विचलित होने पर समय का अनन्त प्रवाह हो जाता है और अनगिनत जन्म-मरण के चक्रों के अनुभव होते रहते हैं।

शुद्ध चैतन्य ही एक सार तत्व है—जब मन में विचारो की हलचल होती है, तब पदार्थों का ससार दृष्टि आने लगता है—पदार्थों पर चिन्तन करने से हलचल होती है। अतएव यह विचार मन्थन अथवा हलचल ही जीव है, यही कारण और क्रिया है। विचारों की स्फुरणा होने पर सत्य दृष्टि नहीं आता और तब 'मैं'-'मेरा' की भावना उत्पन्न होती है—यही संसार है। संसार का दृश्यमान होना शुद्ध चैतन्य की जागृत अवस्था है, अहकार भाव स्वप्न अवस्था और चित्त सुषुप्ति।

संसार दृश्य से छुटकारा पाने का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। आत्मा का सत्य जान लेने पर मानव अपने सत्स्वरूप को पहिचानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" और "सारा विश्व भी ब्रह्म ही है।" "अनेकता में एकता देखना" वेदान्त का मूल सूत्र है शाश्वत सुख का आधार एवं दिव्य आनन्द की सृष्टि करने वाला।

ब्रह्मविद्या द्वारा मोक्ष प्राप्ति के उपाय से आत्मपद की प्राप्ति होती है। यही दुःख से छुटकारा पाने का साधन है। संसार से विरक्ति होने पर जब प्रबल जिज्ञासा मानव हृदय में उत्पन्न होती है, तभी ज्ञान का अंकुर उगता है। अतएव योगवासिष्ठ में भगवान राम के कुलगुरु वसिष्ठ मुनि ने विश्वामित्र जी के निर्देश पर दिए हुए परमोच्चज्ञान सन्निहित ग्रन्थ को "मोक्ष प्रदायक महारामायण" कहा है—और इसके **प्रथम प्रकरण को 'वैराग्य'** संज्ञा से विहित करके इसमें राम की विरक्ति दरशायी है। विरक्त मानस में बोया हुआ ज्ञान का बीज शीघ्र तथा स्थायी फल देने वाला होता है।

दूसरा प्रकरण मुमुक्षु नाम का है जिसमें साधन चतुष्ट्य (विवेक, वैराग्य, षड्गुण सम्पत्ति और मुमुक्षत्व) से सम्पन्न शिष्य की जिज्ञासा और ज्ञान प्राप्ति के लिए अपेक्षित पुरुषार्थ की महत्ता बताई गई है।

तीसरा उत्पत्ति प्रकरण है—इसमें वसिष्ठजी ने आकाशज ब्राह्मण के कथानक द्वारा आत्मा का सत्स्वरूप समझाया है—यह परम आत्मा अजन्मा, अद्वैत और सारे अस्तित्व का सार है। अज्ञानता से उत्पन्न वासना और कर्मों के कारण जीव अनेक प्रकार के दुख-सुख भोगता हुआ जन्म मरण के चक्र में पड़ता है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी उस ब्राह्मण की तरह स्वच्छ, आकाश की भाँति निर्मल उत्पन्न होता है—अज्ञानता वश देहाध्यास द्वारा कर्मों में रत होकर जन्मजन्मान्तर के शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए बारम्बार जन्म लेता रहता है—अतएव मृत्यु उसे नष्ट करने में समर्थ होती है। अज्ञानता से आवृत मन का ही विस्तार यह विश्व प्रज्ञाशक्ति (ज्ञान) द्वारा अज्ञानता पर विजय पा कर सार्वभौम चित्त से जीवात्मा का मेल होकर परमसत्ता ब्रह्म में मिल जाएगा।

तत्पश्चात् **स्थिति प्रकरण (चतुर्थ)** में दृश्य संसार की निस्सारता, ब्रह्म का स्वरूप, आत्मतत्व की महत्ता तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधनों पर प्रकाश डालते हुए वासना को ही बन्धन का कारण बताया है, वासनाक्षय द्वारा मनोनाश सम्भव है। मन, बुद्धि के शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, तभी साधक मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। प्रज्ञा द्वारा संसार की उपेक्षा करके अथवा संसार को नकारने पर आत्मा अपने सत्स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो सकती है।

पांचवा उपशम प्रकरण है। इसमें संसार के बहुमुखी स्वरूप को आत्मशान्ति में विलीन करने पर प्रकाश डाला गया है। ज्यों-ज्यों संसारजाल का मिथ्यापन हृदय में बैठता है, त्यों-त्यों सूक्ष्म वासनाएं नष्ट होती जाती हैं—फलस्वरूप शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश होकर साधक का रूपान्तर हो जाता है। इस तथ्य को वसिष्ठजी ने ज्ञान प्राप्त पुरुषों के दृष्टान्त दे कर भली प्रकार समझाते हुए जीवनमुक्त ज्ञानी का स्वरूप चित्रित किया है। विचारशीलता की रहस्यमयी शक्ति से राक्षसीवृत्ति के मनुष्यों का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है—संसार शान्ति सागर में डूब जाता है। साधक उत्तरोत्तर ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ता जाता है।

वसिष्ठजी कहते हैं, "हे राम ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध एवं क्रियाशीलता विचारणा सब कुछ इसी अनन्तचेतना की स्फुरणा के खेल हैं—और यही है जिससे तुम सब कुछ जानते हो। दृष्टा, दृश्य और दर्शन में दृष्टि यही है—जब तुम यह जान लो—वही साक्षात्कार है—ईश्वर साक्षात्कार-आत्मसाक्षात्कार। क्योंकि यह अनन्तचेतना तुम्हारी आत्मा है और आत्मा ही परम सत्ता है—उसके अतिरिक्त संसार में अन्य कुछ है ही नहीं।"

विवेक, वैराग्य, षड्गुण सम्पत्ति और मुमुक्षत्व—साधन चतुष्टय से सम्पन्न साधक जब आत्म ज्ञानी गुरु के मार्ग दर्शन में स्वाध्याय, सत्संग और ध्यान आदि पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब मोक्ष का अधिकारी बन कर जीवन मुक्त हो जाता है—यही मानव जन्म का परम लक्ष्य है।

योगवासिष्ठ मोक्षप्रदायक महान् ग्रन्थ का मूल स्वर है, "संसार की सारी सृष्टि अनन्त चेतना मात्र है, अन्य कुछ नहीं"—सारा दृश्यमान जगत मन की कल्पना है—इसमें सारतत्व उस का आधार चेतनतत्व है जो कभी नष्ट नहीं होता। जन्म-मरण-रोग आदि स्थितियां केवल शरीर की होती हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रियां भी सूक्ष्म शरीर के साथ जा कर भावी शरीर में प्रवेश पा लेती हैं।

पृथ्वी, जंगल, नदी, पर्वत, आकाश, सब अनन्तचेतना की स्फुरणा से दृश्यमान होते हैं। वही सब का यथार्थ है—उस शुद्ध चेतन में जो स्फुरणा होती है, वही रूप धारण कर लेती है। यह सार्वभौम आत्मा सब शरीरों में विद्यमान है—चलायमान शरीरों में गतिशीला, जंगम और जड पदार्थों में जड़ीभूत स्थावर—इस प्रकार ये सब सृष्टिचक्र जारी रहता है।

जब मन को विचाररूप ईधन न मिलने से अर्थात् विचार प्रवाह के रूक जाने पर संकल्प-विकल्प बद हो कर विचार नष्ट हो जाता है, तब जो स्थिति रहती है, वह अनन्त है—असीम, जो न निद्रा है, न जड़ता—उस असीमता को सीमित बनाने वाला मन का पर्दा न रहने के कारण बुद्धि की क्रियाशीलता

के अभाव में मात्र अनन्तचेतना का अस्तित्व रहता है अर्थात् ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं

अन्तिम छठा निर्वाण प्रकरण है—इसका विषय है मोक्ष। इसके 14500 पदों में आत्म ज्ञान प्राप्ति वर्णन है। यह प्रकरण दो भागो में विभाजित है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में आत्म ज्ञान प्राप्ति हेतु भूमि तैयार करने के लिए अज्ञान नष्ट करने के उपाय बताए हैं। ज्ञान प्राप्ति पर योगी अपनी मूल प्रकृति में स्थित हो कर ब्रह्म से एकरूप हो जाता है, तब वह प्रत्येक जीव और सृष्टि के पीछे ब्रह्म का दर्शन करने लगता है। इस भाग में राम आत्मपद को प्राप्त कर दिव्यानन्द की अनुभूति करते हैं।

उत्तरार्द्ध में निर्वाण के आनन्दमय दिव्य स्वरूप का दृश्य उपस्थित हुआ है—जबकि योगी में समस्त कामनाओं का अंत हो जाता है। यहां वसिष्ठ जी ने अपने समाधि के अनुभव वर्णन किए हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अन्त में वसिष्ठ जी कहते हैं—जिस प्रकार उपजाऊ भूमि में बोया बीज भली प्रकार फलीभूत होता है, उसी प्रकार योग वसिष्ठ के इन छः प्रकरणों में निहित ज्ञान हृदय की उपजाऊ भूमि में वपन करने से आत्मसाक्षात्कार रूप शाश्वत खेती उत्पन्न करेगा। जिज्ञासु के हृदय में जब इस शास्त्र का आलोक स्थिर होगा, वह स्वतः ही अंधकार को मिटा देगा। जिस प्रकार उदीयमान सूर्य रात्रि को विलीन कर देता है।

हे राम ! तुम्हारी बुद्धि शुद्ध है। इस शास्त्र में निहित ज्ञान को सुन कर तुम आत्म को अनात्म से विलग कर के अपने चित्त को प्रशान्त सागर की भांति समुज्जवल और मेघरहित आकाश की भांति विशाल बना सकोगे। तात्पर्य है कि तुम 'योगवासिष्ठ' के ज्ञान को प्राप्त करने के श्रेष्ठ अधिकारी हो।

श्री राम आत्मज्ञान प्राप्त कर के संसार के कर्तव्यों से विमुख नहीं हुए, बल्कि निरासक्त भाव से विश्व के रचयिता, स्थिति व संहारकर्ता—दिव्य आत्माओं की भांति कर्तव्यपालन के लिए तत्पर हो गए।

4. राम की विरक्ति

गुरु के आश्रम से लौटने के बाद राम कुछ दिन पिता के महल में विभिन्न प्रकार से क्रीडाओं में संलग्न रहे। उन्हें देश भ्रमण और तीर्थ यात्रा की आकांक्षा हुई—अपने पिता से जाकर निवेदन किया—शुभ मुहूर्त में यात्रा के लिए चारों भाइयों ने प्रस्थान किया। सम्पूर्ण देश का भ्रमण करने के पश्चात् लौटे। उनके तीर्थाटन से लौटने के उपलक्ष में सम्पूर्ण अयोध्या नगरी में आठ दिन तक आनन्दोत्सव मनाया गया।

कुछ दिनों राम विधिपूर्वक अपने नित्य नैमित्तिक कर्तव्यों का पालन करते रहे—फिर अनायास उनकी वृत्तियों एवं व्यवहार में परिवर्तन दृष्टि आने लगा—दशरथ जी को इससे चिन्ता होने लगी और उन्होंने पूछा—"प्रिय राम ! तुम्हारी परेशानी का क्या कारण है ?" राम से उत्तर न पाकर वह वसिष्ठ जी की ओर प्रवृत्त हुए।

वसिष्ठजी कह ही रहे थे कि बिना कारण के संसार में कुछ नहीं होता—अवश्य राम की वृत्ति परिवर्तन का कोई कारण होगा—इतने में विश्वख्याति के ऋषि विश्वामित्र के राजमहल में प्रवेश का समाचार मिलते ही दशरथ जी उन के स्वागत के लिए दौड़ पड़े। अनेक प्रकार के सम्मानपूर्ण शब्दों से उनका अभिनन्दन करते हुए बोले—मैं आप की क्या सेवा करूँ—जो भी कहेंगे मुझे स्वीकार है।

यह आश्वासन सुन कर विश्वामित्र जी अति प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने आने का उद्देश्य बताया कि यज्ञ की रक्षा हेतु उनके प्रिय पुत्र राम को ले जाना चाहते हैं। यह सुन कर दशरथ जी विह्वल हो गए, क्षण भर चुप रह कर बोले, हे ऋषि वर ! राम अभी सोलह वर्ष का भी नहीं हुआ, इस कोमल अवस्था में वह भयंकर राक्षसों का सामना कैसे कर सकता है ? राम मेरे जिगर का टुकड़ा है, मैं उससे अलग नहीं हो सकता। आप राक्षसों को मारने के लिए मेरी सारी फौज ले जाओ। परन्तु यह सुन कर विश्वामित्र जी क्रोध से भर गये—तब महर्षि वशिष्ठ ने बीच में पड़ कर राजा दशरथ को समझाया, कहा कि "अपने वचन से मुख मोड़ना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं—राजा को धार्मिक मर्यादा का आदर्श रखना चाहिए। ऋषि विश्वामित्र के संरक्षण में राम बिल्कुल सुरक्षित रहेगा—तुम निश्चिन्त रहो।"

गुरु वसिष्ठ के आदेशानुसार दशरथ ने एक दरबारी को राम को लाने हेतु आदेश दिया। सेवक गया और लौट कर कहा कि "राम आ रहे हैं, किन्तु राजकुमार उदास से हैं और उन्हें किसी का संसर्ग नहीं सुहाता।" दशरथ जी राम की मनःस्थिति एवं स्वास्थ्य का हाल पता करने को जाने लगे। दरबारी वास्तव में बहुत दुखी था, कहने लगा कि यात्रा से लौटने के बाद राम की मनःस्थिति ठीक नहीं है, न किसी वस्तु में, क्रीड़ा व मनोरंजन के साधनों में रुचि लेते हैं, न किसी की संगति में आनन्दित होते हैं। हर समय अपने आप ही चिन्तन में मग्न रहते हैं। न जाने हमारे राजकुमार को क्या हो गया है। स्वामिन् ! आप ही राजकुमार की हालत का उपयुक्त इलाज सोच सकते हैं।"

विश्वामित्र जी बोले, "यदि ऐसा है तो राम को तुरन्त यहां बुलाया जाये। उसकी स्थिति भ्रान्तिपूर्ण नहीं, बल्कि ज्ञान एवं वैराग्य से पूर्ण है और यह ज्ञान की प्रतीक है। उन्हें यहां बुलाओ। हम उन की विरक्ति पूर्ण दशा को विध्वंस कर देंगे। इस पर राजा दशरथ ने दरबारी को राम को लाने के लिए कहा, कि राम आ पहुँचे और दूर से ही अपने पिता तथा दोनों ऋषियों को देख कर अभिवादन किया। अल्पायु होते हुए भी उनका चेहरा शान्ति और प्रौढ़ता से दिप रहा था।

दशरथ जी ने पूछा, "प्रिय पुत्र। तुम उदास क्यों हो ? उदासी से अनेक प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति होती है"—दोनों ऋषियों ने भी उनकी बात का समर्थन किया। इस पर राम ने अपनी मनोदशा का यथातथ्य वर्णन किया कि किस प्रकार उन के मन में वैराग्य की उत्पत्ति हो कर सांसारिक सुख मिथ्या प्रतीत होने लगे। वह बोले कि अब अवश्य अभीष्ट शान्ति होगी, अतः कहता हूँ।

राम का वक्तव्य—

राजा दशरथ के घर में मेरा जन्म हुआ, क्रम से बड़ा हुआ—योग्य गुरु के सानिध्य में शिक्षा पाई। ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये चारों वेदों का अध्ययन किया। तदनन्तर मन में तीर्थाटन का विचार प्रस्फुटित हुआ। हृदय में आस्थारूपी बेल को एक विचार रूपी प्रवाह खींच कर ले गया। भाइयों के साथ आनन्दपूर्वक सम्पूर्ण देश का भ्रमण और तीर्थ यात्रा की। उस काल में मेरे मन में विचार आन्दोलन उत्पन्न हुआ कि संसार में कोई सुख की आशा नहीं—यहां के सारे दुख अहंभाव के कारण हैं जिसे उखाड़ फेंकना महाकठिन काम है। जिसे लोग सुख कहते हैं, वह क्या यहां के नाशवान पदार्थों से मिल सकता है ?

सारे प्राणी जन्म लेते हैं मरने के लिए, मृत्यु चाहे जब आ कर जीवन समाप्त कर देती है। संसार के सारे पदार्थ एवं परिस्थितियां परिवर्तनशील और क्षण भंगुर हैं— कमल पर जल बिन्दु के समान। इन से सुख कैसे मिल सकता है ? समस्त दृश्यमान जगत भ्रान्तिमात्र है। इसमें कोई सार नहीं है। धन दौलत क्षणिक, नाशवान और दुखों को जन्म देने वाली होती है। धन और सुख साथ नहीं रहते—कोई विरला ही धन दौलत से सुखी रहता होगा—समृद्धियां शत्रुओं को जन्म देती है।

संसार की असारता, पदार्थों का नश्वरता का विशद वर्णन कर के राम बोले कि जगत स्वप्न की भांति मिथ्या है। शरीर कृतघ्न है। मैंने इसे मन से त्याग दिया है। मुझे परम पद की इच्छा है जिसे पा कर फिर संसार समुद्र की प्राप्ति न हो। मनुष्य की आयु भी पत्ते पर पड़े जल बिन्दु के समान अनिश्चित है, समय रूपी चूहा बेरोकटोक दौड़ लगाता है—रोग शरीर की शक्ति को क्षीण करते रहते हैं। जिस प्रकार बिल्ली चूहे की गर्दन मसोसने की ताक में रहती है, ऐसे ही मृत्यु मनुष्य की आयु समाप्त करने के लिए तैयार रहती है।

बाल्यावस्था को आनन्दप्रद कहना भी भुलावा है—इस अवस्था की अज्ञानता, परावलम्बन और असमर्थता तथा युवावस्था के दोष दर्शन के पश्चात् राम जी वृद्धावस्था के दुखों का वर्णन करते हैं—वृद्धावस्था में शरीर दुर्बल पड जाता है, आधि व्याधियां घेर लेती हैं, कुरूपता और असमर्थता आदि का विस्तृत वर्णन करते हुए कहते हैं—"ऐसी स्थिति मुझे नहीं चाहिए।"

जब मन वासनाओं से परिपूर्ण हो जाता है तो अनेकों दोष उत्पन्न होने लगते हैं। वासना से गुणों का लोप हो जाता है। अज्ञानता के कारण ही यह सब होता है। अविद्या जनित संसार के दुःखों और अपने वैराग्य का वर्णन करते हुए राम ने गुरुजनों से प्रार्थना की कि वे मुझे ऐसा ज्ञान दें जिस से सदा के लिए मैं इस संसार के भय—संकट तथा दुःखों से मुक्ति पा जाऊं। अपनी शिक्षा के प्रकाश से मेरे हृदय का अन्धकार नष्ट करें। यह संसार निश्चय ही दुःखों का सागर है। वह रहस्य क्या है जिससे यह मन संसार के रूप में प्रकट हो गया है।

संसार में भोग रूपी अग्नि में सब जलते हैं। काम, क्रोध और दुराचरण से शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं। संसार रूपी वन में भोग रूप सर्प रहते हैं—सारी क्रियाएं राग द्वेष से मिली हुई हैं।

मुनिवर ! ऐसा उपाय बतावें जो राग द्वेष का हृदय में प्रवेश न हो। मन रूपी सत्ता दूर हो जाए—वह युक्ति बतावें। जिस प्रकार आपके अन्तःकरण में शीतलता हुई, वह कहिए एवं अन्य कौन वीर पुरुष हैं जो ज्ञान प्राप्त करके, इस भ्रम जाल से मुक्त हो गए और अपने कर्त्तव्य कर्मों में लग गए।

यदि युक्ति नहीं मिली तो मैं सब कुछ त्याग कर रहूंगा—और जब तक युक्ति प्राप्त न हो, भोजन-जलपान, स्नान आदि क्रियाएं त्याग कर निरहंकार हो कर रहूंगा—यह न मेरी देह है, न मैं देह हूँ—सब त्याग कर बैठा रहूंगा। तेल बिना दीपक की भांति यह देह निर्वाण को प्राप्त हो जाएगा।

इतना कह कर राम चुप हो गए।

भगवान का इस प्रकार अत्यन्त ज्ञानपरक रोमांचकारी वक्तव्य सुन कर ऋषि-महर्षि, सन्त-समाज, राजा दशरथ एवं राज दरबार का सारा उपस्थित जनमण्डल स्तम्भित हुआ जयजयकार करने लगा। स्वर्गीय देव गन्धर्व आदि सब ने सुना और आकाश से भी पुष्प वर्षा होने लगी। सम्पूर्ण वायु मण्डल हर्ष ध्वनि से गूंज उठा।

विश्वामित्र जी बोले, "हे राजन् ! तुम धन्य हो जो तुम्हारा पुत्र विवेक और वैराग्य को प्राप्त हुआ है। हम तुम्हारे पुत्र को परम पद प्राप्त करायेंगे और अभी उन के सब दुःख मिट जाएँगे। हम और वसिष्ठ जी एक युक्ति से उपदेश करेंगे, उससे उन्हें आत्मपद की प्राप्ति होगी।"

राम की वार्ता सुनते हुए सभी इस भावना से भर गए कि सचमुच स्वर्ग तक में सुख नहीं है।

सभा में उपस्थित ऋषि मण्डल बोला—"निश्चय ही राम के प्रश्नों के उत्तर, जो परम ज्ञानी जन देने वाले हैं—ब्रह्माण्ड के सभी प्राणियों के सुनने योग्य होंगे। उन्होंने सभी संत जनों का आह्वान किया कि हम सब दशरथ के दरबार में उपस्थित हो कर महर्षि वसिष्ठ के उत्तर सुनें।"

वाल्मीकि जी कहते हैं, यह सुन कर समस्त ऋषिगण शीघ्रता से राजा दशरथ के दरबार मे आ पहुँचे—समुचित स्वागत पूर्वक उन्हें बिठाया गया। वे सोचने लगे कि यदि राम को दिया हुआ उच्च ज्ञान हमारे हृदय में प्रतिबिम्बित नही होता है तो निश्चय ही हम घाटे में रहेंगे।

5. गुरु और शास्त्र की महत्ता—(शुक के कथानक द्वारा)

गुरु और शास्त्र की महत्ता बताने के लिए विश्वामित्र जी ने शुक्र का कथानक सुनाया। केवल स्वयं पढ़ा—सुना ज्ञान यथार्थ एवं परिपक्व नहीं होता।

राम स्वयं ज्ञानी थे—वैराग्य की उत्पत्ति हो चुकी थी—उनके वक्तव्य से हृदय मे संसार की क्षण भंगुरता का आभास मिल रहा था किन्तु उन विचारों में—ज्ञान के प्रकाश में दृढ़ता और स्थिरता लाने हेतु गुरु मुख से ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक था—श्री वसिष्ठ जी राम के गुरु थे ही—और परम ज्ञानी भी—उनके जैसा अन्य गुरु कौन मिलता।

अतएव ऋषि विश्वामित्र ने शुक की कथा सुना कर वसिष्ठ जी को निवेदन किया कि राम के हृदय में अंकुरित ज्ञान की परिपक्वता हेतु वह उन्हें उच्चातिउच्च ज्ञान प्रदान करें। मानव मात्र को इस आत्म ज्ञान की आवश्यकता है—राजदरबार में उपस्थित समस्त जनमण्डल को उससे लाभ होगा—आत्मज्ञान इस दुखमय संसार से पार उतारने के लिए नौका का काम करेगा।

शुक की कथा इस प्रकार है—महर्षि व्यास के पुत्र शुकदेव ने प्रचुर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था, परन्तु उसे संतोष नहीं था। संसार की क्षणभंगुरता पर बहुत चिन्तन करने के बाद वह अपने परम ज्ञानी पिता महर्षि व्यास के पास गया और पूछा—"पिता जी ! संसार में यह विविधता कैसे आई, और इसका अन्त किस प्रकार होगा ?"

वेदव्यास जी ने इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक उत्तर दिया, किन्तु शुकदेव ने सोचा "यह सब तो मैं जानता हूँ, इस में क्या नई बात है।" वेदव्यास समझ गए, बोले, "पुत्र ! मैं तो इससे अधिक नही जानता परन्तु इस पृथ्वी पर एक राजर्षि हैं, जो इससे अधिक जानते हैं, तुम उन के पास चले जाओ।" वह राजर्षि थे राजा जनक। अतः महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुक को ज्ञान प्राप्ति के लिए राजा जनक के पास भेजा।

शुक राजा जनक के महल में पहुँच गया। महल के पहरेदारों द्वारा सूचना मिलने पर राजा जनक ने एक सप्ताह तक उपेक्षा की, शुक धैर्यपूर्वक बाहर बैठा प्रतीक्षा करता रहा।

दूसरे सप्ताह जनक ने उस को महल में प्रवेश कराया और नृत्य संगीतज्ञों को उसके मनोरंजन हेतु उपस्थित कर दिया। इस सब का भी शुक पर कोई प्रभाव नहीं हुआ फिर उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया।

जनक बोले, "तुम सत्य को जानते हो, मै तुम्हें और क्या बताऊं ? शुक ने वही प्रश्न किए जो अपने पिता से पूछे थे। जनक ने भी वही उत्तर दिया जो उस के पिता ने दिया था। शुक बोला, "यह मैं जानता था, मेरे पिता ने मुझे यही बताया, शास्त्र इसी का समर्थन करते हैं और अब आप भी सत्य घोषित करते हैं, जो यह है कि यह विविधता मानसिक संकल्पों के कारण दृश्यमान है और उन के रुकने पर यह भी समाप्त हो जाएगी।" जनक जी बोले। आत्म तत्त्व नित्य शुद्ध परमानन्द स्वरूप केवल चैतन्य है, जब तुम उसका अभ्यास करोगे तब विश्राम पाओगे।"

इस प्रकार जब उसका आत्म-ज्ञान परिपक्व हो गया तो शुक को शान्ति प्राप्त हो गयी और वह निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया। निःसंग, निर्भय होकर सुमेरुपर्वत की कन्दरा में जाकर दस सहस्र वर्ष समाधि की और ब्रह्मपद को प्राप्त हो गया

तत्पश्चात् विश्वामित्र जी ने उपस्थित ऋषि मण्डल को सम्बोधित करते हुए कहा शुक

की भांति राम ने भी सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर लिया है। सर्वोच्च ज्ञान प्राप्ति की पहिचान यह है कि वह सांसारिक भोगों से आकर्षित न होवे, क्योंकि उस में सूक्ष्म वृत्तियां नष्ट हो चुकी हैं। यथार्थ मुक्त सन्त वह है जो स्वभाव से ही इन्द्रिय विषयों की ओर प्रेरित नहीं होता। अतः मैं अनुरोध करता हूँ कि ऋषि वसिष्ठ राम को ऐसा उपदेश दें कि वह अपने ज्ञान में दृढ हो जायें और हम सब को भी प्रेरणा मिले। वह उपदेश सर्वोत्तम ज्ञान होगा, सर्वश्रेष्ठ शास्त्र, क्योंकि यह एक अनासक्त अधिकारी शिष्य को परम ज्ञानी गुरु द्वारा दिया हुआ ज्ञान होगा। राजा दशरथ को सम्बोधित करके बोले—"वसिष्ठ जी की युक्ति से ये शान्त होंगे," दशरथ जी ने इस बात का समर्थन किया।

इस पर वसिष्ठ जी बोले, "हे राम, मैं तुम्हें वह ज्ञान दूंगा जो दिव्य सृष्टि रचयिता स्वयं ब्रह्मा ने दिया था। वह मुझे अखण्ड स्मरण है—मैं वही उपदेश करूंगा जिससे तुम निःसंशय (संशय रहित) होंगे।"

अतएव, राम के हृदय में उत्पन्न ज्ञान को उन्हीं के द्वारा व्यक्त करवा कर मानों गुरु मुख से पुष्टि कराने हेतु महर्षि ने कथाओं के भीतर कथाएं (अन्तर्कथाएं) चित्रित करके सुन्दर शैली में राम को उपदेश देने के रूप में जीवन के सत्य का दर्शन कराया है।

---

* ॐ बृह्मा का सर्वोपरि नाम है, अद : ब्रह्म के लिए और इदम् ब्रह्माण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है। वह (ब्रह्म) भी पूर्ण है, यह (जगत) भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है। (जिस प्रकार समुद्र से करोड़ों जल बिन्दु ले लेने पर भी समुद्र पूर्ण रहता है)।

☐ योगवासिष्ठ ज्ञान रूपी घृत में तपाकर भक्ति रूपी शहद में पकी है।

—श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस

☐ शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

—श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस

2

मुमुक्षु प्रकरण

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
रजस्तमोभ्यामभिभूतं मनः बन्धाय कल्पते ॥*

1. मुमुक्षु के लक्षण

वेदान्त के प्रवर्तक आदि शंकराचार्य ने लिखा है—

"दुर्लभं हित्रयमेतद् देवानुग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महा पुरुष संश्रयः॥"

अर्थात् भगवान की कृपा प्राप्त कराने वाली ये तीन बातें मिलना दुर्लभ है—मनुष्य जीवन, मोक्ष की कामना और महापुरुषों का सत्संग (आश्रय)।

जीवात्मा इस संसार चक्र में अपने कर्म और संस्कारों के अनुसार विभिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई शुभ कर्मो के फलस्वरूप मानव जन्म प्राप्त करती है। मानव विवेक बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसमें ब्रह्म प्राप्ति हेतु साधना करने की क्षमता है, परन्तु सामान्य मनुष्य का चित्त अज्ञान से आवृत्त होने के कारण इंद्रिय विषयों में रमण करता हुआ व्यर्थ जीवन गंवा देता है और शुभ अशुभ कर्मो के फल भोगने के लिए बारम्बार जन्म मरण के चक्र में फंसा दुख भोगता रहता है। क्योंकि सासारिक विषयों—धन सम्पत्ति और सन्तान आदि से मिलने वाली सुख सुविधाएं भी क्षणिक, परिवर्तनशील और नाशवान होती हैं। सच्चा सुख शाश्वत आनन्द (ब्लिस) तो अपने सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके ही मिलता है—जिसे पाकर आत्मा अपने स्रोत ब्रह्म में लीन हो जाती है—जिसे मोक्ष कहते हैं। उस परम सत्ता को प्राप्त करके पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।

पूर्व जन्मों में शुभ कर्म करके आई हुई कुछ आत्माएं इस जन्म में मानव जन्म पाकर ज्ञानी संतों के संसर्ग में आने पर ब्रह्म प्राप्ति की ओर उन्मुख होती हैं—उन्हें एहसास होता है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य सत्य को पाना है।

महर्षि वासिष्ठ ने योगवसिष्ठ में अनेक ऐसे ज्ञानी पुरुषों के कथानक दिए हैं जिन्होंने सत्संग, स्वाध्याय और ध्यान आदि आध्यात्मिक पुरुषार्थ द्वारा अपने सत् स्वरूप की प्राप्ति कर के मोक्ष के अधिकारी बन गए।

जिस प्रकार पौधे लगाने अथवा खेती करने के लिए सर्वप्रथम भूमि तैयार करनी पड़ती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्ति हेतु मानव की मनोभूमि तैयार होना आवश्यक है। अतएव गुरु वसिष्ठ अपने शिष्य रूप राम से कहते हैं, हे राम ! तुम इन्द्रिय संयम, मनोनाश तितिक्षा आदि सारे गुणों से सम्पन्न हो जो मोक्ष प्राप्ति के जिज्ञासु-मुमुक्षु-में होने चाहिए। तुम सभी दिव्य गुणों के स्रोत हो। जिन से मुमुक्षु की मनोभूमि ब्रह्मज्ञान ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करती है।

प्रकृति की निर्मलता, विचारों की स्वच्छता, जीवन की शुचिता और आचरण की पवित्रता

मुमुक्षु की प्राथमिक अपेक्षाएं हैं। विभिन्न तपस्याओं द्वारा निष्पाप होना एवं सब प्रकार की एहिक आसक्ति से रहित होना भी नितान्त आवश्यक है।

साधक की विभिन्न योग्यताओं को एक सूत्र में बांध कर उसे 'साधन चतुष्ट्य' कहा गया है। साधन चतुष्ट्य से सम्पन्न साधक श्रोत्रिय[1] और ब्रह्मनिष्ठ[2] गुरु के चरणों में बैठ कर ब्रह्मज्ञान पाने का अधिकारी होता है।

साधन चतुष्ट्य का प्रथम अंग है विवेक—पूर्व जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप अथवा जीवन में कोई दुख की परिस्थिति उत्पन्न होने पर चिन्तनशीलता द्वारा संसार की नश्वरता और शाश्वत सत्य में भेद समझने की क्षमता उत्पन्न होती है अथवा ज्ञानी पुरुषों तथा शास्त्रों के सत्संग से विवेक उत्पन्न होता है। विवेक जागृत होने पर जगत और उसके पदार्थों के प्रति विरक्ति-उपेक्षाभाव होने लगता है—यह वैराग्य साधन चतुष्ट्य का दूसरा अंग है। संसारी जीवन से विरक्ति होने पर ही परम सत्ता के लिए भक्ति विकसित होती है—इस प्रकार वैराग्य को ब्रह्म लोक में प्रवेश का द्वार कहा गया है। तीसरी आवश्यकता षड्गुण सम्पत्ति अर्थात् आन्तरिक गुणों-देवी सम्पदा-से सम्पन्न होना। शम (चित्त की शान्ति), दम (आत्मसंयम), तितिक्षा (दुखसुख, गर्मी-सर्दी,निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति), उपरति (सांसारिकता संबंधी प्रवृत्तियां से विरत होना), श्रद्धा (गुरु शास्त्र और भगवान में दृढ़ विश्वास—तथा अपनी शुद्ध अन्तर्चेतना) की आवाज में विश्वास), अन्तिम है चित्त का समाधान-ईश्वर प्राप्ति के ही लक्ष्य पर स्थित रहना—ईश्वर प्रणिधान। इन समस्त दैवी गुणों की सम्पदा से सम्पन्न होने पर साधक में ब्रह्मज्ञान की, मोक्ष प्राप्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसे मुमुक्षत्व कहा है।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न साधक में चित्त शुद्धि के आधार पर प्रबल मुमुक्षत्व जागृत होता है तब वह आत्म ज्ञानी गुरु के चरणों में बैठ कर ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी बनता है। चित्त की शुद्धि और बुद्धि की कुशाग्रता से साधना के लक्ष्य को समझना नितान्त आवश्यक है—जीव, जगत और परम सत्ता के तथ्य को समझ कर आत्मा का परमात्मा में बिलीन हो जाने की प्रबल आकांक्षा जागृत होगी—उसके लिए मुमुक्षु मे सब प्राणियो के प्रति समान प्रेम, सब के हित की कामना (सर्वभूत हितेरता) पूर्ण निस्वार्थ भाव, सत्यनिष्ठा एवं इंद्रिय संयम आदि गुण आवश्यक हैं।

षड्गुण सम्पत्ति में वर्णित गुणों में प्रतिष्ठित होने पर अन्य गुण स्वतः विकसित होने लगते हैं और शान्ति, संतोष, क्षमा, धैर्य और निष्काम भाव आदि दिव्य गुणों से विभूषित साधक योग्य गुरु की शरण में जाकर शीघ्र ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर बढ़ता हुआ मानव जन्म के परम लक्ष्य की परम सत्ता से एकरूपता प्राप्त कर लेता है।

गुरु केवल इन साधकों को अध्यात्म विद्या सिखाता है जिन्हें मोक्ष की पिपासा है, जिन्होने वासनाओं को जीत लिया है और जो विश्व प्रेम सहिष्णुता, नम्रता, निर्भयता और धैर्य आदि दैवी गुणों से युक्त हैं।

स्वामी शिवानन्द ने कहा है—साधक को सुमेरु पर्वत की भांति सुदृढ़ (दृढ़ निश्चयवान्), वायु मण्डल की तरह मुक्त, आकाश की तरह विशाल, धरती की तरह सहिष्णु, माता-पिता की भांति क्षमाशील और सिंह की भांति निर्भय रहना चाहिए।[3]

1, 2. श्रोत्रिय-वेदों-उपनिषदों आदि का अध्ययन कर लिया हो। ब्रह्मनिष्ठ-जिसने ब्रह्म की स्वय अनुभूति कर ली हो। (सेल्फ रियलाइज्ड)-ये गुरु की शास्त्रविहित योग्यताए हैं।

—श्री स्वामी कृष्णानन्द

3 विद्या (सैल्फ नौलेज का हिन्दी अनुवाद), पृ० 67

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! तुम सारे दिव्य गुणों के स्रोत हो। मुमुक्षु को विभूषित करने वाले सभी परमोच्च गुणों से सम्पन्न तुम जीवन की विपदाओं को संतुलित मानस से सहन करते हो। तुम्हारा हृदय सारे दोषों से रहित होने के कारण तुम बादलों रहित शरद ऋतु के आकाश के समान स्वच्छ हो। तुम्हारी बुद्धि सूक्ष्म और विवेक से पूर्ण है। तुम तो मानो मोक्ष के द्वार पर पहुचे हुए ही हो। जिनमें ये गुण हैं, निश्चय ही वे मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं।

चित जब शुद्ध होता है तो उसमें एक वस्तु पर चित्त स्थिर करने की क्षमता हो जाती है और वह उससे एक रूप हो जाता है। अतः ब्रह्म-साक्षात्कार की योग्यता के लिए चित्तशुद्धि सर्वाधिक अपेक्षित है जो उपर्वर्णित दैवी गुणों से प्राप्त होती है।

इस स्थिति में पहुँचने पर वसिष्ठ जी कहते हैं, इस लोक या परलोक में कुछ भी नहीं रहेगा जो तुम उपलब्ध न कर सको। अतः हे राम ! अपनी बुद्धि को समस्त दोषों से मुक्त करने की साधना करो।

मुमुक्षु साधक के और लक्षण हैं—निरंहकारिता, विचारशीलता, आत्म समर्पण, हर स्थिति में मन का संतुलन तथा सांसारिक कामनाओं से विमुखता। वस्तुतः साधन चतुष्ट्य से सम्पन्न योगी मे बिना प्रयास के अन्य सारी योग्यताएं विकसित होती जाती हैं। इसके लिए विशेष प्रयत्न नही करना पड़ता—हां दैवी सम्पदा से सत्य के मार्ग से विचलित न होने पावे, यह सतत चेतना जागृत रखनी होती है।

महर्षि पातंजलि के अनुसार तप, स्वाध्याय, मन्त्रजप, भगवद्‌भक्ति और ईश्वर प्रणिधान-इस क्रिया योग से समाधि में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है—इस योग में अनुशासन मुख्य है—इससे चित्त शुद्धि होती है और अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश रूप पंच क्लेश दूर होते हैं।[1] शुद्ध और निस्वार्थ पुरुष ही सत्य का प्रकाश पाने और अमरत्व का अधिकारी होता है।

निस्वार्थ सेवा अथवा निष्काम कर्म योग के द्वारा चित्त शुद्धि किए बिना वेदान्त का तात्विक ज्ञान हृदय में प्रवेश नहीं कर सकता। स्वार्थी मनुष्य के भीतर अत्यन्त आसक्ति और अपना परायेपन-का भाव होता है—वह योग के लिए आवश्यक गुणों को विकसित नहीं कर सकता। स्वार्थ मनुष्य के हृदय को संकुचित कर देता है—स्वार्थ ही पाप कर्मो की ओर प्रेरित करता है—ऐसे धार्मिक व्यक्ति में योग साधन की क्षमता कदापि नहीं हो सकती।

साधना चतुष्ट्य के सब अंगों का लक्ष्य है कि यथार्थ सत्य अथवा अन्तर्चेतना के विमुख हो जाने वाली प्रवृत्तियों को नष्ट करे। जब तक निम्न प्रकृति का लेश भी शेष रहेगा, तब तक उच्च प्रकृति पूरी तरह प्राप्त की हुई नहीं मानी जा सकती।

मुमुक्षु का जीवन पूर्णतया विवेक—विचार से सम्पन्न होना चाहिए जो शुद्ध चैतन्य की ज्योति से प्रदीप्त हो, अर्थात् साधक में ऐसी विवेक-विचार की शक्ति हो जो चित्त शुद्धि द्वारा आलोकित अन्तर्ज्योति से सम्पन्न हो और उसमें किंचित् भी कमी न रहे, जिससे वह अपने हृदय के अन्तर्तम ज्ञान और अनुभव को खोज सके, जो उसकी अपनी ही सत्ता का सत्य है।[2]

मनुष्य के अन्तर्मन में इच्छा आकांक्षाओं और अदम्य उत्साह के साथ क्या क्या विषैले दुर्दमनीय तत्व काम करते हैं, उन्हें पहिचानना अति कठिन है। प्रायः साधक की अन्तर्चेतना उस

---

1 राजयोग सूत्र (महर्षि पतंजलि)

२ (श्री स्वामी कृष्णानन्द) द आफ दी एबसोल्यूट

विवेकहीन अहंकार के साथ मिल कर एक रूप हो जाती है—ऐसी अवस्था में विवेक असफल हो जाता है। साधना काल में अत्यन्त सावधानी पूर्वक इस प्रकार की दुर्बलताओं के प्रति सतर्क रहना आवश्यक है।

साधन चतुष्टय के अभ्यास द्वारा इस सत्ता की खोज में योग न देने वाले समस्त विचार ओर क्रियाओं को त्याग देना चाहिए। सारी साधना का मूल 'विवेक विचार' अत्यधिक शक्तिवान, शुद्धिकारक और अन्तर्ज्योति को प्रकाशित करने वाला आध्यात्मिक सत्य जैसा है। यह (विवेक) साधक को ज्ञान समझने-हृदयंगम करने-में योग देता है।

बुद्धि की कुशाग्रता के बिना किसी कार्य की महत्ता नहीं—बुद्धि का प्रकाश जागृत होते ही तुरन्त निम्न प्रकृति का उच्च प्रकृति में रूपान्तर होने लगता है।

अन्त में गुरु वसिष्ठ अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कहते है, जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य, धैर्य, वीरता और वैराग्य वृत्ति से सम्पन्न है, उसके लिए कुछ भी उपलब्धि असम्भव नहीं है। हे राम ! क्योंकि तुम परमोच्च गुणों से युक्त हो पूर्णतया आत्म स्थित होने तक तुम सत्व की वृद्धि करते रहो, तब तुम मोक्ष प्राप्त करके अनन्त सुख भोगोगे।

2. भाग्य और पुरुषार्थ

ज्ञान प्राप्ति के तीन आधार हैं—शास्त्रज्ञान, गुरुकृपा और आत्मकृपा (पुरुपार्थ)। इनमें वसिष्ठ जी ने आत्म कृपा अर्थात् पुरुषार्थ को सर्वोपरि आधार बताया है। मन में ज्ञान की आकांक्षा होने पर मनुष्य स्वाध्याय द्वारा शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा और गुरु की खोज करता है और सत्प्रेरणा जागृत होने पर गुरु मिल जाता है जिसके मार्गदर्शन में आत्म ज्ञान हेतु साधना में तत्पर होता है। स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मानस से पुरुषार्थ होता है। पुरुषार्थ के तीन आधार हैं, अतः तीन ही फल होते हैं—सर्व प्रथम आन्तरिक चेतना जागृत होना—अर्थात् बुद्धि में ज्ञान की स्फुरणा होना, मन मे सकल्प बनाना और तदनुसार शरीर और मन से चेष्टा करना।

पूर्व जन्मों के मलिन संस्कारों को भी श्रेष्ठ पुरुष अपने पुरुषार्थ से क्षीण कर के शुद्ध कर लेता है। सत् शास्त्रों और ज्ञानी पुरुषों के वचनों के अनुसार दृढ़ पुरुषार्थ के द्वारा मलिन संस्कार नष्ट होकर शुभ संस्कार बनने लगते हैं। यदि चित्त विषयों की ओर जावे तो समझो कि पूर्व संस्कार मलिन हैं—और यदि चित्त में शुभ कर्मों की भावना उदय हो—जीवों के प्रति प्रेम सेवा एव ईश्वरोन्मुख वृत्तियां बनें और संसार के प्रति विरक्ति हो तो समझो पूर्व संस्कार शुभ हैं। अतएव साधक को चाहिए कि आत्म चिन्तन, स्वाध्याय तथा गहन ध्यान के अभ्यास द्वारा शुभ संस्कार अर्जित करे जिससे भविष्य में आत्म साक्षात्कार के लिए मार्ग प्रशस्त हो जो मानव जन्म का परम लक्ष्य है।

जिसकी वृत्ति संसार सुख की ओर हो, उसे कर्मयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकता है—अर्थात् समस्त सृष्टि को ब्रह्म रूप देखते हुए निष्काम भाव से सेवा कृत्य करो....और जिन में संसार के प्रति विरक्ति हो वे ज्ञानयोग द्वारा ही सीधे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

उपनिषदों का कथन है कि—वह परम सत्ता ब्रह्म सारी शक्तियों से बड़ी शक्ति है। उस की इच्छा के बिना अग्नि जल नहीं सकती, एक पत्ता हिल नहीं सकता। देवता तक सारे कृत्य उसकी शक्ति से करते हैं। वह असीम ज्ञान का भण्डार है—और करुणा का सागर भी। जिस पर चाहे अपनी कृपा की वर्षा कर सकता है,—उसी की कृपा से उसे प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि वह चाहे जिस पर कृपा बरसाता हो और किसी की भावनाओं व आकाक्षाओं की परवाह न करता हो

परमात्मा सब पर दया दृष्टि रखता है। जो भी उस की शरण में जावे, उसके प्रति भाव रक्खे किसी भी श्रेणी का हो, उसका कृपा पात्र बन सकता है। यदि वह विनीत भाव से अहरहित हो कर उसका स्मरण करे, मनुष्य के अपने भक्ति भाव और साधना के फल स्वरूप प्रभु कृपा प्राप्त होती है। अपने ही भावपूर्वक श्रम साधना के अनुसार भाग्य बनता है और उसके अनुसार कृपा प्राप्त हो कर जीवन में सब प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। इसी तथ्य को योग वासिष्ठ में वसिष्ठ जी ने कई दृष्टान्तों द्वारा भगवान राम को समझाया है।

राम ने पूछा—यह स्पष्ट है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का कोई अस्तित्व नहीं है, फिर ये ऋषि मुनि और ज्ञानी पुरुष संसार में क्यों हैं, मानो परमात्मा के द्वारा यह निर्धारित है और परमात्मा क्या है ? तब वसिष्ठ जी संसार का रहस्य समझाते हैं—

हे राम ! अनन्त सत्ता की शक्ति है—चित् शक्ति, जो सतत् चलायमान रहती है—समस्त होने वाली घटनाओं का सत्य वही है, क्योंकि वह प्रत्येक युग में समायी रहती है। ब्रह्माण्ड में सारे पदार्थों की प्रकृति इसी से निर्धारित होती है, इस चित्त शक्ति के कई नाम हैं। महासत्ता, महाशक्ति महादृष्टि, महाक्रिया, महाभाव और महास्पन्द। इस शक्ति में विशिष्ठ गुण हैं—परन्तु यह शक्ति परम ब्रह्म से भिन्न नहीं है—यह उसी की शक्ति है जिसे सन्तों ने विभिन्न नाम दिए हैं। इसका भेद केवल मौखिक है। जैसे देह के विभिन्न अंगों को नाम दिए हुए हैं। असीम सत्ता इसकी अन्तर शक्ति को जानती है, जिसे **नियति** कहते हैं और इसी को दैव नाम से जाना जाता है।

इस नियति को टाला नहीं जा सकता—"होनहार होकर रहता है"—यह प्रचलित उक्ति अटल सत्य है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि होनहार की प्रतीक्षा में पुरुषार्थ-उद्योग करना बन्द कर दो क्योंकि यह नियति मनुष्य के अपने पुरुषार्थ के फलस्वरूप बनती है। लीला की कहानी में देवी सरस्वती ने लीला के प्रश्न के उत्तर में कहा है—"मैं तो केवल मनुष्य की बुद्धि को प्रकाशमान करती हूँ, मनुष्य के अपने कर्मों के अनुसार उसे फल मिलता है। मैं तो प्रत्येक जीव की बुद्धि की अधिष्ठातृ देवी हूँ। जीवों की अन्तर्शक्ति जो रूप लेती है, वही कालान्तर में फलीभूत हो जाती है। तुम ने मोक्ष चाहा था, सो मिल गया। यह समझो कि तुम्हारी अपनी तपस्या का फल है—परन्तु वह अनन्त चेतना का ही दिया हुआ फल है।"

मुनि वसिष्ठ ने पुरुषार्थ की महिमा गान करते हुए कहा है—हे राम ! जीवन के हर क्षेत्र में विवेकशीलता से योजनाबद्ध किए पुरुषार्थ से सफलता मिलती है—इसके विपरीत पुरुषार्थ के अभाव में असफलताएं सहन करनी होती हैं। मन, वाणी और शरीर द्वारा सही रूप में किए हुए प्रयत्नों से मानस से अज्ञानता एवं दोषों के अंधकार को दूर कर के आध्यात्मिक प्रकाश रूप चन्द्रमा उदय होता है—जो यथार्थ सुख एवं आनन्द का विधायक है।

भाग्य पर निर्भर रहना दुर्बल इच्छाशक्ति का प्रतीक है और मन को विक्षिप्त कर देता है। शास्त्रविहित सतत् पुरुषार्थ द्वारा चित्त का मल दूर हो कर दैवी गुणों का विकास होता है और चित्त शुद्धि द्वारा आत्मसाक्षात्कार के लिए मार्ग प्रशस्त होता जाता है। संसार में सब प्रकार का विकास और समृद्धियां समय, दूरी तथा साधनों के आधार पर होती हैं—मनुष्य के अपने प्रयत्नों की सार्थकता के लिए अपने अन्तर्निहित दिव्यत्व को जागृत कर के सदैव प्रयत्नशील बने रहना चाहिए।

वसिष्ठ जी कहते हैं कि सृष्टि भर में पुरुषार्थ के बल से ही सारी महिमा छाई हुई है—पुरुषार्थ के फलस्वरूप आत्मा को इन्द्र पद प्राप्त हुआ जो तीन लोक का स्वामी बना—मस्तक पर चन्द्रमाधारी शिव ने भी इतनी महानता प्राप्त की—एक आत्मा विष्णुपद प्राप्त कर सृष्टि के पालक बने—यह सब पुरुषार्थ का ही फल है

पुरुषार्थ के दो पक्ष हैं—एक पूर्व जन्म में की हुई साधना दूसरी इस जन्म की इन में

वर्तमान साधना में अत्यधिक शक्ति होती है जो पूर्व जन्म के दुष्प्रभावों को भी नष्ट कर सकती है

जो लोग तितिक्षा तथा ज्ञान से सम्पन्न हैं और निरन्तर शास्त्रानुकूल साधना में रत रहते हैं वे पूर्ण सफलता के अधिकारी होते हैं और जो दुर्बल इच्छा शक्ति वाले हैं और शास्त्र विधि के अनुरूप पुरुषार्थ नहीं करते, उसका परिणाम शुभ नहीं होता।

मनुष्य में तीन रूपों में पुरुषार्थ प्रकट होता है—संवित्त स्पन्द (चित शक्ति में स्पन्द), मनःस्पन्द तथा इंद्रिय स्पन्द। चितशक्ति का स्पन्दन आत्म ज्ञान मनुष्य को आत्मज्ञान एवं शुभ कर्मों की प्रेरणा देता है। मनःस्पन्द का आधार भी अन्तःकरण का स्पन्दन है। जब मन एक विशेष रूप में चलायमान होता है, तब इन्द्रियां क्रियाशील हो जाती हैं। इस प्रकार मनःस्पन्दन इंद्रिय स्पन्दन का कारण बन जाता है और इन्द्रिय स्पन्दन से शारीरिक रूप से विभिन्न प्रवृत्तियां होने लगती हैं।

मूढ़ जन जो भाग्य भरोसे बैठे रह कर उद्योग नहीं करते, वे आत्मघाती होते हैं। परन्तु ज्ञानी जन अपने प्रयत्नों द्वारा मन वांछित सफलता प्राप्त कर जीवन लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

भगवान की इच्छा सदैव व्यक्ति के प्रारब्ध कर्मों के अनुसार होती है। पुरुषार्थ अर्थात् सत्संग, स्वाध्याय एवं जप तप से ईश कृपा प्राप्त होती है और ईश कृपा से साधन प्रक्रिया को पूर्णता मिलती है। अतः आत्मा रूप परमात्मा की कृपा बिना आधार के नहीं बरसती—कृपा पात्र होना आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर किये हुए प्रयत्नों की सच्चाई का प्रतीक है।

हे राम ! भगवतकृपा एवं ईश्वरीय वरदान प्राप्ति पुरुषार्थ रूपी वृक्ष के पुष्प और फल हैं। प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा वही है जो सृष्टि के सारे नाम रूपों में अन्तर निहित परमात्मा है।

जब कहीं और जहां मनुष्य को जो उपलब्धि होती है, वह उस के पुरुषार्थ का ही फल है। जो प्रयत्न, साधना अभी की जाती है, वह प्रत्यक्ष फल देती हुई प्रतीत होती है—जो पूर्व जन्मों में किए कर्मों से प्रारब्ध बन कर फल मिला है, वह ईश्वरीय वरदान अथवा कृपा रूप मानी जाती है, क्योंकि प्रारब्ध भी पुरूषार्थ के फलस्वरूप ही निर्मित होता है।

सगुण उपासना ध्यान, जप आदि धार्मिक क्रियाए एवं अन्य शुभ कर्म चित्त शुद्धि के लिए किए जाते हैं—चित्त शुद्धि होने पर साधक हृदय में आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी बन जाता है। निरन्तर आत्म चिन्तन के अभ्यास एवं विरक्ति के फलस्वरूप जिस ने अपनी निम्न गामी इंद्रियो को वश में कर लिया है, वह अवश्य ही परम पद को प्राप्त करेगा।

जिस प्रकार आम के वृक्ष पर फूल-फल लगते हैं, उसी प्रकार साधना रूप पुरुषार्थ के फलस्वरूप दिव्य कृपा रूप पुष्प एवं आत्म-साक्षात्कार रूप फल प्राप्त होते हैं। यदि अन्तरवासी आत्मा की उपासना-चिन्तन नहीं किया जाये तो समस्त बाह्य रूप से देव पूजन एवं कर्मकाण्ड आदि उपासनाएं निष्फल होंगी।

वसिष्ठ जी ने समाधि अवस्था में शिव जी से पूछा—'यदि ब्रह्म बुद्धि की पहुँच के बाहर है तो साधक किस प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है ?'

इस पर शिव जी समझाते हैं—शान्ति के अभ्यास, आत्मनियन्त्रण, स्वाध्याय तथा गुरुज्ञान इत्यादि के योग से राजसी व तामसी वृत्तियों का सात्वीकरण करके अज्ञानता पर विजय प्राप्त करो तब आत्मज्ञान हो जायेगा।

जिस प्रकार कपड़ों के मैल रूपी धूल को दूसरे प्रकार की धूल अर्थात् साबुन-सोडे के पाउडर से दूर करते हैं, उसी प्रकार दूषित बुद्धि से रजस-तमस के धब्बे सत्व की प्रधानता द्वारा छुटाओ—बाद में सत्व से भी ऊपर उठ जाओगे। आत्मा का प्रकाश ही आत्मा को पहिचानता है—उससे अज्ञानता दूर हो कर संसार का मिथ्यापन मिटेगा और आत्मस्वरूप ब्रह्म का दर्शन होगा अर्थात् संसार के स्थान पर ब्रह्म परिलक्षित होने लगेगा

स्वाध्याय, सत्संग तथा गुरु के मार्ग दर्शन में की हुई अन्य साधनाओं द्वारा आध्यात्मिक विकास की लौ लगेगी—चेतना जागृत होगी—फिर सतत् स्थित सत्य का दर्शन स्वयं ही हो जाएगा। सत्य कहीं से उत्पन्न नहीं होगा।

आदि शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में गुरु मुख से शिष्य कच को कहलवाया है कि पिता के ऋण आदि पुत्र चुका सकता है, किन्तु उसे बन्धन से नहीं छुड़ा सकता—बन्धन से मुक्त होने के लिए तो स्वयं ही प्रयत्न करना होता है—

"न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्ष सिध्यतिनान्य था॥"

वैराग्य-विवेक की उत्पत्ति होने पर शम-दम-तितिक्षा और उपरति आदि गुणों से भूषित होकर स्वाध्याय, चिन्तन, ध्यान आदि के अभ्यास रूप से साधक निर्विकल्प समाधि और निर्वाण सुख प्राप्त कर लेता है—

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है—

"उद्धरेदात्मानमात्मना, नात्मानभवसादयेत्।
आत्मेव ह्यात्मनो बन्धुरात्मेवरिपु रात्मनः॥" - 6 - 5

अर्थात्—आत्मा को अधोगति में न डाले, क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।

तात्पर्य है कि सत्प्रयत्न रूप पुरुषार्थ द्वारा साधना से हम अपना उद्धार कर सकते हैं और बिना पुरुषार्थ शत्रुवत् बर्ताव करने से आत्मा अद्योगति को प्राप्त होगी।

वसिष्ठ जी ने शुक्राचार्य के दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि मनुष्य मूलतः ब्रह्म है। उसमें अपने कर्मानुसार देवताओं के स्तर तक उठने की क्षमता है और पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़ों की योनियों तक भी गिर सकता है।

शुक्राचार्य एक अप्सरा की उपासना करके कई जन्मों तक उसे प्राप्त करता रहा—स्वर्ग के ऐश्वर्य भोगे, राजा बना, मछेरा हुआ, योगी व देव पुरुष भी बना—अपने कर्मानुसार उच्च योनियां प्राप्त कीं—फिर शुभ कर्मो की समाप्ति पर अशुभ कर्मों के फलस्वरूप वनस्पति और कीड़े-मकोड़ों का जन्म मिला, गर्दभ और शिकारी रूप में वन में वास हुआ, पक्षी आदि की योनियों के बाद पुन ब्राह्मणपुत्र बना। यम ने भृगु को बताया कि "वह वेदों का अध्ययन कर के नर्मदा नदी के तट पर तप कर रहा है।" और प्रज्ञा दृष्टि से दिखा दिया।

जो लोग संसार चक्र के दुखों से त्रस्त हैं वे नियति का आश्रय नहीं ले सकते—न वे कर्म से धन सम्पत्ति से अथवा मित्र संबंधियों के भरोसे चुप बैठे रह सकते हैं। उनके लिए आत्म विचार ही एक उपाय है—आत्म चिन्तन द्वारा पुरुषार्थ करें—सत्संग, स्वाध्याय और ध्यान से मन का विक्षेप दूर होगा और आत्मा के उद्धार हेतु उपाय करेंगे।

जो लोग भाग्य भरोसे रहते हैं। उनमें वासनाएं, क्रोध, लोभ और आकांक्षाएं भरी रहती है और अनन्त विपत्तियों के पथ का अनुसरण करते रहते हैं। परन्तु जो मनुष्य आत्म पुरुषार्थ का मार्ग अपनाते हैं, उन में आध्यात्मिक ज्ञान स्वतः जागृत होने लगता है। हृदय रूपी आकाश में आध्यात्मिक ज्ञान का सूर्य उदय होने पर 'देहाध्यास' का मिथ्या विचार नष्ट हो कर अज्ञानाधिकार रूपी रात्रि विदीर्ण हो जाती है। आध्यात्मिक चिन्तन से अहंभाव रूप कोहरा नष्ट हो कर हृदय रूपी आकाश अपनी सम्पूर्ण आभा के साथ दैदीप्यमान हो जाता है।

सत्य का ज्ञान चित्त की चंचलता का दमन और प्राणों के नियन्त्रण (प्राणायाम) द्वारा मन का बहिष्कार अर्थात् मन की उपाधि को आत्मा से अलग करना—ये तीन कार्य अति दुर्लभ हैं—वसिष्ठ

जी कहते हैं कि प्रयत्नपूर्वक दृढ़ संकल्प कर के प्राणायाम, स्वाध्याय, सत्संग आदि साधनों द्वारा पुरुषार्थ से इन तीनों में एक साथ सफलता प्राप्त कर लो तो निश्चय ही सब प्रकार की अज्ञानता का विनाश हो जाएगा।

कर्कटी की कहानी द्वारा वसिष्ठ जी ने बताया कि किस प्रकार एक भयंकर राक्षसी भी हिंसात्मक वृत्ति छोड़ कर ज्ञान मार्ग पर आ सकती है। अपने संकल्पों के अनुसार प्राणी पुरुषार्थ द्वारा ब्रह्मस्थिति प्राप्त करता है।

हे राम ! हिमालय क्षेत्र में एक अत्यन्त भयंकर एवं भद्दी वृहद् आकार कर्कटी नाम की राक्षसी रहती थी। उसकी प्रबल इच्छा थी कि सारे जीवित प्राणियों का भक्षण कर ले तभी उसे सन्तोष होगा। इस इच्छा की पूर्ति हेतु वह हिमालय की एक गुफा में चट्टानकी भांति स्थिर हुई बैठ कर तपस्या करने लगी।

दीर्घकाल के बाद कर्म फल के दाता ब्रह्मा जी उसके समक्ष प्रकट हुए और पूछा कि क्या चाहती हो, कोई भी वर मांग सकती हो। कर्कटी ने कहा कि "मेरा शरीर सुई के समान सूक्ष्म हो जाय, जिससे मैं किसी को दृष्टिगत् हुए बिना शरीर में घुस कर अपनी भूख शान्त करती रहूं।'

ब्रह्मा जी ने तथास्तु कह कर वर देना स्वीकार किया और कहा कि तुम विसूचिका बन जाओ जिससे लोगों के शरीर में प्रवेश करके मन भर के उन का मांस और लहू भक्षण कर सको। परन्तु तुम केवल अधार्मिक दुष्ट लोगों का तथा अशुद्ध (अखाद्य) भोजन करने वालों को ही कष्ट पहुँचा सकोगी—जो धार्मिक वृत्ति के भले लोग होंगे, शुद्ध आचरण वाले होंगे, वे निम्नलिखित मंत्र पढ कर तुम्हारे प्रभाव से बच जाएंगे[1]—मन्त्र बताया वह इस प्रकार है—

ॐ हिम ह्रम रिम रम विष्णु शक्त्ये नमः।
ॐ हर हर नय नय पच पच मथ मथ॥
उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा हिमवन्तम्।
गच्छ जीव सः सः सः चन्द्रमण्डलो सि स्वाहा॥

भावार्थ—भगवान विष्णु की सार्वभौम शक्ति की वन्दना करता हूँ। तुम सब के नियन्ता हो। यह रोग तुम्हारी सत्ता की आंशिक अभिव्यक्ति है, आप इसे निवारण करें। आप ॐ के ही प्रतिरूप हो। चावल की भांति रोग को हल्का कर के और दही की भांति मथकर इसे अन्यत्र भेज दें, अथवा कोई अन्य उपाय से इसे भगा दें।[2]

कर्कटी ने तुरन्त सूक्ष्म रूप धारण किया और धीरे-धीरे एक पिन के बराबर हो गई। वह दुर्बल शरीर लोगों के शरीर में प्रवेश् कर कर के उनका लहू चूसने लगी। गंदे स्थानों में छिप-छिप कर बैठ जाती थी। जहां मक्खियां भिनभिनाती हों, पशु रहते हों, सड़ी हुई पत्तियां पड़ी हों आदि-आदि और इस प्रकार लोगों के प्राणों पर जीवन निर्वाह करती रही। कुछ दिनों में उसे अपनी मूर्खता पर पछतावा होने लगा।

मनचाहा वर मांग कर इच्छा पूरी होने के बजाय उल्टा कम भोजन में रहना पड़ता है क्योंकि शरीर बिल्कुल सूक्ष्म हो गया था। मूढ़ व्यक्ति में दूरदर्शिता नहीं होती। स्वार्थी मनुष्य के कठोर प्रयत्नों की धुन में प्रायः उल्टे परिणाम होते हैं। अब वह स्वयं पैदा किए हुए दुर्भाग्य पर पछताने

---

1. ब्रह्माजी ने यह भी कहा कि यदि चिकित्सक यह मंत्र उच्चारण करे तो रोगी का यह भाव बनेगा कि उस का रोग निवारण हो रहा है, और उस की नाड़ियों मे अमृत प्रवाहित हो रहा है।

......

2 स्वामी की पस्तक स साभार

लगी कि मैंने अपनी विशाल काया खो कर यह नन्हा सा शरीर पा लिया—मैं निश्चय ही कूढ मगज हूँ।

एकदम कर्कटी ने जीवों को खाना बन्द कर दिया और हिमालय पर्वत पर जा कर एक पाव पर खड़ी हो कर तपस्या करने लगी। उसकी तपस्या के बल से हिमालय प्रदेश में मानों अग्नि उत्पन्न हो गयी। देवराज इन्द्र को नारद जी ने समाचार दिया, उन्होंने तुरन्त वायु देवता को पता करने भेजा।

वायु ने सूचिका को एक पांव से खड़े देख कर रिपोर्ट दी। तब इन्द्र ब्रह्मा जी के पास गए और बताया कि उसने प्राण वायु को रोक लिया है। ब्रह्मा जी सूचिका के पास फिर पहुँचे। तब तक सूचिका तप के बल से पूर्णरूपेण शुद्ध हो चुकी थी और अपनी प्रज्ञा शक्ति द्वारा उसे साक्षात् ज्ञान हो गया था। हे राम ! मनुष्य का अपना ही अन्तःकरण उस का यथार्थ गुरु है। ब्रह्मा जी ने उससे वर मांगने को कहा तो वह मन में चिन्तन कर के बोली कि मैंने परम सत्य को प्राप्त कर लिया है, अब मैं वर का क्या करुंगी।

ब्रह्माजी बोले, चूंकि तुम ने अपना पूर्व जैसा विशाल शरीर पाने हेतु तपस्या की थी—अतः वह शरीर पाना ही होगा। तुम एक ज्ञानी राक्षसी के रूप में हिमालय प्रदेश में रह कर ध्यान-समाधि का आनन्द भोगोगी। अपने विशाल शरीर के निर्वाह के लिए तुम केवल पापाचरण वाले मनुष्यों को नष्ट करोगी। अतएव तुम्हारा नाम "अन्यायवधिका" होगा।

तब से कर्कटी समाधि के आनन्द में लीन हो गई। कभी-कभी गुफा से निकल कर पापो मे प्रवृत्त लोगों का शिकार किया करती थी।

परम ज्ञानी सन्त ने इस कथानक का रहस्यात्मक अर्थ किया है कि ज्ञान पक्ष में कर्कटी माया की प्रतीक है और अज्ञानता बन्धन की ओर ले जाने वाली है।

वही दिव्य शक्ति जो अज्ञानता के प्रभाव से ढकी दृष्टि में आती थी, अब ज्ञान के प्रकाश मे परिणत हो गई। अब वह सांसारिक विषयों के प्रति वासना उत्पन्न न कर के आत्मानन्द में स्थित रहती है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! मनुष्य के अपने संकल्प ही उसे आध्यात्मिक अन्तःकरण की ऊंचाइयों पर पहुँचा देते हैं या उसे हीनता की निम्न नीचाइयों में गिरा देते हैं। नीची बुद्धि वाले लोग तुच्छ उपलब्धियों के लिए तप करते हैं जिससे अन्त में उन्हें विपत्ति का सामना करना पड़ता है। तब वे अपनी मूर्खता पर पछताते हैं।

3 बन्धन और मोक्ष

बंधन और मोक्ष अहंकार के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यदि अहं का निषेध कर दिया जाय तो न बन्धन रहे न मोक्ष। आत्मा तो सदा मुक्त ही है। मन के द्वारा सीमित अहं का दायरा बन जाने से बन्धन उत्पन्न हो गया है, फलस्वरूप आत्मा विभिन्न शरीर धारण करती रहती है, जिसे जन्म-मरण कहते हैं। प्रज्ञात्मक ज्ञान की उत्पत्ति पर यह जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो कर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

शरीर के संबंध से जीव में अहंकार उत्पन्न होता है। जहां शरीर है वहां अहंकार अवश्य होगा। अज्ञान रूपी बालक ही अहंकार की कल्पना करता है। अविद्या से अहंकार की कल्पना होती है जो असत्य है। यह असत्य की उत्पत्ति अविचार से होती है और विचार करने से अविद्या नष्ट होकर ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से अहंकार नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार दीपक से अंधेरा नहीं रहता उसी प्रकार विचार से अज्ञानता नष्ट हो जाती है शरीर को मैं मानना अज्ञान है और उसे

आत्मा से भिन्न जान कर आत्मा का ही यथार्थ मानना ज्ञान।

ज्ञानी पुरुष में अहंकार नहीं होता, उसे सब कुछ ब्रह्म ही भासता है। अतः इनमें कर्तापन तथा भोक्तापन नहीं होता। वे आत्म तत्व में स्थित रहते हुए इंद्रियों की सब क्रियाओं को करते है, अहकार का स्पर्श नहीं होता।

इस प्रकार अहंकार एवं विकार रहित रहकर सम्पूर्ण क्रियाएं करते हुए स्वयं में स्थित होने का प्रयत्न हमारी साधना का लक्ष्य होना चाहिये। एक बार भी ऐसी विकार रहित अवस्था प्राप्त हो जावे तो केवल आत्मा ही भासेगा और तब अखिल जगत भी आत्म रूप भासित होगा। किन्तु जब तक वासना जनित अहंकार को त्याग कर हम आत्मा को नहीं प्राप्त करेंगे, तब तक जगत भासेगा और कष्ट पाते रहेंगे। अतः वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! अन्तर्मुखी हो कर संकल्पों का त्याग करो और अच्युत निर्वाण पद प्राप्त करो, यही मोक्ष है।"

देहाभिमान सबसे बड़ा बन्धन है। इसी के कारण मेरा-तेरा, अपना-पराया, भेद-भाव और मोह, ममता, लोभ, धन ऐश्वर्य तथा पुत्र, पत्नी आदि नाते रिश्ते हैं। देहाभिमान के त्याग से भ्रान्ति मिट जाएगी और भ्रान्ति का मिटना ही मोक्ष है।

दृश्य प्रपंच का अस्तित्व ही द्रष्टा का बन्धन कहा गया है; दृश्य के निवारण होने पर वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। 'तू', 'मैं', 'यह' इत्यादि रूपों में कल्पित मिथ्या जगत ही दृश्य है, जब तक यह दृश्य बना रहता है, तब तक मोक्ष नहीं होता, यदि यह दृश्य जगत वास्तव में है, तब तो किसी के लिए उस का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नही है और सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता। जैसा कि भागवद्गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन के मोह निवारण हेतु कहा है।[1]

चित् स्वरूप आत्मा का जिसे बोध नहीं है, वह द्रष्टा जहां भी रहता है, उसके सामने इस दृश्य जगत का वैभव प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार कमल डण्डी के भीतर कमलिनी का बीज विद्यमान है, जिसमें उस का मृणालमय रूप छिपा होता है, उसी प्रकार अज्ञानी द्रष्टा में वह बुद्धि रहती है जिसमें दृश्य जगत छिपा है। जैसे तिल में 'तेल', पुष्प में 'सुगन्धि' रहती है, उसी प्रकार द्रष्टा में दृश्य बुद्धि रहती है। इस प्रकार यह दृश्य जगत तुम्हारे हृदय में ही संचित है और अपने मन की कल्पना से दृष्टिगोचर होता है।

चित् स्वरूप आत्मा का बोध होने पर निर्विकल्प समाधि लगने पर दृश्य का अभाव अर्थात् जगत रूपी भ्रम का निवारण किया जा सकता है। सम्पूर्ण दृश्य की इच्छा त्यागने से आत्म पद प्रयत्क्ष भासेगा—हथेली पर रक्खे बेर की भांति—और सारा जगत भी आत्म रूप भासने लगेगा। आत्मा के अज्ञान से ही जीव को अहं आदि कल्पना फुरती है।

अद्वितीय, शान्त चिन्मय और आकाश के समान निर्मल ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत है। जिस प्रकार सोने के आभूषणों में सोना मात्र ही तत्व है, जल की तरंग में जल के सिवा अन्य कुछ नही, इसी प्रकार यह जगत भी ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय हो जाने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

परम शान्ति की स्थिति में पहुँचने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जो आत्मा संबन्धी विचारणा के फलस्वरूप मनोनाश होने पर आती है।

---

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽ———— दर्शिभिः।—गीता 2 16
अर्थात्—असद् वस्तु की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं होता— तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों ने इस तत्व को पहिचाना है

मोक्ष का अर्थ है असीम सत्ता का साक्षात्कार और संसार चक्र से मुक्ति। विवेकपूर्ण विचारणा द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त कर परम शान्ति में स्थित होने पर आन्तिरक चेतना उत्पन्न होती है। समस्त मानसिक संकल्पों का अन्त होना शुद्धचैतन्य अर्थात् कैवल्य प्राप्ति है। जब तक हृदय में मानासक सकल्प और वासनाएं सूक्ष्म बीज रूप में भी बनी रहेगी, तब तक मोक्ष की स्थिति नहीं बन सकती। चाहे मन आत्मा में स्थित सा प्रतीत हो, शान्ति का अनुभव हो, फिर भी वासनाओं के रहते वह तन्द्रा की स्थिति है। उसे निद्रा मात्र समझना चाहिए। पुनः जन्म हो सकता है। इसके विपरीत जब वासना क्षय हो जाय और वासना की सम्भावना भी न रहे, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं से ऊपर तुर्यावस्था में पहुंचने पर आत्मा पूर्णता को प्राप्त होती है। वह मोक्ष की स्थिति बनेगी।

इस स्थिति पर पहुंचे बिना संसार चक्र की भ्रान्ति उत्पन्न होती रहेगी। सुख-दुख के चक्र सताते रहेंगे। केवल पूजा पाठ कर्म काण्ड आदि कृत्यो के द्वारा मोक्ष के स्वप्न देखना व्यर्थ होगा।ये सबकृत्य चित्त शुद्धि के साधन हैं।

इंद्रियों और मन के द्वारा मोक्ष आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती—इंद्रिय मन के रुकने पर ही अन्य ज्ञान उदय होता है, अतः वसिष्ठ जी बारम्बार कहते हैं—हे राम ! तुम मन के संकल्पों को बंद कर के आत्मा में स्थित हो जाओ।

विचारों तथा विचार मन्थन को बंद करना मोक्ष है और संकल्प-विकल्पों में मन को लीन रखना बन्धन है।

अतः विचारों का मूल संकल्प विकल्पो को त्याग दो। सर्व प्रथम सात्विक संबंधों की सृष्टि कर के दूषित और भौतिकता प्रधान वृत्तियों का त्याग करो। फिर धीरे-धीरे सात्विक वृत्तियों की मित्रता आदि संबंधों को भी त्याग दो।

समस्त इच्छाओं और वासनाओं को त्याग कर त्याग करने वाले (अहं) को भी त्याग दो। इस प्रकार जिस ने अपने हृदय से सब कुछ त्याग दिया है, वही यथार्थ त्यागी है—परम आत्मा।

सम्पूर्ण विचारों के त्याग के बिना कोई मोक्ष नहीं है।

इंद्रियों के अनुभवों के मिथ्यापन का ज्ञान होने पर जब उनमें रुचि नहीं रहती तो सुख देने वाले पदार्थों में आसक्ति और दुखद से घृणा नहीं रहती। अर्थात् सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं में मानस संतुलित बना रहेगा।

"इंद्रियाँ तथा संसार के पदार्थ दिव्य आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं," यह विश्वास होने पर साधक को सांसारिक पदार्थों में यथार्थता की भ्रांति दूर हो कर, "सुख दुखे समो कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।" (गीता) की भावना जागृत हो जाती है। तब हर स्थिति में मन का संतुलन होने से वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। अर्थात् इस स्थिति पर पहुंचना ही मोक्ष है।

संसार के सारे पदार्थ उस दिव्य आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। अतः पदार्थों से सुख-दुःख की उत्पत्ति अनुभव करना अज्ञानतापूर्ण हृदय की भ्रांति मात्र है। इस भ्रान्ति पर मन की विजय होने पर। पदार्थों को सहन करना सरल हो जाता है। सांसारिक पदार्थों में कोई यथार्थता है ही नहीं तो सुख दुःख का भी अस्तित्व नहीं रहता।

यह अनुभूति हो जाना मोक्ष है कि ब्रह्माण्ड या संसार है ही नहीं—यह सब दृश्यमान जगत केवल शुद्ध चेतन्य है।

जब विचार के बीज ही नष्ट हो जाएं, वह मोक्ष है। मोक्ष में विचार का बीज नही रहता। यदि मुक्त सन्त का अस्तित्व दृष्टिगत होता है तो समझो कि वह एक जले हुए वस्त्र की भांति दिखाई दे रहा है, उसमें तत्वसार-नहीं है। यह सुषुप्ति अवस्था अथवा बेहोशी नहीं है—इन दोनों दशाओं में विचार-बीज छिपे रहते हैं जो निद्रा खुलने अथवा बेहोशी दूर होने पर चेतन हो जाते

है–परन्तु मुक्त पुरुष में ऐसा नहीं होता। निरन्तर चिन्तन से मुक्त पुरुष के अहंभाव का बीज नष्ट हो जाता है। राग द्वेष आदि पर विजय प्राप्त करना मात्र तप है, यह ज्ञान नहीं। विषय वासनाओ से विमुख होने पर इद्रिय विजय स्वतः हो जाता है। वासना त्याग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है ओर दृश्यमान जगत ब्रह्मरूप दृष्टि आता है। यही मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्ति को समझाने के लिए मुनि वसिष्ठ ने पुण्य और पावण नामक दो भाइयों का कथानक प्रस्तुत किया है।

जम्बू दीप में महेन्द्र पर्वत के ढाल पर अनेक संत महात्माओं का वास था। कहा जाता है कि अपने स्नान आदि के लिए व्योम गंगा नामक नदी वे सन्त जन उस पर्वत से लाए थे जिस का नाम व्योम गंगा था। उस नदी के किनारे दीर्घतप नामक संत रहता था। वह अपने नाम के अनुसार ही दीर्घ काल तक तप करता रहा था। उसके पुण्य और पावण नामक दो पुत्र थे। उनमें से पुण्य को तो पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया था। परन्तु पावण की अविद्या (अज्ञान) तो दूर हो गई, पर पूर्ण ज्ञान नही हुआ था। समय की गति के साथ संत दीर्घतप शरीर छोड़ कर परम धाम सिधार गया, उसमे कोई वासना शेष नहीं थी। उसी से प्राप्त योग शक्ति द्वारा उसकी पत्नी ने भी शरीर त्याग दिया।

माता-पिता के न रहने पर पुण्य ने शान्त भाव से अन्त्येष्टि क्रिया आदि की और उसे कोई दु:ख की अनुभूति नहीं हुई, किन्तु पावण अति अधीर हो गया। फूट-फूट कर रोने लगा।

पुण्य भाई के पास जाकर धैर्य बंधाते हुए उसे समझाने लगा—"भाई, तुम क्यों रोते हो ? अज्ञानता के अंधेपन से ही तुम्हें आंसुओं की झड़ी लग रही है। हमारे माता-पिता इन शरीरों को छोड़ कर उस परम उच्च स्थिति मे पहुँच कर मोक्ष को प्राप्त हो गए हैं, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।" वे अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त हुए हैं—इसमें दुखी होने की क्या बात है ? तुम उन्हें 'माता' और 'पिता' मानते हो। वे इस जन्म के माता-पिता थे। तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके है, अनेकों माता-पिता थे, उन के भी अनेकों बालक थे– फिर केवल इन एक के लिए क्यों रोते हो। ' आदि-आदि एवं शरीरों की नश्वरता और सांसारिक सम्बन्धों के मिथ्यापन पर प्रकाश डालते हुए पुण्य ने बताया कि "ज्ञान होने पर यह सब रहस्य समझ में आता है और ज्ञानी जन केवल वर्तमान को ही देख कर चित्त में शान्त रहते हैं। वे संसार के द्रष्टा बन कर अंधकार के बीच दीपक के समान प्रकाशमान होते हैं।"

भाई के द्वारा इस प्रकार समझाए जाने पर पावण को भी ज्ञान हो गया। दोनों तृष्णा और वासना रहित स्वतन्त्र रूप से वन में विचरण करने लगे। कालान्तर में उन्होंने भी शरीरों को त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस कथानक द्वारा वसिष्ठ जी ने समझाया कि तृष्णा और विषय चिन्तन त्यागने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तथा सत्य का ज्ञान ही मोक्ष है।

आत्मा के ऊपर अभिलाषा ही आवरण है—जैसे बादलो के आवरण से सूर्य नहीं भासता, बादलों के हटते ही सूर्द दृष्टि आने लगता है, उसी प्रकार अभिलाषा के निवृत होने पर आत्मा भासने लगती है।

अत: जो वासना जागृत हो उसे त्याग कर आत्म पद में स्थित हो जाओ और सारे प्रकृत आचार कर्तव्य कर्म देह और इन्द्रियों द्वारा करते रहो। वासनाओं के अन्त से जब संकल्प शान्त हो जाते हैं तो चित्त स्वत: ब्रह्म रूप बन जाता है, योगी का यह मरणशील व्यक्तित्व नहीं रहता। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—ब्रह्म का ज्ञान होने पर ब्रह्म ही हो जाता है।

अज्ञानी मनुष्य को यह मोक्ष का स्तर प्राप्त नहीं हो सकता जैसे पक्षियों के पद चिन्ह नही होते उसी प्रकार आत्म ज्ञान की यह सूक्ष्म प्रक्रिया दृष्टिगत नहीं होती सूर्योदय होने पर जैसे पर्वतों

की चोटी का बर्फ पिघलने लगता है, उसी प्रकार ज्ञान के विकास से अविद्या का लोप हो जाता है। जब सर्वहारी ब्रह्मवायु चलने लगती है तो हृदय से वासना के कणों का बहिष्कार हो कर मूलत नष्ट हो जाते हैं। तभी मानव मोक्ष का अधिकारी बनता है।

कर्म न करना मुक्ति नहीं, बल्कि इच्छा-अनिच्छा, सफलता-असफलता का प्रयोजन रक्खे बिना सर्वात्म भाव से कर्तव्य कर्म करते रहना मुक्ति का रूप है।

वासनाओं के त्याग से 'मैं' पने के अज्ञान से मुक्ति मिलती है। तब आत्मा अपने सच्चे स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त कर के मुक्त हो जाती है। फिर जन्म मरण का चक्र सहना नहीं पड़ता।

जिसकी आन्तरिक स्थिति शीतल और शान्त है, वह मुक्त माना जाता है और जिस का चित्त और हृदय अशान्त एवं क्षुब्ध है, वह बंधन में है। बंधन और मोक्ष शारीरिक क्रियाओं में दर्शनीय नही होते। मोक्ष चित्त की वह अवस्था है जिसमें स्थित ज्ञानी पुरुष परमानन्द को अनुभव करता है। उसके चित्त पर दुख-सुख आदि के संस्कार नहीं रहते, विषयों के प्रति वासना नहीं रहती, जिसे बन्धन कहते हैं। अतएव उसे पुनः पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता।

ज्ञानावस्था में सत्य का बोध होने पर संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो कर स्वतः संसार छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता। वह अनुभव करने लगता है—"मैं स्वाभाविक जीवन जी रहा हूँ, जो हो रहा है, सब स्वीकार है। कोई संकल्प विकल्प नहीं, इसी में स्थित हुआ मैं शान्त हूँ।"

भौतिक जगत से मर कर (मुख मोड़ कर) चित्त की शान्त अवस्था में पहुँचना—न वहा वासना है, न इच्छा, न विचार, न कर्म—यही चैतन्य की शुद्धतम अवस्था है, आत्मा का स्वरूप है और निजी स्वभाव है। इसे प्राप्त हो जाना ही मोक्ष या मुक्ति है, जैसा अष्टावक्र मुनि ने कहा—

"तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति कुप्यति॥"

मोक्ष आत्मा का सर्वोच्च पद है जिसमे परिपूर्णता निहित है। मोक्ष है यथार्थ की अन्तरात्मा। मोक्ष ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पहले नहीं थी अब प्राप्त करनी है, न हि मोक्ष कोई अति आनन्दप्रद स्थान या लोक है जहा पहुँचने के लिए प्रयत्न करते हैं। मोक्ष है आत्मा के शाश्वत स्वरूप का ज्ञान, शुद्ध चैतन्य, अमर आत्मा की यथार्थ प्रकृति की चेतना होना।

मोक्ष ज्ञान में निहित नहीं, बल्कि वह ज्ञान ही है। अर्थात् आत्मा का यथार्थ ज्ञान होना ही मोक्ष है।

इस प्रकार वसिष्ठ जी ने बंधन और मोक्ष का रहस्य समझा कर बताया कि प्रत्येक द्वापर युग में कृष्ण अवतार लेकर यह मोक्ष दायक खोए हुए ज्ञान को अर्जुन को देकर पुनर्जीवित करेंगे।

4. मोक्ष के चार द्वारपाल

मोक्ष के द्वार में प्रवेश के लिए वसिष्ठ जी ने चार द्वारपाल बताए हैं—1. आत्मा संयम, 2 विचारणा, 3. सन्तोष और 4. सत्सग।

आत्मज्ञान के बिना इस संसार चक्र से छुटकारा नहीं हो सकता और आत्मज्ञान के आकांक्षी साधक को इन द्वारपालों से मित्रता करनी चाहिए। वसिष्ठ जी कहते हैं कि यदि चार में से एक द्वारपाल से भी मित्रता हो जाय, अर्थात् उस में चित्त वृत्तियां संलग्न हो जायं तो शनैः शनैः शेष तीन गुण स्वतः उद्भूत होने लगेंगे।

1. प्रथम द्वारपाल शम है

जब चित्त शान्त शुद्ध और भ्रान्तिरहित होता है और न कोई आकांक्षा करता है न किसी से घृणा करता है—यह शम प्राप्त होता है आत्म सयम अथवा मन नियन्त्रण से। अब प्रथम द्वारपाल

शम आत्मसंयम ही है।

जो कुछ भला और शुभ है, वह आत्मसंयम से प्रवाहित होता है और जो कुछ अशुभ एव दोष युक्त है, वह आत्मनियंत्रण से बहिष्कृत हो जाता है, नष्ट हो जाता है। हे राम, शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के दोषों के लिए आत्म संयम सर्वश्रेष्ठ उपाय है। जो कोई भी सब के प्रति समभाव रखता है और जो सुख-दुःख हर स्थिति में समान रहता है, वह संयमी है। ऐसा व्यक्ति सब के मध्य रहता हुआ मन द्वारा उन से अप्रभावित-राग-द्वेष रहित रहता है। यही चित शान्ति (शम) का साधन समझना चाहिए।

2. दूसरा द्वारपाल विचारणा है

निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ही शास्त्र ज्ञान हृदय मे बेठता है। शास्त्रों के गहन अध्ययन द्वारा चित्त शुद्धि कर के इस प्रकार के चिन्तन से साधक तीक्ष्ण बुद्धि वाला हो कर परम सत्य की अनुभूति कर सकता है। संसार रूपी चिरकालीन रोग का इलाज यह विचारणा ही है। ज्ञानी जन बल, बुद्धि, शालीनता एवं तत्परता आदि गुणों को विचारशीलता का ही परिणाम मानते हैं।

विचारणा के अभाव में ही ऐसे कृत्यों का जन्म होता है जो स्वयं के लिए घातक परिणाम वाले हों और दूसरों के लिए भी हानि प्रद, अतः ऐसे विचारहीन लोगों के संग से बचे रहना चाहिए। जिनमें चिन्तनशीलता का भाव जागृत रहता है, वे संसार को तथा अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को आलोकित करते हैं तथा अज्ञानता से उत्पन्न अंधकार को विनष्ट कर देते हैं। विविध कृत्यो के मध्य भी उनका आध्यात्मिक चिन्तन बन्द नहीं होता कि, 'मैं कौन हूँ', 'किस प्रकार यह संसार उत्पन्न हुआ' आदि। इस प्रकार के चिन्तन से सत्य का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान से शान्ति उद्भूत होती है और तब परम शान्ति प्राप्त होती है, जिससे सारे दुखों का अन्त हो जाता है।

3. तीसरा द्वारपाल सन्तोष है

जिस ने सन्तोष रूपी अमृत का पान कर लिया है, वह इन्द्रिय भोगों की आकांक्षा नही करता। संसार में कोई आनन्द सन्तोष के समान मधुर नहीं है। यह सारे पापों को विनष्ट करने वाला है।

सन्तोष क्या है ? पूर्ण न होने वाली वांछाओं का त्याग एवं जो सुलभ हैं उसमें सन्तुष्ट रहना 'सन्तोष' है। जब तक मनुष्य के सामने आत्मा में तुष्ट नहीं रहेगा, वह दुख का अनुभव करेगा। सन्तुष्ट रहने से उसका हृदय कमल प्रफुल्ल रहेगा। वसिष्ठ जी कहते हैं कि सन्तुष्ट व्यक्ति के पास यदि कुछ भी न हो, तब भी वह संसार का स्वामी है।

4. चतुर्थ द्वारपाल सत्संग है।

अर्थात् ज्ञानी पुरुषों का संसर्ग मोक्ष का चतुर्थ द्वारपाल है। सत्संग से बुद्धि तीक्ष्ण हो कर अज्ञान का नाश होता है। किसी भी मूल्य पर सत्संग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिन्होंने सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिन के हृदय से अज्ञान विनष्ट हो चुका है, उनका ससर्ग करना चाहिए और जो ऐसे ज्ञानी जनों के सत्संग से विमुख हो, उनका साथ त्याग देना चाहिए।

सन्तोष, सत्संग, विचारणा तथा आत्म संयम (शम)—ये चार साधन हैं जिन के अभ्यास द्वारा ससार रूपी समुद्र में डूबे हुए जनों का बचाव हो सकता है।

सन्तोष सर्वोपरि लाभ है, सत्संग वांछित स्थान पर पहुँचने के लिए सर्वोत्तम साथी है, चिन्तनशीलता (विचारणा) स्वयं ज्ञान है तथा आत्म संयम से प्राप्त शम परम आनन्द है—इनमें से एक का भी अभ्यास करने स शेष स्वय उदय हो जाएंगे वसिष्ठ जी कहते हैं कि इन दिव्य गुणों

की सहायता से अपने मन रूपी हाथी को साधे बिना अपने परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर तुम अग्रसर नहीं हो सकते। अतएव "हे राम ! इन उच्च गुणों को विकसित करने की पूर्ण चेष्टा करो।"

---

* मन ही मनुष्यों के मोक्ष और बन्धन का कारण है। रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त मन बन्धन में डालता और सतोगुण से समृद्ध हुआ मन मोक्ष दिलाने वाला होता है।

☐ **मन पंच भौतिक है, चैतन्य आत्मा मन में संक्रान्त होकर उसे चैतन्य जैसा बना देती है। अतः आत्मान्वेषण मन से ही सुलभ है-सूर्य नक्षत्रों के उस पार नहीं।**

3

उत्पत्ति प्रकरण

ब्रह्म ज्योतिषामयि ज्योतिः स्वयं प्रकाशं परं ज्योतिरनन्तरम्।
ज्योतिः स्वरूपंतस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥*

—ब्रह्म रमस्योपनिषद।

1. संसार का अस्तित्व मन की सर्जना मात्र

राम के पूछने पर मुनि वसिष्ठ मन की प्रकृति समझाते हैं कि मन क्या है और किस प्रकार ससार चक्र प्रकट कर देता है।

हे राम ! जिस प्रकार विस्तृत आकाश, जो दृष्टिमान होता है। इसका कोई अस्तित्व नहीं है, नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार मन का कोई अस्तित्व नहीं है, न भीतर, न बाहर। व्यवहारिक दृष्टि से मन सर्वव्यापी है। संसार का सारा पसारा मन के कारण ही दृश्यमान प्रतीत होता है। जीव के सारे भाव और क्रियाएं मन की ही उत्पत्ति हैं। संकल्प विकल्प, इच्छा-भावना और विचार सब मन का ही रूप हैं।

मन और दृश्य जगत एक दूसरे पर निर्भर माया के रूप हैं, वस्तुतः संसार का अस्तित्व कभी था ही नहीं, न तीन कालों में होने वाला है। जैसे कमल की बेलि बीज में स्थित है, उसी प्रकार ससार चक्र शुद्ध अन्तःकरण में स्थित है। जब दृष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो कर दृश्य को देखना बन्द कर देता है, तभी आत्मा का मोक्ष हो जाता है।

जिस प्रकार स्वप्न में जो घटनाएं सत्य प्रतीत हो रही थी, जागने पर विलुप्त हो जाती हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार जाल जो अज्ञानी को सत्य प्रतीत होता है, ज्ञान होने पर मिथ्यापन जान लेने पर असत्य भासने लगता है। ये सब मन का खेल है। मन के अतिरिक्त संसार कुछ नहीं है।

मानसिक स्पन्दन से संसार के पदार्थ दृश्यमान होते हैं। अज्ञानता के कारण आत्मा मन से एक रूप हो कर एक विचार से दूसरे विचार स्पन्दन पर भ्रमती रहती है। यदि विचार लहरों में इधर से उधर भ्रमण बिना अन्तःकरण रूपी समुद्र में गोता लगाना सम्भव होता, लहरों के उठने बैठने के मध्य में जो तथ्य है, उसे पाना सम्भव होता तो ज्ञान प्राप्त हो सकता था।

वसिष्ठ जी राम को समझाने के लिए बताते हैं कि उन्होंने सृष्टि रचयिता स्वयं ब्रह्मा से सृष्टि के रहस्य के विषय में प्रश्न किया तो ब्रह्मा जी ने कहा, "जिस प्रकार समुद्र में भंवर उठते हैं, इस प्रकार मन रूपी सागर से संसार उत्पन्न होता है। एक बार मैं प्रलय की रात्रि से जागा और दूसरा ससार रचने वाला ही था तो मैंने असीमता के बिस्तार में दृष्टि दौड़ाई और देखा कि न अंधकार था, न प्रकाश। तब अपने सूक्ष्म मन से मैंने विश्व उत्पन्न कर लिया।"

"परन्तु मैं देख कर चकित रह गया कि मैंने सामने आइने में प्रतिबिम्ब की भांति दश ब्रह्मा हंसो पर सवार हुए दश संसार रचाए खड़े हैं। दशों पूर्ण रूपेण आबाद हुए थे।" फिर मेरे पूछने पर ब्रह्मा जी ने सृष्टि का रहस्य बताया ब्रह्मा अनासक्त भाव से सृष्टि की रचना करते हैं मनुष्य जो काम करते हैं वह गहन सकल्पों के आधार पर करते हैं मन मे उत्पन्न किए ससार को नष्ट

नही किया जा सकता। जब तक वह स्वय ही प्रयत्न न करे।

इन्द्रियों द्वारा किए हुए कार्य नाशवान होते हैं, नष्ट किए जा सकते हैं, किन्तु मन के गहन तल में जाते हुए विश्वास नहीं उखाड़े जा सकते। दीर्घ काल तक मन में जो भाव जम गया है, वह यथार्थ का रूप धारण कर लेता है। योगियों की प्रबल आध्यात्मिक शक्ति भी उन्हें नहीं उखाड सकती। स्थूल शरीर नष्ट हो जायेगा, किन्तु मन में उत्पन्न संसार बना रहेगा।

इस प्रसंग में इन्दु और अहिल्या का कथानक सुना कर मन के संस्कारों की दृढ़ता पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्मा जी ने बताया, "हे वसिष्ठ । इस संसार को तन मन से उत्पन्न हुआ जादू ही समझो"

इन्दु-अहिल्या कथानक इस प्रकार है—मगध देश में इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था। उसकी पत्नी का नाम अहिल्या था। उस नगर में कोई इन्दु नाम का चरित्रहीन सुन्दर युवक था। एक दिन रानी ने देवराज इन्दु और प्रसिद्ध अहिल्या की कथा सुनी—फलस्वरूप इसको इस इन्दु के प्रति आकर्षण हो गया और उसने किसी प्रकार अपनी दासी की मदद से उसे महल में बुला लिया।

वे दोनों छिप-छिप कर मिलते रहे। अहिल्या को उस में इतना आकर्षण हो गया कि हर समय उसकी दृष्टि में वह नाचने लगा। इन्दु के विचार मात्र से उसका चेहरा चमकने लगता था। धीरे-धीरे उन दोनों का प्रेम राजा के कानों तक भी पहुंच गया। राजा ने उनके संबंध को तोड़ने के लिए दोनों को कठोर ताड़नाएं दीं, परन्तु उनके मन एक दूसरे में इतने अनुरक्त थे कि इस सब का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

राजा के पूछने पर इन्दु बोला—"मेरे लिए सारा विश्व मेरी प्रेयसी है और ऐसे ही अहिल्या के लिए मैं हूँ, अतएव हमारे ऊपर इस सब का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्रीमान ! मैं केवल मन हूँ और मन ही तो व्यक्ति है। आप शरीर को दण्ड दे सकते हो, मन को नहीं, यदि मन किसी भाव से परिपूर्ण है तो शरीर पर होने वाले प्रभाव उसे नहीं निकाल सकते। शरीर मन को उत्पन्न नही करता, बल्कि मन शरीर की उत्पत्ति का कारण है।

मन ही शरीर का बीज है। वृक्ष नष्ट होने पर बीज नष्ट नहीं होता, किन्तु बीज के नष्ट होने पर पेड़, नष्ट हो जाता है। हे राजन् ! मेरे चित्त ने अहिल्या का रूप धारण कर लिया है और अहिल्या के मन ने मेरा, तुम उसे नहीं निकाल सकते।"

फिर भी राजा ने सोचा कि अपराधी को दण्ड देना ही चाहिए। उसने राजा भरत से उन्हें शाप दिलवाया, फलस्वरूप उनके शरीर नष्ट हो गए। किन्तु मन नहीं बदले—हरिण-हरिणी के जोडे रूप में जन्मे, पक्षियों की जोड़ी बन कर आनन्द भोगा। इसी प्रकार कई योनियों में साथ रहते रहते ब्राह्मण ब्राह्मणी रूप में जन्मे और तपसाधना करने लगे।

सूर्य देवता ब्रह्मा जी को बता रहे हैं—"कि अभी तक उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, प्रत्येक जन्म से वे एक दूसरे से जुड़े रहे हैं।"

ब्रह्मा जी ने समझाया—"प्रत्येक मानव के दो शरीर होते हैं, मानसिक और दैहिक—हड्डी-मांस-रुधिर का बना हुआ। भौतिक शरीर दृष्टि आता है और बाहरी हथियारों आदि से प्रभावित होता है, किन्तु मानसिक शरीर पर बाह्य जगत की वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पडता, वह निजी प्रयास से ही प्रभावित होता है और मन के प्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न हैं।"

"यदि मन में शुद्ध विचार ही रहें तो उस में सन्त महात्माओं के श्राप को भी निरर्थक करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। निजी प्रयास के परिणाम मन के द्वारा ही क्रियान्वित होते हैं। मन ही मन को ज्ञान से प्रकाशित करता है और मन ही अपने को अज्ञान अन्धकार में डाल देता है।

अतएव उच्च कोटि के साधक और योगी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मन की प्रवृत्ति दिव्य

भाव की ओर से नहीं हटाते।"

"पुरानी जमी हुई गहन वासनाएं गम्भीर प्रबल मानसिक चिन्तन द्वारा बदली जा सकती हैं।" ब्रह्मा जी अन्त में बोले- "हे वसिष्ठ ! इस विश्व को मन के द्वारा उत्पन्न जादू का खेल ही समझो। इन झूठे नाम रूपों से ऊपर उठने पर तुम अपनी मूल प्रकृति में स्थित हो सकते हो।"

राम के प्रश्न पर कि मन जड़ है या चेतन, वसिष्ठ जी उत्तर देते है कि—"हे राम ! मन न जड़ है, न चेतन। जड़-चेतन की गांठ के मध्य भाग का नाम मन है और संकल्प-विकल्प में कल्पित रूप मन है। इस मन से यह जगत उत्पन्न हुआ है जो जड़ चेतन दोनों भावों में डोलायमान है। अर्थात् कभी जड़ भाव की ओर आता है, कभी चेतन भाव की ओर।

शुद्ध चेतन मात्र में जो फुरना हुई, उसी का नाम मन है तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीव आदि अनेक संज्ञा इसी मन की हैं। नट की नाई संकल्प से मन अनेकों संज्ञा पाता है। जैसे प्रकाश सब पदार्थों का कारण है, ऐसे ही मन सब अर्थों का कारण है। जब तक चित्त है चैत्य भासता है और जब चित्त अचित्त हो जाता है, तब सर्वभूत जात लीन हो जाते हैं।"

प्रश्न—मन का स्वरूप क्या है ?

मन नाम मात्र है-आकाश की नाई (शून्य)।आकाश की नाई सब घटों में बसता है और सम्पूर्ण जगत मन से भासता है—असत रूपी जगत जिस से भासता है, उसी का नाम मन है। आत्मा शुद्ध व अद्वैत है—द्वैत रूप जगत जिसमें भासता है वह मन है और संकल्प विकल्प फुरता है, वह मन का रूप है। मन के और भी नाम हैं—स्मृति, अविद्या, मलीनता और तम। सारा जगज्जाल जो भासता है। मन से उत्पन्न, सब दृश्य मन रूप हैं, क्योंकि मन का रचा हुआ है, वास्तव में कुछ नही है। मन रूपी देह का नाम अन्तवाहक शरीर है।

जहाँ मन है, वहाँ दृश्य है। जहाँ दृश्य है, वहाँ मन है। मन नष्ट हो तो दृश्य भी नष्ट हो—द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटि मन से भासती है। जब जाग उठा तो त्रिपुटी का अभाव हो जाता है और आप से भासता है, वैसे ही आत्म सत्ता में जागे हुए को अपना यथार्थ स्वरूप अद्वैत ही भासता है।

जब मन आत्मपद को प्राप्त होता है, तब दृश्य भ्रम निवृत होता है। जैसे वायु की स्पन्दता मिटने पर पत्तों का हिलना बंद हो जाता है, इस प्रकार मन रूपी दृश्य ही बन्धन का कारण है।

निवृत्ति उपाय—प्रथम विचार कर के जगत का स्वरूप जानो—तब आत्म पद में विश्रान्ति होगी।

अनन्त ब्रह्म ही मन का पदार्थ रूप बनने को प्रवृत्त होता है तो निमित हो जाता है। चित्त से जीवात्मा स्फुरित होती है। जीवात्मा से अहंभाव जागृत होता है, जो धीरे-धीरे बढ़ता हुआ व्यक्तिगत मन का रूप धारणकर लेता है। उसी चित्त से संसार के पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं, जिन से मेरा-तेरा-उसका पन जागृत होता है। मन जब राग-द्वेष, घृणा और दुखों में रंग जाता है, वहीं संसार का रूप धारण कर लेता है। ये सारे भेद भाव मन के कारण उत्पन्न होते हैं, जो विशाल आत्मा में मृगमरीचिका रूप हैं।

इस मन के दो रूप हैं, चेतन और अचेतन। चेतन मन वह सत्य है जो सारे नाम रूपों में निहित है, परन्तु अचेतन सारी स्थूल सृष्टि का कारण है, जो भ्रांति मात्र है। उसका अस्तित्व ही नहीं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। जैसे आकाश अपनी पूर्णता से, और समुद्र जल से पूर्ण है, वैसे ही ब्रह्म सत्ता अपने आप में स्थित पूर्ण है, उस मे जगत का अत्यन्त अभाव है। जिसका समवाय कारण और निमित्त कारण न हो और प्रत्यक्ष भासे, उसे भ्रान्ति रूप जानो।

स्वप्न में नाना पदार्थ की भांति जगत भासता है। चलना देना लेना आदि विषय तथा

राग-द्वेष आदि विकास सब मन के फुरने से होते हैं—आत्मा में कोई विकार नहीं। मन उपशम होने पर सब कल्पनाएं निवृत हो जाती हैं, अतएव संसार का कारण मन ही है।

मन और प्राण एक दूसरे पर आश्रित हैं। प्राण मन की सवारी है—जहाँ प्राण है, वहां मन होगा, और जहां मन है, वहां प्राण। जब हम कोई गहन चिन्तन करते हैं तो श्वास-प्रश्वास धीमा पड़ जाता है। प्राण स्पन्दन होने से चित्त चलायमान होता है। जब मन चिन्तन करता है तो प्राण मे स्पन्दन होता है। प्राण जब शरीर से निकल जाता है तो शरीर की सब क्रियाएं बंद हो कर शरीर लकड़ी की गांठ जैसा हो जाता है। यह मृत्यु कहलाती है।[1]

जब मन आध्यात्म हृदय में लीन हो जाता है, तब प्राण में स्पन्दन नहीं होता और मन शान्त हो जाता है। मन अकेला ही मानो सूक्ष्म शरीर-लिङ० शरीर अथवा पर्दष्टक है जो पंचतत्व—अन्तःकरण, इंद्रियां, वासना व कर्म से बना है। जब मन अपने आधार से रहित हो जाता है वह 'सैल्फ' में अकेला रहता है। जब पुर्यष्टक अर्थात् सूक्ष्म शरीर के सारे आधार-इंद्रियां, अन्तःकरण वासना आदि अलग हो जाते हैं तो उसमें स्पन्दन नहीं होता—विचार नहीं उठते और तब शान्त हो जाता है। जब हृदय का कमल खिलता है तब मन क्रियाशील हो जाता है। जब तक पुर्यष्टक क्रियाशील रहता है, तब तक शरीर जीवित रहता है, जब क्रिया बंद कर देता है तब मर जाता है। दृश्य मन से उपजा है—मन को स्थिर कर के देखो तो अहं, त्वं आदि जगत कुछ नहीं भासेगा।

मन में तीन शक्तियाँ होती हैं—इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति। मन में इच्छा उत्पन्न होती है—वह इच्छा शक्ति है। तदनुसार इस इच्छा की पूर्ति हेतु मन क्रियाशील होता है, वह क्रिया शक्ति है—फिर वह योजना बनाता है, इच्छित फल की प्राप्ति के लिए—यह है ज्ञान शक्ति।

सर्वव्यापी अनन्त आत्मा ने कल्पना के बल से जो रूप धारण किया है, वह मन है। मन का मुख्य लक्षण कल्पना है—मन ही सारे सुख दुःखो को जन्म देने वाला है। यही बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन ही सब कुछ है। यही तुम्हारा मित्र है, यही शत्रु भी। अशुद्ध चित्त शत्रु है और शुद्ध चित्त कल्याणकारी है जो सद्भावनाओं द्वारा सत् सलाह देता है। उच्च मन आन्तरिक गुरु की भांति मार्ग दर्शक होता है। शुद्ध मन की आवाज ईश्वर की वाणी है। जैसे स्वप्न और शून्य स्थान में, नाना प्रकार के व्यवहार होते भासते हैं, और प्राणी स्थिर पड़ा स्वप्न में दौड़ता फिरता है—उसी प्रकार मन में जैसी फुरना होती है, वैसा ही भासने लगता है। ट्रेन में या नौका में बैठे हुए पुरुष को किनारों पर स्थित वृक्ष आदि दौड़ते प्रतीत होते हैं, परन्तु जो विचारवान हैं, वे समझते हैं कि वे स्थित ही हैं—दौड़ नहीं रहे हैं। पीलिया रोग के रोगी को सारे पदार्थ पीले दीखते है, दृष्टि दोष के कारण। इसी प्रकार जैसा जिस का निश्चय होता है, वैसी ही प्रतीति होने लगती है।

चेतन संवित सब का अपना आप है—उसके आश्रय से जैसा संवेदन फुरता है, वैसा ही रूप भासता है। लीला की कहानी में राजा विदूरथ को मरते समय अपने मंत्रियों और नौकर आदि में वासना थी। वे ही सब उसे पुनः पद्म रूप होने पर मिल गए। जैसी भावना संवेदन में दृढ़ होती है, वैसा ही रूप भासता है।

अन्तःकरण में उठे हुए स्पन्दन ही जगत में दृश्यमान जीव, कर्म, देवता, पेड़ पौधे आदि सारे पदार्थ हैं, अन्य कुछ नहीं।

जिस प्रकार अग्नि की एक चिन्गारी जलने योग्य पदार्थ के सम्पर्क में आने पर स्वतन्त्र अग्नि की लपट बन जाती है, इसी प्रकार अन्तःकरण की सीमितता में जब संस्कार रूप में निहित वृत्तिया

1 स्वामी शिवानन्द

और स्मृतियां जागृत होती है तब वह अहं भाव में मेरा रूप में प्रकट हो जाते हैं यह मैं मेरा यथार्थ नही होते, किन्तु जीव उसे सत्य मानने लगता है—जैसे आकाश नीला प्रतीत होता है, किन्तु है कुछ नही। फिर अहं भाव में अपने विचार उत्पन्न होते हैं तो चित्त की उत्पत्ति हो जाती है और स्वतन्त्र जीव मन और माया की भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। जो बुद्धि इन विचारों में भाग लेती है, वह मूल पांचों तत्वों को पैदा कर लेती है जिनके सम्पर्क से वह बुद्धि ज्योति की चिन्गारी बन जाती है। वास्तव में वह प्रकाश सार्वभौम है, जिसे प्रज्ञा शक्ति कहा जाता है। वही असंख्य रूप धारण कर लेता है और उपदेवता उपाधियों में सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्मा प्रकट हुए, उन्होंने "एकोऽहम् बहुस्याम्" की भावना जागृत होने पर अपनी इच्छा शक्ति से अन्य सब कुछ रच लिया।

इस प्रकार यह विश्व की रचना मन की सृष्टि मात्र है—यथार्थ में कुछ नहीं है। मन की उत्पत्ति शुद्ध चैतन्य ही में स्पन्दन मात्र है। यदि यह समझ लिया जाय कि संसार दीर्घ स्वप्न मात्र है तो द्वैत भाव रहेगा ही नहीं और ब्रह्म, जीव, चित्त, माया, कर्ता, कर्म एवं संसार—सब पर्यायवाची हो जाएंगे।

जैसे केले का तना पत्तों के सिवाय कुछ नहीं है, इसी प्रकार मन विभिन्नता में एकता दिखला सकता है, जैसे शराबी नशे में वृक्ष को हिलता हुआ देखने लगता है, ऐसे ही अज्ञानी मनुष्य संसार में हलचल देखता है। ज्ञान होने पर चित्त की स्थिरता में उसे केवल ब्रह्म दृष्टि आने लगता है।

2. मृत्यु एवं पुनर्जन्म— (लीला के कथानक द्वारा)

आत्मा का सार है शुद्ध चैतन्य, जो शाश्वत और अनन्त है। वह कभी नष्ट नहीं होता, मरता नही, जैसा की श्रीमद् भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में पूर्णरूपेण वर्णित है कि आत्मा अमर है।[1] मृत्यु केवल नाशवान शरीर की होती है। जब प्राण भोजन पचाने व रक्त संचार आदि का अपना कार्य बन्द कर देते हैं और जब प्राण नाड़ियों में प्रवाहित नहीं होते, तब वे शरीर से निकल जाते है, मन हृदय में चला जाता है और अन्तःकरण मानो स्पन्दनरहित हो जाता है—यह मृत्यु कहलाती है। शरीर का अस्तित्व जीवन है, और दूसरा शरीर प्राप्त करने के लिए शरीर त्यागना मृत्यु।

प्राण शरीर को छोड़ कर अपने स्रोत वायु में प्रवेश कर के वातावरण में मंडराने लगते है। अन्तःकरण स्मृति और वृत्तियों से युक्त हो कर आत्मा रूप में रह जाता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिया आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर को धारण कर लेते हैं, जिसमें इस जन्म के संस्कार, शुभ अशुभ-निहित रहते हैं। उन्हीं से आगामी जन्म का भाग्य तथा सुख-दुःख की स्थितियां निर्धारित होती हैं।

मनुष्य का यथार्थ स्वरूप उसका शरीर, मन, बुद्धि अथवा प्राण नहीं है। शुद्ध चैतन्य आत्मा ही अनगिनत शरीरों का रूप धारण करता है। जन्म-मरण का नाटक खेल कर भी यथार्थ सत्ता अमर रहती है। सदा विद्यमान आत्मा का समय और दूरी से ढक जाना मृत्यु है।

संसार-चक्र से प्रेरित जीवात्मा अपने कर्मानुसार उच्चतर स्तर पर चढ़ती है अथवा नीचे की ओर गिरती है। नदी के प्रवाह की भांति, कभी नदी में स्वच्छ निर्मल जल आता है, कभी गदला। शुभ कर्मों से आत्मा का अस्तित्व प्रकाशमान होता है और अशुभ कर्मों से विकृत।

कर्मानुसार ही मृत्यु के बाद की स्थिति होती है, उन्हीं से जीवन की आयु निर्धारित होती है और उसी के अनुसार आगामी जीवन का स्वरूप तथा दुःख सुख की स्थितियां बनती हैं। कुछ कर्म

---

1. वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ 2-22
अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र उतार कर दूसरे नए धारण करता है; उसी प्रकार शरीर धारी आत्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नदे चोलों में (शरीरों में) प्रवेश करती है

ऐसे होते हैं जिनसे बाल्यावस्था में, किशोरावस्था में मृत्यु हो जाती है, कुछ से युवावस्था में, एव अन्य से वृद्धावस्था तक जीवित रहते हैं। परन्तु जिन्होंने धर्मानुकूल जीवन व्यतीत किया है तथा निष्काम सेवा और जप-तप आदि किए हों उन्हें धर्मशास्त्रों में वर्णन किए अनुसार आदर्श आयु प्राप्त होती है।

मनुष्य के कर्म समय, स्थान तथा भौतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध रहते हैं। शुभ हों या अशुभ, एवं अंतिम समय के भावों और विचारों के अनुसार आगामी जन्म प्राप्त होता है। भगवद्गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है :

यं यं वापि स्मरन्भावंत्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥ -8-6

अर्थात्—हे कुन्ती पुत्र ! मनुष्य जिन जिन भावों को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है। सदैव उन्हीं भावों में रमा हुआ उन्हें ही प्राप्त होता है आशय यह है कि आगामी जन्म में वैसी ही स्थिति प्राप्त होती है।

मृत्यु के तुरन्त पश्चात् कुछ समय जीव मानो अचेतनावस्था में रहता है, न यहां, न वहां। जब कुछ-कुछ चेतना जागृत होती है तो वह आखें खोलता जैसा माना जा सकता है। वह अवस्था अनन्त चेतना की जड़ दशा है। इसे अव्यक्त प्रकृति भी कहते हैं और वह अर्धजीव तथा अर्धनिर्जीव जैसी होती है। यही स्थिति स्मृति अथवा विस्मृति का आधार है। अतएव इसी पर भावी जन्म निर्भर होता है।

जब वह अव्यक्त प्रकृति अथवा सुप्त चेतनावस्था जागृत होती है और जब इस चेतना में अहं भाव प्रकट होता है, तब पांच-तत्व (जल, वायु, अग्नि, आकाश और पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं तथा स्थूल शरीर उत्पत्ति और अस्तित्व के लिए आवश्यक सब कुछ उत्पन्न होता है।

ये सब क्रमशः भौतिक अंगों का निर्माण करते हैं। स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में इनसे स्थूल शरीर की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु यह सब जीव के अव्यक्त शरीर रूप में ही होती है। जब यह भावना गहरी हो जाती है कि "मैं शरीर हूँ", तब उसी शरीर के नेत्र, कान आदि चिन्ह विकसित हो जाते हैं। यह सब वायुमण्डल में लहरों की भांति होता है—जीव की मृत्यु जहां होती है, वहीं वह यह सब देखता है। उसी चेतना के क्षेत्र में जीव कल्पना करता है कि "यह संसार है, यह मैं हूँ।" इस विश्वास के साथ कि उसने जन्म ले लिया है, वह संसार का अनुभव करने लगता है। यद्यपि स्थान के अतिरिक्त कुछ है नहीं।

वह सोचता है, यह मेरी मां है, यह पिता है, मैंने यह भला काम किया या पाप किया, मैं बालक हूं, और अब युवक हो गया आदि। यह सब वह अपने हृदय में देखने लगता है। वह कहीं जाता नहीं है, वहीं आत्म रूप अथवा शुद्ध चैतन्य रूप में रहता है जो समय और दूरी से अलग है।

यह सृष्टि रूपी जंगल प्रत्येक जीव के मन में उत्पन्न होता है। जहां कहीं जीव की मृत्यु होती है, वहां वह इस जंगल को देखता है, इस प्रकार अनगिनत संसार जीवों की चेतना में उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। ये सब भ्रमात्मक दृश्य मन की स्फुरण मात्र है, वास्तव में इन में कोई सार नहीं है। शुद्ध चैतन्य ही परम सत्य है। आत्मा का शरीर में प्रवेश जन्म कहलाता है और बाहर निकलना मृत्यु। मृत्यु से मनुष्य के व्यक्तित्त्व एवं शुद्ध चैतन्य आत्मा का अन्त नहीं हो जाता, इससे एक उच्चतर जीवन के लिए द्वार खुलता है। मृत्यु से मानव सत्ता के एक स्तर से दूसरे स्तर में परिवर्तन होता है, मानसिक अथवा सूक्ष्म शरीर में। स्वामी शिवान्द जी ने इस परिवर्तन को बर्फ-पानी और वाष्प से उदाहरण दिया है। जिस प्रकार बर्फ पिघल कर पानी बनता है पानी से फिर वाष्प
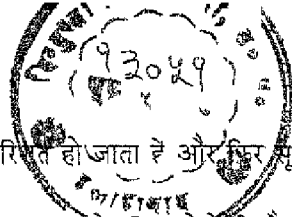
बन जाती है, इसी प्रकार स्थूल शरीर मृत्यु द्वारा सूक्ष्म म परिणत हो जाता है और फिर सू म शरीर नए शरीर में प्रवेश करके दूसरा जन्म ले लेता है।

अपने कर्मों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् आत्मा क्षण भर के लिए बेहोशी जैसी स्थिति अनुभव करती हैं और पूरे जीवन की घटनाओं को भूल जाती है। फिर एक दूसरे प्रकार के व्यक्तित्त्व को धारण करके विभिन्न घटनाचक्र आरम्भ हो जाता है। नये शरीर से एक रूप हो कर पूर्व संस्कारो के प्रभाव से आत्मा सोचने लगती है—ये मेरे हाथ-पावं आदि हैं, शरीर है, घर है, भाई-बहिन आदि सबधी हैं। चित्त और आत्मा के संबंध से यह सब यथार्थ प्रतीत होने लगता है। वास्तव में आत्मा का न कोई शरीर है न नाते-रिश्ते।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में जागृत अवस्था की स्मृति नहीं रहती, विभिन्न प्रकार की स्मृतिया उत्पन्न हो जाती हैं, इसी प्रकार प्रत्येक जन्म में पूर्व जन्म की स्मृति भूल कर नई स्मृतियां उदय हो जाती हैं—स्मृति के प्रकार में परिवर्तन होना ही मृत्यु है।

शरीर मृत हो जाने पर जीवात्मा को ज्ञान नहीं होता—कारण कि शरीर की मृत्यु होने पर आत्मा के स्वरूप का विनाश नहीं होता। शरीर और तन्मात्राओं (इन्द्रियों के विषय) के साथ इस जीवात्मा का संबन्ध विच्छेद होता है और शरीर स्थूल इन्द्रियों आदि के न रहने से विषयों के ज्ञान का अभाव हो जाता है, किन्तु जीवात्मा के अपने ज्ञान का, अपनी ज्ञान स्वरूपता का नाश नही होता।

जीवात्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है, पर विषयों के ज्ञान का साधन इंद्रियाँ हैं। इंद्रियां शरीर के आधार से रहती हैं, वह आधार छूटने पर इंद्रियां भी नष्ट हो जाती हैं। फिर से दूसरा शरीर प्रकट होने पर इंद्रिया भी प्रकट हो जाती हैं और जीवात्मा को फिर से विषयों का ज्ञान होने लगता हे। इस लिए उत्पन्न होना, नष्ट होना आदि धर्म शरीर पर ही लागू होते हैं। जीवात्मा पर किसी हालत मे ये धर्म लागू नहीं हो सकते। श्रुति भी यही बताती है कि जीव से भिन्न शरीर ही नष्ट होता है जीव नहीं। जीवात्मा यदि मृत्यु को प्राप्त होता तो पूर्व जन्म के कर्म फल अगले जन्म में कैसे भोगता। बौद्धिक व्यवहार की रूढ़ भाषा में जन्म मरण जीव पर लागू कियां जाता है, किन्तु वास्तव मे यह देह पर ही लागू होता है।

वसिष्ठ जी ने लीला की कहानी में जीवात्मा का शरीर छोड़ने की स्थिति का स्पष्ट दर्शन कराया है। लीला के पूछने पर देवी सरस्वती मृत्यु के पश्चात् की स्थिति पर प्रकाश डालती है। कहती है—संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—प्रथम वे जो सांसारिक प्रपंचों एवं क्षणिक इंद्रिय विषयों में रत हैं और जिन्होंने सत्संग, स्वाध्याय तथा भगवनाम स्मरण द्वारा चित्त शुद्धि नहीं की है। दूसरे, वे जिन्होंने आंशिक रूपेण किया है और तीसरे योगी होते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के लोगो को मृत्यु से महाकष्ट होता है। मृत्यु के समय मनुष्य को ऐसा अनुभव होता है मानो वह समुद्र में डूब रहा है, मानो अंधकूप में फेंक दिया गया है। गला रूंध जाता है, आंखे ऊपर चढ जाती हैं। अनेक प्रकार के कष्ट अनुभव करता हुआ वह मृत्यु की गहन मूर्छा में मानों सो जाता है, इद्रियां मूढ़ तथा चित्त भ्रमित होने के कारण कुछ भी कहने, सुनने में समर्थ नहीं रहता। उसकी जड पत्थर जैसी स्थिति हो जाती है। दूसरे प्रकार की शुभ कर्म करने वाली आत्माएं अनुभव करती हैं कि देवताओं द्वारा उनका स्वागत हो रहा है, हरे भरे मैदानों अथवा छायादार वृक्षों वाले मार्ग से उन्हें लिए जा रहे हैं।

मृत्यु की मूर्छा दूर होने पर भ्रमात्मक स्मृतियां आती हैं कि मैं मर गया हूं, मेरी सहायतार्थ अन्त्येष्टि संस्कार हो रहे हैं, मित्र सम्बन्धी मेरे लिए प्रार्थना कर रहे हैं, जबकि पापी आत्माओं को लगता है कि मेरे लिए कोई प्रार्थना नहीं कर रहा है जगलों काटेदार मार्ग तथा बर्फ की चट्टानों

मे हो कर मेरे कर्मों का फल देने को यमदूत मुझे लिए जा रहे हैं, आदि आदि।

यदि अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण श्रद्धा से नियत रूप से (शास्त्रविधि अनुसार) किए जाते हैं तो वियुक्त आत्मा को सहायता मिलती है।

पापी जनो का क्षण भर के लिए अन्तःचेतना विहीन होने से उन्हें दीर्घ काल तक नरक के कष्ट सहने पड़ते हैं और अनेक योनियों में जन्म लेने पड़ते हैं—वे दीर्घ काल तक वृक्ष-वेलि आदि भी हो जाते हैं।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भगवान कृष्ण ने शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के मार्ग बताए हैं, अर्थात् देवयान एवं पितृयान। ये सनातन मार्ग माने गए हैं।

"शुक्ल कृष्णे गतीमते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥"-8-26 वां

इनमें से एक मार्ग (शुक्ल) से गया हुआ योगी पुनः जन्म नहीं लेता तथा दूसरे (कृष्ण) से गया हुआ पुन. संसार मे आता है अर्थात् जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है।

आगे कहते हैं कि इन दोनों मार्गों को तत्व से जानने वाला योगी-साधक-मोहित नहीं होता अर्थात् मार्ग से विचलित नहीं होता।

"वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥" - 8-28

अर्थात् वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दान आदि करने से जो पुण्य फल कहा है—इस रहस्य को तत्व से जानने वाला योगी उस सब को उल्लंघन करके सनातन पद प्राप्त करता है।

मृत्यु के पश्चात् जीव अपने कर्मों के अनुसार स्थिति प्राप्त करता है। जीव में जो भी विचार शक्ति का रूप अर्थात् विश्वास रहता है, समयानुसार वही मृत्यु पश्चात् प्रति फलित होता है—अन्तःकरण ही फल देता है। देवी सरस्वती कहती हैं कि मैं तो जीव की बुद्धि और प्राण शक्ति की देवी हूँ, मै किसी के लिए कुछ नहीं करती। तभी यह कहावत प्रसिद्ध है कि "मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।"

पुनर्जन्म स्वप्न से जागने के समान है। जिस प्रकार स्वप्न में जन्म, मृत्यु और नाते रिश्ते सब कुछ अल्प काल में हो जाते हैं, और प्रेमी के वियोग में समय बहुत लम्बा अनुभव होता है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् जीव अनुभव किए हुए और न किए हुए पदार्थों को पल भर में विचार लेता है और तुरन्त उन्हें वह यथार्थ समझने लगता है।

दूसरी ओर, समय का कोई निश्चित माप नहीं होता। जिस प्रकार विश्व और सृष्टि केवल दृश्य मात्र है, क्षण और युग भी कल्पना मात्र है—यथार्थ नहीं। पल मात्र में जीव मृत्यु का अनुभव कर लेता है, पहले क्या हुआ था वह भूल कर अनन्त चेतना में सोचने लगता है कि "मैं यह हू, मैं वह हूं—मेरी यह अवस्था है" आदि। इस दुनिया और दूसरी दुनिया के अनुभवों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं रहता, क्योंकि ये सब. शुद्ध चेतना में विचार के रूप में, ये एक ही समुद्र में उठा दो लहरों के समान हैं।

वह अणु रूप सूक्ष्म शरीर जिसमें वृत्तियां एवं स्मृतियां रहती हैं, उसे जीव कहते हैं, वह वही वायु मण्डल में रहता है जहाँ, मृतक शरीर पड़ा था, उसे प्रेतात्मा कहा जाता है। वह जीव अब तक जो देख रहा था, उन विचारों को छोड़ कर अन्य बातों को स्वप्न अथवा दिवास्वप्न रूप में देखने लगता है। अल्पकालीन चेतनावस्था के पश्चात् जीव कल्पना करने लगता है कि उसने अन्य शरीर प्राप्ति कर ली। दूसरे जन्म का संसार उसे दृष्टि आने लगता है।

लीला की कहानी में सरस्वती देवी लीला से कहती हैं हे लीला इस प्रकार की प्रेतात्माओं

के मुख्य छः प्रकार हैं। श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा अतिश्रेष्ठ और निम्न, निम्नतर तथा अति निकृष्ट।

सामान्य श्रेष्ठ जन स्वर्ग में जा कर अपने शुभकर्मों का फल भोग कर पुनः पृथ्वी पर अच्छे परिवार में जन्म लेते हैं। कुछ और श्रेष्ठ लोग देवताओं के लोक में जाकर कुछ समय बाद पृथ्वी पर उच्च् धार्मिक ब्राह्मण आदि कुल में जन्म लेते हैं जहां उन्हें अपने शुभ कृत्यों और साधनाओ को आगे बढाने का अवसर मिलता है। जैसा कि भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न पर बताया है—

"प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥" -6-41, 42

अर्थात् योगभ्रष्ट हुआ व्यक्ति पुण्य लोक प्राप्त कर के कुछ काल वहां रहने के पश्चात् पवित्र भाव वाले समृद्ध घर में जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में होता है—ऐसा जन्म भी उस लोक में दुर्लभ है।

सामान्य पापी को मनुष्य की योनि उसकी वासनाओं के अनुसार शीघ्र मिल जाती है—वह स्वप्नो की दुनिया के समान अपने कर्म फल का अनुभव करता है। जो कम पापी है वह दीर्घकाल तक पत्थर के समान बेहोशी की अवस्था में रह कर पशु-पक्षियों की योनिएं भोगते हैं, बाद में उसे पुन मनुष्य योनि प्राप्त होती है। जो अत्यधिक पापी है वह मृत्यु के बाद निरन्तर नरक की यातनाए भोगते हैं—कीड़े-मकोड़े, पक्षी और पशुओं की अनेक योनियां भोगने के बाद उसे मनुष्य योनि मिलती है।

मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त धर्मात्मा पुरुष को भी स्वर्गीय सुख भोगने के पश्चात अपने शुभ अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये उपदेवताओं के लोकों में आना पड़ता है।

ये सब मृतक अथवा विलग हुई आत्माएं अपने ही कर्मों का फल भोगती हैं। सर्वप्रथम यह विचार आता है कि मैं मर गया हूँ, फिर यह कि मैं यम के दूतों द्वारा ले जाया जा रहा हूँ। (पूर्व वर्णन अनुसार) धार्मिक जन को अनुभव होता है कि स्वर्ग को जा रहे हैं और पापी को यह कि यम के दरबार में खड़े हैं और चित्रगुप्त हमारे कर्मों का गुप्त लेखा देख रहा है, उनके पूर्व कर्मों को आका जा रहा है।

जो कुछ जीव देखता है वही अनुभव करता है, क्योंकि इस शून्य शुद्ध चैतन्य का समय व कर्म आदि कुछ नहीं है। तब जीव सोचता है कि मैंने स्वर्गीय सुख अथवा नरक की यातनाएं भोग ली अब मैं यम के निर्णय के अनुसार पशु-पक्षी-कीड़ा-चींटी अथवा मनुष्य रूप में पैदा हो गया हू। वायु, वर्षा और भोजन में होता हुआ जीव पुरुष के शरीर में भोजन के द्वारा प्रवेश करता है और इस संसार में आने के लिए स्त्री को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार वह नया जन्म लेता है—यह मृत्यु और पुर्नजन्म की प्रक्रिया सदा चलती रहती है, जब तक कि आत्म ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति न हो।

जीवात्मा के संकल्प से मृत्यु होती है। आत्मा ईश्वरीय अंश है, अतएव ईश्वर की इच्छा से ही जीव के शरीर की मृत्यु का निर्णय होता है। परन्तु ईश्वर की इच्छा जीव के कर्मों एवं भावनाओ के अनुसार होती है। ईश्वर डिक्टेटर नहीं, वह परम दयालु, करुणा-सागर एवं न्याय-मूर्ति है। यह ससार मन के संकल्पों पर आधारित-शुभ या अशुभ. जो भी जीव के अपने संकल्प होते हैं. उन्ही के अनुसार ईश्वरीय विधान बनता है तदानुसार मृत्यु का निर्णय होता है और आगामी जीवन की स्थितिया बनती हैं अतएव मनुष्य को सदैव सावधानीपूर्वक शुभ सकल्पा द्वारा शुभ सस्कार अर्जित

करना वांछनीय है। लीला की कहानी के द्वारा महर्षि वसिष्ठ ने मृत्यु और पुनर्जन्म की सम्पूर्ण प्रक्रिया साक्षात् रूप में प्रदर्शित करके राम को समझा दिया है कि मृत्यु केवल शरीर की होती है। जीवन का सार तत्व जो शुद्ध चैतन्य है, वह शरीर को छोड़ कर वायु मण्डल में मण्डराता है, फिर यम के दरबार में उस के कर्मों के आधार पर निर्णय होता है। देवी सरस्वती की कृपा से लीला समाधिस्थ होकर अपने तीन जन्म देख सकी। पूर्वजन्म में उसका पति वसिष्ठ एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह स्वय अरुन्धती नाम की पतिव्रता नारी थी। वे पर्वत ग्राम नाम के गांव में गउए पालते थे। उन की चित्तशुद्धि और धर्म परायणता के फलस्वरूप दोनों की वासना के अनुसार वे राजा पद्मा और रानी लीला हुए। पद्मा के लड़ाई में मारे जाने पर अगले जन्म में वह राजा विदूरथ हुआ। उस जन्म में भी वह (विदूरथ) धर्मनिष्ठ प्रजा पालक था।

लीला को दिए हुए सरस्वती देवी के वरदान के फलस्वरूप विदूरथ के लड़ाई में मारे जाने पर उसकी आत्मा वापिस पद्मा के शरीर मे प्रवेश कर गई। अतएव विदूरथ की मृत्यु के समय के मन के भाव, शरीर छोड़ कर आत्मा के प्रयाण की प्रक्रिया और बाद की स्थिति पर प्रकाश डाल कर साक्षात् मृत्यु और पुनर्जन्म का चित्र अंकित किया गया है।

विदूरथ शरीर छोड़ने वाला था। तब देवी सरस्वती के साथ खिड़की के छिद्र में होकर लीला पहुच गई। देख कर सरस्वती से कहने लगी कि मेरा पति इस भौतिक शरीर से मुक्त होने के लिए कैसा छटपटा रहा है। वसिष्ठ जी कहते हैं–वह अनुभव कर रहा था कि अपने वांछित पद्मा के शरीर में प्रवेश हेतु पहुंचने के लिए लम्बा मार्ग तय करना होगा। आगे मरते समय की स्थिति का चित्र अंकित करते हैं।

"विदूरथ के नेत्र शान्त हो गये, ओंठ सूख गए और उस का सारा शरीर कठोर पड़ गया। उसकी श्वांस नासिका में को जोर जोर से चलने लगी मानो शहद की मक्खियों का भिन्न भिन्न शब्द हो। उसकी इंद्रियाँ निर्जीव हो गई। (कार्य बंद कर दिया)। जैसे चिड़िया एक पेड़ से दूसरे पेड को उड़ जाती है, इस प्रकार विदूरथ की आत्मा शरीर को छोड़ कर अपनी वासनाओं के अनुसार निर्मित सूक्ष्म मार्ग से प्रस्थान कर गई।"

कुछ देर बेहोशी जैसा अनुभव करने के बाद विदूरथ की आत्मा को लगा कि वह शरीर में है और यम के दूतों द्वारा मार्ग दर्शन मिल रहा है और अंत में यम के दिव्य दरबार में पहुंचा। वहा उसने यम को कहते हुए सुना कि "इस आत्मा को देवी सरस्वती का प्रसाद प्राप्त है, अतः यह पापियों के लोक में नहीं जाएंगे।" यम ने विदूरथ की आत्मा को पद्मा के लोक में ले जाने के लिए अपने दूतों को आदेश दिया, जिससे वह अपने पहले शरीर (पद्मा के शरीर) में प्रवेश कर सके। अत्यन्त लम्बी दूरी पार करते हुए अनेकों लोकों की यात्रा के पश्चात् वह पद्मा के संसार में पहुँचा, यह सब उस की अपनी वासना के आधार पर हुआ।

शुद्ध चित्त की वासनाओं के अनुरूप फल प्राप्ति होती है, वस्तुतः शुद्ध चैतन्य ही वासनाओं का रूप धारण कर लेता है। अपने पुण्य कर्मो के फलस्वरूप ही आत्मा यह अनुभव करने लगी कि मेरे परिजन व संबंधी मेरी आत्मा के उत्थान के लिए प्रार्थना एवं अन्तयेष्टि संस्कार कर रहे हैं।

लीला (विदूरथ की पत्नी) देवी सरस्वती के साथ सूक्ष्म शरीर द्वारा आकाश मार्ग से विदूरथ की आत्मा का अनुसरण करती हुई पद्मा के महल में पहुँची जहां राजा पद्मा का शरीर फूलों से ढक कर सुरक्षित रक्खा हुआ था। देवी सरस्वती ने विदूरथ की आत्मा को उस शरीर में प्रवेश करने की अनुमति दी और वह आत्मा इस प्रकार पद्मा के शरीर में प्रवेश कर गई जैसे बांस के अंकुर (**Reed**) में वायु प्रवेश करती है। जिस प्रकार थोडी सी वर्षा की बोछार से मुरझाया हुआ कमल खिलने लगता है उसी प्रकार पद्मा के अग जीवित हो उठे उसके मुख की काति चमकने लगी

और सारा शरीर जिसने मृत्यु से भयंकर रूप धारण कर लिया था, जीवन से फड़कने लगा। उसने नेत्र खोले और धीरे-धीरे उठ कर बैठ गया। उसे ऐसा अनुभव हुआ मानों नींद से जागा हो। सारा कमरा प्रकाश से चमक रहा था। दो देवियों (देवी सरस्वती और लीला) को सामने देख कर उन्हे प्रणाम किया।

देवी ने संकेत द्वारा मंत्री को जगाया। उसने राजा का परिचय देते हुए हर्ष प्रकट किया। देवी ने राजा के सिर पर हाथ रक्खा। इससे मन का अन्धकार दूर हो गया और उसे अपने पूर्व जन्म की सारी स्मृति जागृत हो गयी। उसे स्मरण हो आया कि राजा पद्म का ही पुर्नजन्म है, और उस जन्म की सारी घटनाएं याद आ गई। अपने पूर्वज, अपना बचपन, युवावस्था आदि स्मरण कर के आश्चर्य प्रकट करने लगा। उस पर देवी ने बताया कि पद्म रूप में मृत्यु हुई, यह एक बेहोशी जैसा अनुभव था।

मृत्यु आदि के अनुभव प्रलय रात्रि के समान हैं। जब प्रलय का अन्त होता हे तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक सृष्टि के अनुरूप जागता है, जो उसके विचारों एवं भ्रान्तियों का मूर्त रूप होता है। जिस प्रकार सार्वभौम सत्ता प्रलय के बाद सृष्टि रचना करती है, उसी प्रकार व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् अपने संसार को रचता है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जैसी सत्ताएं तथा सन्त महात्मा प्रलय के बाद मुक्त हो जाते हैं और उन को समृति के आधार पर नए चक्र का निर्माण नहीं होता है, परन्तु अन्य जनों का मृत्यु के बाद का ससार उनके पूर्व जन्म के मन पर अंकित विभिन्न संस्कारों के आधार पर निर्मित होता है।

मनुष्य शारीरिक और मानसिक शक्तियों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु समस्त शक्तियां अथवा भाव-इच्छा, चेतना, जीवित रहने की तमन्ना आदि प्रबल शक्तियां हैं जो समस्त चेतन सत्ता को हर समय सक्रिय रखती हैं। शरीर की मृत्यु होने पर इसी प्रकार जीवन क्रम चालू रहता है।

इस प्रकार मृत्यु और पुनर्जन्म के रहस्य को भली प्रकार समझा कर मुनि वसिष्ठ ने मानव आत्मा की अमरता और देह की नश्वरता पर प्रकाश डाला है। इस ज्ञान के अभाव में ही मृत्यु को भयंकर एवं शोक का कारण माना जाता है।

3. जीवात्मा के तीन शरीर

मानव आत्मा के तीन स्वरूप हैं जिन्हें शरीर कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा बिना शरीर।

दृश्यमान शरीर स्थूल है जो जल, वायु, अग्नि, आकाश और पृथ्वी, पाँच तत्वों से निर्मित है। यह अन्नमय और प्राणमय दो कोषों में विभाजित है। यह दोनों कोष मृत्यु के समय अलग होते हैं।

सूक्ष्म शरीर 19 तत्वों का बना है। पॉच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियॉ, पॉच प्राण, मन, बुद्धि, अहकार और अन्तःकरण। सूक्ष्म शरीर दुःख-सुख आदि अनुभव करने का साधन है। मोक्ष प्राप्ति पर ब्रह्म में लीन होने पर ही इसका अंत होता है। कारण शरीर को बीज शरीर भी कहते हैं क्योंकि सूक्ष्म और स्थूल शरीर का कारण यही है।

सूक्ष्म शरीर आत्मा पर अज्ञानतावश थोपा हुआ अनादि अध्यास (Superimposition) है। यह सच्चिदानन्द आत्मा की समस्त क्रियाओं का साधन बना हुआ है। इसमें पूर्व जन्म के सस्कार रहते हैं। इससे आत्मा पूर्व कर्मों के फल भोगती है- यद्यपि आत्मा स्वयं निर्लिप्त रहती है- इन्द्रियों की एव श्वास प्रश्वास आदि क्रियाओ से आत्मा प्रभावित नहीं होती

आत्मन् और ब्रह्मन् के मध्य दृश्यमान अन्तर होने का कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर है। ब्रह्म के स्वरूप में भेद नहीं है, स्थूल और सूक्ष्म शरीर में भेद है। जीव के सूक्ष्म शरीर की स्थिति ईश्वर से हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध की भांति है। जैसे ईश्वर ब्रह्माण्ड रुपी वस्त्र को हिरण्यगर्भ रूप धागे से बुनता है, इसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्न संसार को मन से (जो सूक्ष्म शरीर का प्रमुख अग है।) बुनता है।[1]

सूक्ष्म शरीर—सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, अंहकार और पंच तन्मात्राएं निहित हैं। आत्मा निराकार है, किन्तु यह सूक्ष्म शरीर सृष्टि में जड़, चेतन रूप में भ्रमण करता रहता है। पूर्ण शुद्धि होने तक अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की स्थिति बनने तक अनेक योनियों में भटकता रहता है।

पंच तत्वों से निर्मित स्थूल देह प्राणवायु निकलने पर निर्जीव (जड़) हो जाना है— जिसे मृत्यु कहते हैं। सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार सहित आत्मा के साथ चला जाता है और कर्मानुसार अन्यत्र जन्म लेता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर का कभी अन्त नहीं होता मोक्ष प्राप्ति पर ही जन्म मरण के चक्र से छूट कर शरीर समाप्त होता है।

राम का प्रश्न— भगवन् ! आप ने कहा, ब्रह्मा जी का वपु पृथ्वी आदि तत्वों से रहित संकल्प मात्र है, तो उस का कारण स्मृति संस्कार क्यों न हुआ ? जैसे हम को और जीवों की स्मृति है, वैसे ही ब्रह्मा जी को भी होनी चाहिए।

उत्तर—हे राम जी ! ब्रह्म जी अद्वैत, अजन्मा और आदि-मध्य-अन्त से रहित हैं। वह शुद्ध बोध रूप हैं और आत्म तत्व ही ब्रह्मा रूप हो कर स्थित हुआ है। अपने आप से होने के कारण उन का नाम स्वयंभू है। स्मृति संस्कार उसी का होता है, जिसने आगे भी देखा हो। ब्रह्मा जी का शरीर अकारण है, अतः केवल अन्तवाहक है। अन्य जीव जो सकारण हैं, उन के दो शरीर होते हैं। अन्य जीवों का कारण ब्रह्म है। ब्रह्मा जी को अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं हुआ। वह सदा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित है, इसलिए वह अन्त वाहक है और दृश्य को अपना संकल्प मात्र मानते है। जिन्हें दृश्य में दृढ़ प्रतीति है, उन्हें आधिभौतिक कहते हैं।

स्मरणशक्ति से सम्पन्न होने के कारण आत्मा सकल्प-विकल्प सांसारिक विचार और आकांक्षाओं में उलझ जाती है और मन को उत्पन्न करके उसके साथ संकल्पों से खेलती है। धीरे धीरे आत्मा इन्द्रियों और संबंधित विषयों के सम्पर्क द्वारा स्थूल शरीर एवं सीमित वातावरण से एकरूप हो जाती है। यह स्थूल शरीर भी मूलतः मानसिक है। अतएव स्थूल और सूक्ष्म शरीर का भेद बुद्धि की सूक्ष्मता के अभाव में हो जाता है। सूक्ष्म बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा दृष्टि से स्थूल शरीर एव दृश्यजगत का कोई अस्तित्व प्रतीत नहीं होगा।

स्थूलता का आरोपण सूक्ष्म शरीर पर हुआ है। सूक्ष्म शरीर कारण शरीर पर आरोपित है एव कारण शरीर आत्मा पर आरोपित है। यथार्थ सत्य केवल आत्मा है जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदैव रहती है तथा अन्तःकरण की तीनों अवस्थाओं, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति मे जिसका अस्तित्व रहता है। इस प्रकार आत्मा, अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त संसार का कोई अस्तित्व नही। यह दृश्य जगत मन का उत्पन्न किया हुआ भ्रान्ति मात्र है। आत्मा का प्रकाश मन पर पडता है, तब मन मे पदार्थ भावना उत्पन्न हो कर इन्द्रियों को प्रेरित करती है। वस्तुतः पदार्थ सूक्ष्म शरीर मे प्रतिबिम्ब मात्र है। पदार्थ स्वप्न के पदार्थों की भाँति मिथ्या है। किन्तु इन्हें सत्य माना जाता है विषयाकार वृत्ति से जिस प्रकार पानी खेत बन जाता है, उसी तरह मन पदार्थों का रूप ले लेता है।

— स्मृति —ामी पृ

मन इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा के प्रकाश से देखता है। केवन मन से देखना सम्भव नहीं।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का आधार आत्मप्रकाश है। मृतक की इन्द्रियाँ संसार के पदार्थों को देखती रहती हैं, किन्तु मन की क्रियाशीलता बंद होने और आत्मा के अन्य शरीर में चले जाने के कारण पदार्थ दृष्टि नहीं आते। आत्मज्योति के आधार पर ही मन की प्रेरणा से इन्द्रियों की क्रियाशीलता अनुभव होती है।

लीला की कहानी में-राजा विदूरथ युद्ध में जख्मी होने पर जब अपने महल में चला गया तो देवी सरस्वती और लीला उड़ कर महल की खिड़की के एक छिद्र मे से महल में प्रवेश कर गयीं। इस पर राम को जिज्ञासा हुई कि यह कैसे सम्भव हुआ।

वसिष्ठ जी बताते है कि वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य मानसिक अर्थात् सूक्ष्म शरीरधारी ही है। जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि मैं सर्वव्यापी आत्मा हूँ, स्थूल शरीर नहीं, तब वह सूक्ष्मशरीर से चाहे जहाँ प्रवेश पा सकता है किन्तु जिन्हें स्थूल रूप में ही आत्मा का विश्वास है, वे ऐसा नही कर सकते।

योगी जानता है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म पर ही आधारित है। अतः वह चाहे जो रूप धारण कर सकता है। ज्ञानी पुरुष के परम सत्ता से एक रूप होने पर उस की शक्ति अनन्त हो जाती है। उनकी पहुँच से कुछ भी बाहर नहीं है, क्योंकि वे स्थूल देह से एक रूप नहीं होते।

यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर आत्मा द्वारा धारण किए हुए भ्रान्ति मात्र हैं, फिर भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म (मानसिक) में स्थूल की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है। सारी सृष्टि प्रकृति से मानसिक ही है- सदैव सूक्ष्म। किन्तु मन की सीमितता के कारण स्थूल दृष्टि आती है।

अज्ञानता के कारण व्यक्तिगत आत्मा शुद्ध अन्तःकरण के संसार का अस्तित्व अनुभव करने लगता है और उसे नदी, पहाड, समुद्र तथा नक्षत्रों की दुनिया दृष्टिगत हो जाती है। वृक्ष की खोखल मे पक्षी की भांति व्यक्तिगत जीवात्मा जन्म मरण रोग तथा सुख-दुखों का अनुभव करने लगती है। यह संसार मन के संकल्पों से उत्पन्न भाप की भाँति है- इसमें ठोस कुछ नहीं है। सरस्वती और लीला ने अपने आध्यात्मिक सूक्ष्म शरीरों को पहिचान लिया था। इसलिए वे सूक्ष्म शरीरो द्वारा छोटे छिद्रों में प्रवेश कर सकीं।

अन्तःकरण की तीन अवस्थाओं को स्वामी शिवानन्द ने इस प्रकार समझाया है कि जीवात्मा की स्थूल एवं सूक्ष्म अवस्थाएं कारण शरीर के ही परिणाम हैं। बाहर दृष्टि आने वाला स्थूल शरीर है। यह स्थूल शरीर मन, इन्द्रियों और प्राण से निर्मित सूक्ष्मशरीर द्वारा संचालित होता है। कारण शरीर बीज तत्व है। इस बीज से सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की उत्पत्ति हुई है।

उदाहरणार्थ—सन्तरे का छिलका स्थूल शरीर है। भीतर का गूदा अथवा सार भाग सूक्ष्म शरीर है और अत्यन्त भीतरी भाग बीज, जो गूदे एवं छिलके को जन्म देता है, वह कारण शरीर है। यह एक स्थूल उदारहरण है। सांसारिक दृष्टि में स्थूल रूप ही दृष्टि आता है और उसी को सत्य माना जाता है, सूक्ष्म और कारण शरीरों का संसार की दृष्टि में अस्तित्व ही नहीं है।

(सदसत समझाते हुए— भगवद्गीता- स्वामी शिवा॰ 9- 19)

वस्तुतः शुद्ध चैतन्य सूक्ष्म शरीर (पुर्यष्टक) में ही प्रतिबिम्बित होता है, स्थूल शरीर में नही, जैसे शीशे में प्रतिबिम्ब पड़ता है, पत्थर में नहीं। अतएव मन, बुद्धि, अहंकार, पंच प्राण और इन्द्रियों सहित जब सूक्ष्म शरीर निकल जाता है तो स्थूल शरीर जड़ हो जाता है जिसे मृत्यु कहते हैं।

पंचकोष—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में पाँच कोष अर्थात् पर्ते हैं, जिन से आत्मा रूपी मणि ढकी हुई है

1 कोष—स्थूल शरीर है जो पच तत्वों से बना हुआ अन्न से सचालित होता है

2. प्राणमय कोष-रजोगुण से बना है।

3. मनोमय कोष-सत्व गुण से बना है।

4. विज्ञानमय कोष—बुद्धि रूप मे काम करता है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष से सूक्ष्मशरीर बना है। ये सभी कोष निर्जीव हैं- इन की अपनी कोई शक्ति नहीं है। ये आत्मा से प्रकाश प्राप्त करके शरीर का संचालन करते हैं।

5. आनन्दमय कोष कारण शरीर बनाता है—बीज रूप। यह प्रकृति का विकार है- पूर्वजन्म के शुभकर्मों के फलस्वरूप बनता है- परन्तु सभी आत्मा से भिन्न हैं- आत्मा स्वयं प्रकाशमान है और उसी के प्रकाश से ये कोष कार्य करते है।

स्वामी शिवानन्द ने पंच कोषों को प्याज से उपमा दी है- जैसे प्याज के सारे परतों को हटा देने पर कुछ नहीं रहता, वैसे ही पंच कोषों को हटा देने पर केवल आत्मा का प्रकाश रह जाता है। आत्मा परिवर्तन रहित है-स्वयं प्रकाशित। पंचकोषों से ऊपर उठ कर अपने सत् चिद् आनन्द स्वरूप में स्थित हो सकते है।

4. समय और दूरी

राम की विरक्ति का वर्णन करते हुए वसिष्ठ जी ने काल की क्रूरता एवं महान शक्ति का दिग्दर्शन कराया है। राम कहते हैं—मुनिवर ! यह काल चक्र निरन्तर मानव आत्मा की आशाओ और हौसलों पर प्रहार कर के नष्ट करता रहता है। अदृश्य रूप से ही वर्ष, महीने, दिन, घन्टे और मिनटों के रूप में समय अपना प्रभाव डालता हुआ अखिल विश्व को वश में किए हुए है- कोई पदार्थ अथवा स्थिति परिस्थिति काल की क्रूरता के चक्र से नहीं बचती।

बड़े-बड़े महिमाशाली व्यक्तित्व काल के गर्भ में समा गए। सम्पूर्ण संसार चक्र जो ब्रह्माण्ड के आधार पर स्थित दृष्टि आता है, समय से व्याप्त है। प्रत्येक वस्तु अथवा स्थिति समय की गति से उत्पन्न व नष्ट होती है।

सूर्य को अपना नेत्र और दिन-रात्रि को पलक बना कर यह काल पता करता रहता है कि कौन कौन पदार्थ अथवा प्राणी पके हुए नष्ट होने को तैयार हैं। यह काल युवावस्था को और जीवन को नष्ट करने वाला है- इसकी रहस्यपूर्ण गति मानव बुद्धि की पहुंच से बाहर है- यह सारी सृष्टि मे सर्वाधिक शक्तिशाली है।

हे गुरूवर ! मैं उस परम सत्ता को प्राप्त होना चाहता हूँ जो काल चक्र के बाहर हो और जहाँ अनन्त स्वतन्त्रता रहे।

इसी प्रकार दूरी का भी वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अभ्यासगत जीवन के लिए मील, फर्लांग और गज आदि में दूरी का विभाजन कर लिया गया है।

श्री वसिष्ठ जी कहते है कि दूरी के तीन रूप होते हैं—-

1. अविभाजित चैतन्य की असीम दूरी।
2. विभाजित अन्तःकरण की सीमित दूरी । तथा
3. स्थूल दूरी, जिसमें भौतिक संसार का अस्तित्व है।

प्रथम प्रकार को चिदाकाश कहते हैं जो बाहर, भीतर, सर्वत्र छाई हुई है। यह यथार्थ एव दृश्य मात्र—दोनों की साक्षी मात्र है। दूसरी, सीमित दूरी को चित्ताकाश कहते हैं। यह समय का विभाजन पैदा करती है, जो सब जीवों में व्याप्त है और जो सब प्राणियों के कल्याण की आकाक्षी है

भूताकाश अथवा स्थूल दूरी वह है जिसमें वायु जल आदि अन्य तत्व विद्यमान हैं दूसरी

दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है - ये प्रथम में ही सम्मिलित हैं - अज्ञानी जीव को समझाने के लिए यह विभाजन दर्शाया गया है।

ज्ञानी मनुष्य जानता है कि केवल एक सत्य है—असीम अन्तःकरण, अविभाजित चैतन्य की असीम दूरी, उसका कोई विभाजन नहीं है। समय और दूरी की दुनिया हमारे मन का विस्तार है - वास्तव में इनका कोई अस्तित्व नहीं। आत्मा ज्ञान होने पर यह समय - दूरी लुप्त हो जाती है - आत्मा ज्ञान के पश्चात् योगी हजारों वर्ष समाधिस्थ रह कर पुनः अपने कर्तव्यों में लग जाते है - उन्हे समय व स्थान का अनुभव ही नहीं होता। योगवासिष्ठ में शुक्र, शुक्राचार्य, राजा जनक, गाधी और उद्दालक आदि की कथाएं इस सत्य के प्रमाण हैं। इसी प्रकार लीला की कहानी में भी लीला के पूर्व जन्म का विवरण सुनाने पर आश्चर्यचकित हुई लीला देवी सरस्वती से कहती है— देवी। पर्वत ग्राम में वसिष्ठ और अरून्धति की मृत्यू को अभी आठ दिन हुए हैं जबकि मैं और पद्म दीर्घ काल इस संसार में रह चुके हैं - तो कैसे विश्वास हो कि हम वही दम्पत्ति हैं ?

लीला की कहानी में इस प्रकार की आश्चर्यजनक घटनाएं सुन कर राम समय का रहस्य पूछते हैं कि भगवन ! यह कैसे हुआ कि कभी आठ ही दिन में सम्पूर्ण जीवन काल बीत गया, कभी महीने भर में। क्या विभिन्न ब्रह्माण्डों में अलग अलग समय के मापदण्ड हैं ?

वसिष्ठ जी समझाते हैं कि हे राम ! मनुष्य अपने मन में जैसा सोचंता है, वैसा ही अनुभव करने लगता है। आन्तरिक भावना के अनुसार अमृत को विष और मित्र को शत्रु समझने लगता है। प्रिय से वियुक्त होने पर मनुष्य को समय बहुत लम्बा अनुभव होता है और सुख में क्षणिक सा प्रतीत होता है। यश राजा हरिश्चन्द्र को अपनी स्त्री-पुत्र से वियोग होने पर एक रात्रि भर 12 वर्षों के समान अनुभव हुई थी।

स्वप्न के क्षण युग समान हो जाते हैं। मनु का जीवन काल ब्रह्म के डेढ़ घन्टे भर का था, ब्रह्मा का जीवन काल विष्णु का एक दिन। विष्णु का जीवन काल शिव का एक दिन था परन्तु योगी का अन्तःकरण सीमाओ के पार चला गया हो, उसके लिए न दिन है, न रात।[1] इसी प्रकार दूरी का कोई अस्तित्व नहीं। सर्वव्यापी असीम सत्ता में दूरी का विभाजन हो ही कैसे सकता है- दूरी केवल शरीर मन एवं पदार्थों के संबंध में मानी जाती है।

समय और दूरी से ऊपर उठ जाओ हे राम ! दूरी रहित स्थान में प्रवेश करो जहाँ सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होगा।

ब्रह्म ही समय रूपी शक्ति का रूप धारण करता है और संसार की उपाधियों में परिवर्तन की क्रीड़ा करता रहता है। मानव हृदय में अनुभव होने वाले असंख्य भाव और वृत्तियों के रूप मे समय की शक्ति का प्रकटीकरण होता है—कभी आनन्दित कभी भौचक्कापन—इस प्रकार अथक नृत्य चलता रहता है। योग मार्तण्ड स्वामी ज्योतिर्मयानन्द ने समय रूपी शक्ति का मनोहारी रूपक बाधा है—आप लिखते हैं,

'वर्षा रूप मे बौछारें समय शक्ति का पसीना हैं, सूर्य-चन्द्रमा उसके नेत्र हैं, असंख्य सितारे मानो उसके मुख पर पसीने के कण झलक रहे हैं तथा स्वच्छ आकाश समय की मन्द मुस्कान रूप मे प्रकट हो रहा है। घण्टे, दिन, महीने, और वर्ष समय रूपी देह का श्रृंगार हैं।'[2]

महाभारत में महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को उपदेश देते हुए समय को एक महान

---

1 सुप्रीम योग खण्ड ' पृ० "1 ~~[illegible]~~

भाग 4 पृ० 143

रसोइया बताया है जो संसार चक्र के विशाल कढ़ाओं में सारे जीवों को पकाता रहता है- उन्हें उलट पुलट कर घुमाता रहता है और दिन-रात्रि के ईंधन से सूर्य रूप अग्नि प्रज्जवलित रहती है।[1]

कई युग आए और गये जो समय के रूप में क्षण थे, क्योंकि युग और क्षण में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दोनों ही समय का माप हैं। देवताओं के दृष्टिकोण से एक युग भी क्षण मात्र है। इसी प्रकार समस्त पृथ्वी भूमि तत्व का ही परिवर्तित रूप है।

काल के शाश्वत स्वरूप की योगी जन चित्त की एकाग्रता में साक्षात् अनुभूति कर लेते हैं। श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्द ने समाधि के क्षणों में अपनी पोयम 'ब्लिस आफ नान डवैलिटी' में लिखा है, मैंने प्रबल दरयाओं की भांति समय के प्रचण्ड वेग को प्रवाहित होते देखा है- मानो वर्तमान क्षण भर में भूत में खिसक जाता है एवं तुरन्त ही भविष्य वर्तमान बन जाता है। जल का सारा प्रवाह ही शाश्वता रूपी समुद्र मे प्रवेश कर जाता है।'

इस प्रकार समय का कोई अस्तित्व नहीं- प्रत्येक क्षण काल के गाल में समा जाता है।

5. शुद्ध चैतन्य ही यथार्थ सत्य है

रामचन्द्र जी पूछते हैं, भगवन् ! यह तो स्पष्ट है कि केवल ब्रहम का ही अस्तित्व है, फिर यह सन्त महात्मा और ज्ञानी पुरुष इस संसार में हुए ही क्यों, मानो यह परमात्मा का विधान था- और परमात्मा ही क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में वसिष्ठ जी समझाते हैं, हे राम ! एक अनन्तर्चेतना (Infinite Conscience) की शक्ति है - चित शक्ति- जो हर समय स्फुरित रहती है। सारी होने वाली घटनाओं, क्रियाओं का यथार्थ वही है, क्योंकि वह युगों के समय में समाई रहती है। ब्रह्माण्ड मे प्रत्येक पदार्थ की प्रकृति इसी शक्ति से निर्धारित होती है।

इस चित् शक्ति हो महाशक्ति भी कहते हैं, महाचिति (महा बुद्धि), महादृष्टि, महासत्ता, महाभाव तथा महास्पन्दन भी। इसी शक्ति के द्वारा प्रत्येक वस्तु के विशेष लक्षण निर्धारित होते हैं। यह शक्ति परम ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सन्त जन ब्रह्म और इस शक्ति का जो भिन्न रूप में वर्णन करते है, वह शाब्दिक है, शरीर और उसके अंगों के कथन की भांति।

जीवन के सारे अनुभव इस शुद्ध चैतन्य (आत्मा) पर चित्रित छाया रूप होते हैं। यह वासनाओं का जादू है जो इस भ्रान्तिपूर्ण मिथ्या संसार में पदार्थ सत्य जैसे दृश्य-मान होने लगते हैं।

यह सृष्टि मानों उस शुद्ध चैतन्य का स्वप्न रूपी नगर है। जिस प्रकार जीवित मकड़ी से निर्जीव जाला उत्पन्न होता है, इसी प्रकार चैतन्य आत्मा से इस निस्सार दृश्य जगत की उत्पत्ति हो गई है।

यह चित्त शक्ति ही आत्मा है। क्योंकि आत्मा सर्वशक्तिमान है, इसलिये जैसा-जैसा जिस-जिस पदार्थ का कुरना चिदात्मा में होता है, वही अनुभव में सत्‌रूप हो कर भासने लगता है। सारे तत्व और तन्मात्राएं चिति संवेदन के फुरने से स्थित हुए हैं।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और छठे मन के जो विषय हैं, वे सब असत् रूप हैं, आत्मसत्ता इन सब से अतीत है, वही शुद्ध चैतन्य है। जिस प्रकार स्फटिक शिला में वन, पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब

---

3. The spirit of time is like a great cook who is cooking in the vast caldrom of the world process. He is turning them one over and over again with the lades of months and seasons The sun is the fire which is kept burning by the fuel of day and n gh

पडता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप मे स्थित प्रकाश स्वरूप नित्य चेतन के अंतःकरण में इस जगत का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इस जगत को अपने संकल्प में धारण करने वाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन्न होता है, न विनष्ट होता है। न क्षीण होता है, न बढ़ता है - अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से रहित है। असत्स्वरूप यह जगत अज्ञान के कारण विशाल स्वप्न की तरह आत्मा में ही प्रतीत होता है।

अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह प्रर्यष्टक[1] रूप दृश्य समूह शुद्ध चिन्मय आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्म स्वरूप ही है, अन्य कुछ नहीं।

शुद्ध चैतन्य, आत्मा और ब्रह्म एक ही परम शक्ति के नाम हैं। यह शुद्ध चैतन्य ही भगवान, शिव, हरि, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, वरूण, यम, कुबेर और अग्नि आदि देवता हैं। परन्तु जो ज्ञानी हैं उन्हें विभिन्न रूपों की बजाय एक चित् शक्ति रूप में ही सब कुछ भासता है।

यह चित् शक्ति सदा चलायमान - स्फुरित रहती है- बिना स्पन्दन के वह यथार्थ नहीं है स्पन्दन चित् शक्ति की प्रकृति है। यह स्पन्दन ही 'रूद्र' के नृत्य रूप मे अनुभव किया जाता है - यही स्पन्दन मेरे अपनी मानसिक स्फुरणा के कारण मुझे शिवनृत्य रूप में प्रतीत हुई - और इस प्रकार शिव जी का नृत्य शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत ही हुआ।

पर्वत, वन, पृथ्वी-आकाश - ये सब अनन्त चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं - सब का यथार्थ यही है, कुछ भी रूप धारण कर लें।

जब शरीर में जीव के प्रवेश करने पर विभिन्न अंगो में स्पन्दन होने लगता है- तब कहा जाता है कि शरीर जीवित है। सृष्टि के आरम्भ में ऐसे ही जीवित शरीर रहे हैं- जिन शरीरों में जीव प्रविष्ट हुआ किन्तु स्पन्दन नहीं हुआ, वे पेड़-पौधे रह गए। अनन्त चेतना के थोड़े से शरीर ही प्रज्ञा बुद्धि से युक्त होते हैं। यह प्रज्ञा बुद्धि शरीरों में प्रवेश करके आँख, कान आदि विभिन्न अंगों को उत्पन्न करती है।

यह चित् शक्ति जैसा सोचती है, वैसा ही रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार यह सब शरीरों में विद्यमान है - स्पन्दन जीवित शरीरों का लक्षण है और जड़ता निर्जीव पदार्थों का। इसी प्रकार ये सब शरीर अब भी हैं। चेतना और इसकी शक्ति के मध्य कोई विभाजन नहीं, जैसे पानी और उसकी लहर, शरीर और उसके अंगों की भांति अनन्त चेतना अथवा चित् शक्ति ही विभिन्न पदार्थ अथवा जीवों में अलग अलग रूपों में विद्यमान रहती है।

यह अनन्त चेतना न पैदा की जाती है, न नष्ट होती है, यह शाश्वत है और दृश्य संसार इस पर आरोपित है, जैसे समुद्र पर लहरें - विचारों से विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है - हवा, पानी, प्रकाश आदि रूपों में। जब पदार्थों को अनुभव करने वाला मन शान्त हो जाता है अर्थात् स्पन्दन नही होता - तब केवल असीम चेतन शक्ति रहती है।

मन के कारण यह चित् शक्ति विविधता के राज्य में पहुँच जाती है अर्थात् अनेक नाम रूप वाले जगत का रूप धारण कर लेती है। जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि मन अर्थात् चित्त भ्रान्ति है तो शुद्ध चैतन्य अपनी यथार्थ प्रकृति को प्राप्त करके पुनः आन्तरिक स्वतन्त्रता मे पहुँच जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

चित्त की उपेक्षा से संसार चक्र भी उपेक्षित हो जाता है - चित्त शक्ति ही चित्त को विकृत

---

1 मन, बुद्धि तथा इन्द्रिया सहित सूक्ष्म शरीर पुर्यष्टक ॰ है स्थूल शरीर मृत्यु होने पर पुर्यष्टक शरीर के बाहर चला जाता है और फिर अपने कर्मानुसार दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश पा लेता है

रूप में विकसित करता है और चित्त के द्वारा यह शुद्ध चैतन्य आत्मा के रूप मे ससार चक्र मे प्रवेश करती है।

यह चित्त शक्ति जीव को धारण करती है। जीव अहंकार के रथ पर सवार होता है, अहंभाव बुद्धि रूपी पक्षी पर सवार होता है और बुद्धि चित्त पर। चित्त प्राण रूप रथ पर सवार होता है, प्राण इन्द्रियों पर तथा इन्द्रियाँ देह रूपी रथ पर सवार होकर कर्मेन्दियों द्वारा क्रियाशील हो जाती हैं।

इस प्रकार सीमित हुआ शुद्ध चैतन्य अथवा चितशक्ति बन्धन में पड़ी आत्मा अनेक रथो पर सवार होती हुई संसार के चक्र तथा असंख्य सुख-दुख चित् शक्ति में ही रहते हैं किन्तु वास्तव मे यह सत्य नहीं - स्वप्न अथवा रेगिस्तान में मृग-मरीचिका की भांति प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार आइने में प्रकाश प्रतिबिम्वित होता है, पत्थर में नहीं, उसी प्रकार चित् शक्ति सूक्ष्म शरीर में प्रतिबिम्बित होती है, केवल स्थूल शरीर में नहीं। अतएव जब पुर्यष्टक (इन्द्रियों और मन बुद्धि सहित वासना और काम) अर्थात् सूक्ष्म शरीर देह छोड़कर मृत्यु के समय निकल जाता है तब शरीर जड़ हो जाता है।

अज्ञानता के प्रभाव से यह शुद्ध चैतन्य विश्व के रूप में परिणत होकर समय व दूरी मे सीमित हो जाती है। इस सत्य को वसिष्ठ जी ने गाधी ब्राह्मण के कथानक द्वारा समझाया है कि उसने अपनी भ्रान्ति की अवस्था में चाण्डाल का भेष धारण कर लिया, इसी प्रकार भ्रांति के कारण शुद्ध चैतन्य अपने आप को संसार चक्र में बंधा हुआ मानने लगता है। जिस प्रकार ऊंट कांटे की झाड़ियों को चबाने का आनन्द लेता है, नीम की कड़वी पत्तियां स्वादिष्ट मालूम होती हैं क्योंकि उसके मन में वैसी ही वासना रहती है। इसी प्रकार विकृत हुआ शुद्ध चैतन्य संसार के दुःखदायक पदार्थों में सुख ढूढ़ने लगता है।

वसिष्ठ जी के पूछने पर कि किस प्रकार भगवान की पूजा की जाए, जिससे सारे पाप नष्ट हो कर सद्गति को प्राप्त हों शिवजी ने आत्म तत्व को ही यथार्थ पूजा के योग्य बताते हुए समझाया है कि शुद्ध चैतन्य ही सब कुछ है, जो दृश्य जगत के रूप में आभासित है यही यथार्थ सत्ता है। इस सत्ता से ही माया के द्वारा संसार दृष्टि आता है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि के प्रकाश की किरणें फैलती हैं, इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म से प्रसारित होता है। आध्यात्मिक विचारणा के द्वारा संसार की यह-मिथ्या प्रकृति पहचानी जाती है। जब प्रज्ञा शक्ति के द्वारा संसार की उपेक्षा कर दी जाती है तब मनुष्य उस परम सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता अर्थात् सब कुछ ब्रह्म रूप में ही दृष्टि आता है।

यह संसार स्वप्न की दुनिया के समान प्रगट है। इसमें सत्य कुछ नहीं है। शुद्ध चैतन्य अनन्त और शाश्वत है। वह विविध रूपीय जगत रूप में दृष्टि आता है- पर्वत, जंगल, आकाश, पृथ्वी, नदिया अनेक प्रकार के जीव, ये सब कुछ वास्तव में शुद्ध चैतन्य ही हैं, और कुछ नही। जिस प्रकार स्वप्न में दीखने वाले पदार्थ जागृत अवस्था की चेतना के अतिरिक्त कुछ नहीं होते, उसी तरह यह संसार झूठी प्रकृति है।

शिवजी कहते हैं कि उस परम सत्ता का ज्ञान होना ही उसका पूजन है। 'ब्रह्मन्' आदि शब्दो से जो सत्य इंगित किया जाता है, वह आत्म चैतन्य ही है। उसी अन्तःचेतना का प्रकाश बुद्धि, मन और इन्द्रियों के रूप में प्रगट है। क्षणिक अभिव्यक्ति के कारण वह सीमित और आत्मा से भिन्न प्रतीत होती है जिसे अहं का रूप मान लिया जाता है - यह ज्ञान हो जाना ही यथार्थ शिव-पूजन है - धर्म ग्रन्थों में इस आत्म चैतन्य के लिए विभिन्न शब्द ब्रह्मन्, शिव, आत्मा, परमात्मा, परम सत्ता आदि प्रयुक्त हुए हैं ये शब्द अलग अलग प्रतीत होते हैं परन्तु एक ही शुद्धचैतन्य आत्मा के नाम हैं

यह अहंभाव जब प्राण की शक्ति से मिल कर समय और दूरी उत्पन्न करती है, तो जीव बन जाता है - फिर वह जीव विचारो का अनुसरण करता हुआ अज्ञानता से ढक जाता है।

यह सब अति वाहक शरीर कहलाता है। सब कुछ पदार्थ रूप में दृष्टि आने लगते है- वास्तव में हैं कुछ नहीं, शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त इस सत्य का ज्ञान होने पर यह सब कुछ परमात्म रूप में प्रकाशमान हो जाता है और संसार का प्रकट रूप मृगमारीचिका की भांति मिथ्या प्रतीत होने लगता है।

शिवजी कहते हैं कि ये सारा ब्रह्माण्ड, देवी-देवता, जीवित प्राणी और अन्य पदार्थ आत्मसत्ता के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यह ज्ञान हो जाना ही परम सत्ता का पूजन है। वह परम सत्ता सदैव विद्यमान है, वह तुम्हारे हृदय में अन्तरात्मा के रूप में बसी हुई है। वही शरीर और मन की सारी क्रियाओं का आधार है। अपने हृदय में उस शुद्ध चैतन्य को खोजना ही सब से बड़ी पूजा है।

जिस प्रकार दीपक या लैम्प अपने प्रकाश से अंधकार मिटा देता है और कमरे में रक्खे हुए पदार्थ दृष्टि आने लगते हैं, उसी प्रकार अचल आत्मा सब को प्रकाशित करने वाला है। जिस प्रकार आइने में जंगल, पर्वत और नदियों की परछाई ऐसी प्रतीत होती है मानो ये सब उसके भीतर है उसी प्रकार यह विश्व इस शुद्ध चैतन्य आत्म में बसा हुआ है- निहित है-जो सदैव स्वच्छ एव निर्मल है।

शिवजी कहते हैं—हे मुनि ! जो इस चित् शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे फिर ससार में आना नहीं पड़ता। यह स्वयं प्रकाशित शुद्ध चैतन्य सब के हृदय में रहता है जिसके ज्ञान से संसार चक्र रूपी रोग नष्ट हो जाता है। संसार चक्र के बीजों के पीछे यही शक्ति मूल धारणा है। यही माया की शक्ति है जो अनेक रूपों में प्रगट होती है।[1]

योगवासिष्ठ महा रामायण का केन्द्रीय स्वर यही है कि दृश्यमान जगत में सारे तत्व अनन्त चेतना - शुद्ध चैतन्य ही है, जो ब्रह्म का अणु मात्र अंश है। नदी, पर्वत, जगल, पृथ्वी, आकाश, चारो प्रकार के जीव- मनुष्य, अण्डज, स्वेदज और जलज - भगवान की सृष्टि में जो कुछ है उस अनन्त चेतना के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

इसी बात को लक्षित कर के वसिष्ठ जी ने विभिन्न प्रसंगों में कथा कहानियों द्वारा राम को समझाया है कि चित् शक्ति ने ही संसार का रूप धारण किया हुआ है। दृश्य जगत का कोई अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म की माया से जगत दृष्टिमान् होने लगा है - वास्तव में यह सब मिथ्या है। जैसे सागर में अनन्त जल बिन्दु, फेन, बुदबुदे, लहरें, सागर से अन्य कुछ नहीं, वैसे ही विश्व के सब नाम रूप गुण चिति से किंचित् मात्र भी भिन्न नहीं।

शुद्ध चैतन्य का शरीर से सम्बन्ध नहीं है। शरीर तो मानो स्वप्न की भांति कल्पना मात्र है। जब अन्तःकरण अपनी ही शक्ति से आवृत हुआ सीमित जीव रूप धारण कर लेता है तो इस क्षुब्ध शक्ति से निहित हुआ दृश्य जगत में फंस जाता है जिसके फलस्वरूप मन को ही कष्ट भोगने पडते है।

ज्यों ही चित् शक्ति में मन प्रकट होता है, त्यों ही विभिन्नता के विचार विकसित होने लगते है और यह विचार अनन्त चेतना में ही रहते हैं - इस कारण से असंख्य प्रकार के जीवों की सृष्टि हो गई - कुछ दीर्घ जीवी, कुछ अल्प आयु, कुछ छोटे - कुछ बड़े आदि। जब मन अनन्तचेतना मे निहित हो जाता है तब परम शान्ति मिलती है। जो व्यक्ति विरक्ति द्वारा वासनाओं से मुक्त रह

1 चतुर्थ भाग, स्वामी पृ० 39

सके, वही परम आनन्द का भागीदार होता है। इन आन्तरिक वृत्तियो के दमन के उपाय है। **प्रथम**—शास्त्र और गुरू में श्रृद्धा, **द्वितीय**— भगवत् कृपा - जो इस जन्म अथवा आगामी जन्मो मे प्राप्त हो सकती है। **तृतीय**—विवेक, वैराग्य, भगवद् भक्ति, स्वाध्याय, सत्संग तथा आत्म चिन्तन द्वारा सम्भव है। पूर्व कर्म फल को मिटाने के लिए इन साधनों द्वारा पुरूषार्थ आवश्यक है।

पुरूषार्थ का मूल आधार भी यही चित् शक्ति अथवा शुद्ध चैतन्य आत्मा है। सर्व प्रथम अन्तःकरण में स्पन्दन होता है, फिर मन में स्फुरणा होती है - मन के स्पन्दन से इन्द्रियां क्रियाशील होने को प्रेरित होती हैं। तभी पुरुषार्थ होता है। अन्तःकरण के प्रकाश से ही मनुष्य आत्म साक्षात्कार के लिए दृढ़ संकल्प करता है। इस प्रकार समवित् के स्पन्दन से ही मानसिक एवं दैहिक शक्ति की सारी क्रियाएं होती हैं।

लीला और पद्मा की कहानी मे वसिष्ठ जी ने देवी सरस्वती के द्वारा इस शुद्ध चैतन्य - चित् शक्ति - का दिग्दर्शन कराया है - राजा पद्मा के युद्ध में मारे जाने पर लीला ने शोक में विह्वल होकर देवी सरस्वती का स्मरण किया - उसे दिए हुए वरदान के अनुसार देवी उपस्थित हो गयी और उससे बुलाने का कारण पूछा - तब लीला विलाप करती हुई बोली, 'हे देवी ! मेरा पति कहा गया। मैं उसके बिना नहीं रह सकती।' देवी सरस्वती बोली, 'आकाश के तीन रूप हैं—1. चिदाकाश (आत्मिक), 2. चित्ताकाश अर्थात् चित् शक्ति और 3. भूतकाल (दैहिक)। चिदाकाश मानसिक और दैहिक आकाश से बिल्कुल अलग है। अज्ञानता से ढका हुआ यह चिदाकाश विभिन्न रूपो में भ्रमण करती हुई आत्मा बन जाता है। चिदाकाश पर ध्यान लगाने से तुम अपने पति की आत्मा के संसार में पहुंच जाओगी। अतएव सारे विचारों को छोड़ कर अपने चित्त को इस चिदाकाश पर स्थिर करो।' यह कह कर देवी अदृश्य हो गई।

दैत्यराज बलि को ज्ञानोदय होने पर जब उसने अपने गुरू को स्मरण किया तो गुरू शुक्राचार्य जी ने भी प्रकट हो कर कहा था, "सब कुछ शुद्ध चैतन्य है, अन्य कुछ नहीं। चेतन में पदार्थ भाव उत्पन्न होना बन्धन है और पदार्थ भावना का त्याग मोक्ष। सारे दर्शनों का यही मत है कि चेतना का पदार्थ भावना रहित होना प्रत्येक वस्तु का यथार्थ है। इस दृष्टि में स्थित होने पर तुम भी शुद्ध चैतन्य प्राप्त कर लोगे।"

यह चिति प्रवृति रूप से बाह्य जगत में सम्पूर्ण विश्वाकार होकर स्वयं ही प्रकाशित होती है - इसको चिति का विश्वात्म रूप कहते हैं। विश्वाकार होने पर भी यह चिति विश्वातीत हो कर स्वयं प्रकाशमय, परम शुद्ध, निर्मल रहती है। इसी प्रकार मानव के अन्दर भी यह चिदात्मा या चिति प्रवृत्ति रूप से स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, पंचकोष, चार अवस्थाएं - अन्तःकरण चतुष्ट्य से लेकर पचतत्वों के 36 तत्वमय शरीर में 72 हजार नाड़ी समुदाय को लेकर सप्तधातु रूप होकर पच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां एवं उन के विषय (तन्मात्राएं) पंच प्राण एवं उनके कार्य, मस्तक से अंगुष्ठ तक न जाने कितने रूपों को धारण करती है। सुख-दुःख, भय, व्याधि, विकार, शैशव, यौवन, स्वर्ग-नरक आदि अनेक भावों को स्वयं रच कर स्वयं ही उन में प्रवेश करती हुई बाह्य विश्वाकार बनती है। फिर भी वैसी ही शुद्ध और निर्विकार बनी हुई चिति इस बहिरंग जगत में विलास करती है। केवल स्मृति मात्र सम्पूर्ण विश्व की साक्षी होकर विश्व में व्यापक विश्व से भिन्न हो कर रहती है। वेदान्त का निगुर्ण निराकार परब्रह्म यही चिति अथवा चित् शक्ति है - चिति का विश्वात्मक रूप वह है जिसमें वह अपनी इच्छा से अपने ही आप जगत् रूप बनती है।

मृत्यु संबंधी वार्तालाप के बीच देवी सरस्वती ज्ञान प्राप्त लीला को कहती है - हे लीला। याद रक्खो **शुद्ध चैतन्य शाश्वत** और अनन्त है न जागृत होता है न बन्द होता है स्थावर जगम सभी प्राणियों में आकाश म पर्वत पर अग्नि में वायु में सदैव विद्यमान रहता है जब प्राण वायु

बद हो जाती है, शरीर की मृत्यु मानी जाती है। प्राण वायु अपने स्थान वायु मे मिल जाता है तब शुद्ध चैतन्य स्मृति वृत्तियों आदि से मुक्त होकर आत्मा रूप में रह जाता है और जहां शरीर पडा है, वहीं वायु मण्डल में अणु रूप में रहता है, वह मरता नहीं। यही अणु रूप आत्मा जीव कहलाती है जिसमें सारी वृत्तियां और स्मृतियां निहित थीं।

यह शुद्ध अन्तःकरण ही ब्रह्म है - असीम, अनन्त एवं समय और दूरी से अप्रभावित। यह एक महान् अनुभव है जो चार वेद वाक्यों में से एक के द्वारा व्यक्त किया गया है। "प्रज्ञानम् ब्रह्म" यह पूर्ण आनन्द रूप, शान्त और प्रकाश (ज्योति स्वरूप)।

6 आत्मतत्व और अनात्म देह

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! जगत वास्तव में ज्ञान स्वरूप और आत्म सत्ता का चमत्कार है। आत्म सत्ता के स्फुरण से जगत प्रकट हुआ है। इसका अन्य कोई कारण नहीं है - सब जगत आत्म रूप है, आत्मा का आभास - ब्रह्म सत्ता ही आत्मा का अधिष्ठान है।

वृत्ति ने एक पदार्थ का त्याग किया और जब तक दूसरे पदार्थ में लगी नहीं, वह जो मध्य अनुभव ज्योति है, उसे तुम आत्म सत्ता मानो - और उस मे जो कुछ भासित हुआ, उसे भी वही जानो।

पदार्थ ज्ञान स्वयं में जड है। आत्मा की विद्यमानता से पदार्थों की चेतना होती है। जिस प्रकार धातु के टुकड़ों में स्वयं की गर्मी नही होती किन्तु अग्नि के स्पर्श से जलने लगते हैं, उसी प्रकार मानसिक वृत्तियां आत्मा के ससर्ग से पदार्थों को प्रकाशमान करती हैं। इन वृत्तियों में विभिन्नता होने के कारण एक रूप चेतना में विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है। मानसिक वृत्तियां आत्मा के प्रकाश मे ही ब्रह्माण्ड के समस्त स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों को प्रकाशित करती हैं। विश्व के समस्त पदार्थो मे जो शुद्ध स्पर्शनीय तत्व हैं, प्राणियों में अनुभूति शक्ति है। वह सर्व व्यापी आत्मा है। यह दूध मे मक्खन की भांति सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः दृश्य जगत आत्मा से भिन्न नहीं है।

जैसे फूल में सुगन्ध, तिलों में तेल, अग्नि में उष्णता और जैसे मनोराज की सृष्टि होती है, वैसे ही आत्मा में जगत है। जैसे तेज और प्रकाश अनन्य रूप हैं, वैसे ही आत्मा और जगत अनन्य रूप हैं। जैसे बीज और वृक्ष में, समुद्र और तरंग में और वायु तथा स्पन्दन में भेद नहीं होता, वैसे ही आत्मा और जगत में भेद नहीं है। जैसे अग्नि में उष्णता स्वाभाविक है, वैसे ही निराकार आत्मा मे सृष्टि स्वाभाविक रूप से स्थित है। नाना प्रकार की शक्तियां हैं, वस्तुतः आत्मा से भिन्न नही है। ज्ञानवान को सब जगत आत्म रूप भासता है - आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं हैं, जैसे लहरे और बुदबुदे समुद्र रूप ही हैं। आत्मा का ज्ञान होने पर सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। जो पूर्ण है, ज्ञान से ओतप्रोत है, वह आत्मा है।

अन्तर्ज्योति जो सब प्राणियों के भीतर शुद्ध अनुभव रूप में प्रकाशमान है, वही आत्मा (सेल्फ) है जिसे "मैं" शब्द से उल्लिखित किया जाता है। यह "मैं" शुद्ध अन्तःकरण से भिन्न नहीं है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है - आत्मा प्राणों से एक रूप हो कर शरीर में प्रवेश करती है और सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा पंच प्राण रूप में छाई हुई श्वास प्रश्वास रूप में यह सारे जीवों में जीवन का कारण बन जाती है।

एक आत्म सत्ता अनेक जीव-देह हो कर भासती है, जैसे एक बीज में अनेकों वृक्ष होते हैं, वैसे ही एक आत्मा में अनेकों चिद् अणु उत्पन्न होते हैं। जैसे तिल में तेल वैसे ही चिद् अणु मे आकाश पवन आदिक अनेक सृष्टि रचते हैं। जैसे वायु में स्पन्दन शक्ति रहती है वैसे ही चिन्मात्र में चैत्य का स्फुरन रह कर "अहं" अस्मि' भाव का प्राप्त हुआ है इस कारण उस का नाम चैतन्य

है जितना कुछ जगत में शब्द है, उस का बीज तन्मात्रा है . जिस से वायु का स्पर्श होता है . फिर रूप तन्मात्रा हुई। उससे सूर्य, अग्नि आदि प्रकाश हुए। फिर रस तन्मात्रा हुई जिससे जल - और सब जलो का बीज वही है। फिर गन्ध तन्मात्रा हुई जिससे पृथ्वी। इसी प्रकार पांचों भूत हुए और पचभूतों से जगत। यह भूत चिदाकाश रूप नहीं, क्योंकि संकल्प और मैल युक्त हैं।

जैसे वट बीज में वट वृक्ष का विस्तार होता है, वैसे ही चिद् अणु में अनन्त सृष्टि फुरती है। इस जगत का मूल पंचभूत है जिसका बीज संवित और स्वरूप चिदाकाश है।

जिस प्रकार सूर्य जगत को प्रकाशमान करता है, सूर्य की एक एक किरण में असंख्य धूल के कण निहित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा की एक किरण से अनेकों ब्रह्माण्ड समाए होते हैं। ये ब्रह्माण्ड सारे शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब मात्र है, जो सूक्ष्म वासनाओं के कारण मन से उत्पन्न होते हैं। अतएव ये यथार्थ समय और दूरी के संसार में विद्यमान नहीं रहते - बल्कि जीव के हृदय मे इनकी अनुभूति होती है। मरते समय वह सूक्ष्म शरीर के अनुभव स्वयं देखता है और अपने ही हृदय में वह एक भिन्न संसार में पुनः उत्पन्न हुआ अनुभव करता है।

आत्मा के 12 लक्षण हैं—

आत्मा नित्योऽव्यय : शुद्ध एक. अपापविद्ध।
स्वयंप्रकाशित, असंग, निर्लिप्त, अनावृत।
अहेतु - यह सब का अधिष्ठान है. इस का कोई कारण नहीं।
व्यापक - देश काल परिच्छेद से रहित।
क्षेत्रज्ञ - अपने मकान शरीर को जानने वाला।

इन 12 लक्षणों से आत्मा को जान लेने से अहंता ममता रोग नहीं सताते।

यद्यपि आत्मा नाम रूप रहित है, परन्तु विभिन्न पदार्थों के रूप में दृश्यमान होती है। यद्यपि सूक्ष्म एवं अदृश्य है, फिर भी अज्ञानी की आँखों को ठोस रूपों मे दृष्टि आती है - अर्थात् वह शरीर - मन - बुद्धि को ही आत्मा समझता है। मानव बुद्धि जो यथार्थता से रंगी हुई है, आत्मा की पारमार्थिक प्रकृति को समझने में असमर्थ है। परन्तु जब वह संसार की माया से मुक्त हो जाती है - ससार के मिथ्यापन को पहिचान लेती है तो उस की प्रज्ञा शक्ति से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

वास्तव में आत्मा का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा शरीर से परे है, परन्तु विविध रूपीय सृष्टि से घुल-मिल जाता है। तब आत्मा अपने को भी बहुरूपीय मान कर सृष्टि का अग समझ लेता है। उसकी अपनी महिमा लुप्त हो जाती है। पूर्व जन्मों के क्रमानुसार विभिन्न इद्रियों के संयोग से कर्ता और भोक्ता भी बन जाता है - जैसे नेत्र रूप में दृष्टा, कान रूप में श्रोता आदि। इसी प्रकार यह सर्व व्यापी आत्मा सारे पदार्थों को भोगता है। पंच तत्वों से मिल कर वह चार प्रकार के जीव रूप में सक्रिय हो जाता है, सब इंद्रियो और क्रियाओं के माध्यम से मिल कर उस में आवरण शक्ति द्वारा आनन्द को ढांक देता है एवं विस्तार शक्ति बन कर संसार रूप में प्रकट होता है।

आत्म ज्ञानी भारतीय महर्षि रमण ने भी कहा है - आत्मा अथवा शुद्ध चैतन्य शरीर और मन से बिल्कुल असम्बद्ध हैं - इन का परस्पर कोई संबंध नहीं - आत्मा को साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। समस्त प्राणी मात्र के भीतर दिव्य ज्योति प्रकाशमान है - वही आत्मा है। ज्ञानी पुरुष अपने देह रहित शाश्वत अस्तित्व को ऐसे ही पहिचानते हैं, जैसे सामान्य जन शारीरिक अस्तित्व को ज्ञानी के लिए शारीरिक चेतना आत्मा की प्रतिबिम्बित किरण जैसी है

महापुराण भागवत में राजा परीक्षित के चार प्रश्नों में प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए शुकदेव

जी कहते हैं—

'आत्ममायां ऋते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थ संबंधः स्वप्नवस्तुरिवाभ्जतः ।।'

अर्थात्—जीवात्मा का शरीरादि से किंचित भी संबंध नहीं है - यह अपने अनुभव से ही जाना जाता है, जैसे स्वप्न में सब कुछ सही - मैं - मेरा प्रतीत होता है - जागने पर सत्य का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर विदित होता है आत्मा शरीर से परे है - श्रेष्ठ है।

शरीर और आत्मा प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं- इन दोनों में पारस्परिक सबध कैसे हो सकते हैं। अज्ञानता के कारण मानव मन ने इन दोनों में सम्बन्ध मान कर देहाध्यास कर रक्खा है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा बादलों का हवा से या कमल का मधुमक्खी से। बादल फूटने से हवा वायु मण्डल में फैल जाती है। कमल मुरझाने से मक्खी आकाश में उड़ जाती है। शरीर के मरने से आत्मा नष्ट नहीं होती। दूसरा शरीर धारण करने को चली जाती है।

दोषपूर्ण दृष्टि से मनुष्य में यह विचार आते हैं - 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुखी हूं', 'मैं सुस्त हू. आदि। इन मानसिक भ्रान्तियों को बढ़ावा देने से चिरकालीन कष्टों का मार्ग प्रशस्त होता है। इस के विपरीत दृष्टि से अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी कर के समस्त पदार्थों एवं घटनाओं के पीछे आत्मा के अस्तित्व को पहिचानों तो शाश्वत सुख और आनन्द विकसित होगा। मन में यही भाव विकसित करो, बुद्धि से यही सोचो कि सब नाम रूपों के पीछे आत्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

शरीर और आत्मा की एकता कदापि नहीं होती। शरीर जो चलता फिरता बोलता है, वह वायु के बल से चलता फिरता है। आठ स्थानों में वायु के बल से अक्षरों का उच्चारण होता है। कण्ठ से क्, ख्, ग्, घ् । तालू से च्, छ्, ज्, झ्। ट्, ठ्, ड्, ढ् का मूर्धा में उच्चारण होता है। त्, थ्, द्, ध् का दांतों से, प्, फ्, ब्, भ्, म् का ओष्ठों में। ङ, ञ, न्, ण्, का नासिका तथा जिव्हा मूल का जिव्हा में उच्चारण होता है। जिस पद के आदि हकार हो, वह हृदय से बोला जाता है।[2]

आठों स्थानों में इन वर्गों का वायु से उच्चारण होता है, पर आत्मा इन से निर्लेप है। जैसे बासुरी वायु से शब्द करती है, वैसे ही इन पाचों तत्वो से शब्द होता है - इन में आत्माभिमान मूर्खता है। नेत्रादि इंद्रियां भी वायु से चेष्टा करती हैं - इसलिए, वसिष्ठ जी कहते हैं, इस भ्रम को त्याग कर आत्म स्थित होओ।

जिस प्रकार अग्नि अन्य पदार्थों को प्रकाशित और गर्म करती है, वैसे ही आत्मा अन्तर्वृत्तियो के संसर्ग से बुद्धि रूप बन जाती है - और सभी चेतनाओं का आधार प्राणों तथा ज्ञानेन्द्रियो व कर्मेन्दियों के साथ एक रूप होकर समस्त क्रियाओं का कारण बन जाती है, अतः वेदों के ज्ञाता कहते हैं कि आत्मा प्राणों में रहती है। यद्यपि आत्मा सर्वव्यापी है, परन्तु हृदय में वास करती कही जाती है, क्योंकि सब प्राणी हृदय में ही चेतना अनुभव करते है, हृदय से चेतना जागृत हुई अनुभव होती है।

अपनी मूल प्रकृति को भूलने पर यह आत्मा भौतिक रूप धारण करती है सर्वप्रथम यह कारण शरीर से एक हो कर ससार चक्र से सम्बद्ध हो जाती है और तब जीवात्मा नाम पड जाता

ओर फिर धीरे धीरे स्थूल रूप धारण कर विभिन्न रूपीय विराट - विश्व - स एकाकार हो जाती है।

आत्मा का कभी जन्म नही हुआ, न मृत्यु होती है। जीवात्मा - व्यक्ति का ही जन्म-मरण-बन्धन और मोक्ष आदि होते हैं। विश्व ब्रह्म का ही परिवर्तित रूप है, प्रलय होने पर केवल ब्रह्म ही शेष रहता है, जिसे आत्मा, सत्य अथवा परम सत्य आदि नाम ज्ञानी पुरुषों द्वारा साधकों के मार्ग दर्शन के लिए दे दिए हैं - सब का अर्थ एक ही है 'ब्रह्मन्'।

ज्ञानी पुरुष अपने शरीर को पदार्थ रूप में देखता है। शरीर को कष्ट होते रहें, आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा शरीर रूपी रथ में वास करती है। जब रथ नष्ट होता है तो रथी पर कोई असर नहीं -

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।' कठोपनिषद.

आत्मा की तुलना रथारूढ़ सम्राट से की गई है, और शरीर, व्यक्तित्व - बाह्य स्वरूप को रथ माना है, जिस पर आत्म चेतना आरूढ़ है।

हंस, जो जल में क्रीड़ा करते हैं, उनका जल प्रवाह से क्या संबंध है, इसी प्रकार आत्मा शरीर व मन से सदैव भिन्न है।

अतएव यह सारांश निकाला है कि—

'यः ब्रह्मनिष्ठः शरीरं पृथग्विजानाति आत्मैव तस्यधनं।
सर्वदा शरीरं विस्मृत्यध्रियते, स नित्यमात्मनि परितुष्टः ॥'

श्रीमद् भगवद्गीता के एक निष्ठ साधक—श्री लोकमान्य तिलक की — शल्य चिकित्सा (आप्रेशन) होने वाली थी - उन्होंने शरीर को शून्य करने वाली औषध अनस्थीजिया लेने से ना कर दिया और आत्मा में चित् को स्थिर कर के आप्रेशन करवा लिया। आत्मा को भौतिक देह, मन और इन्द्रियों से अलग अर्थात् ऊपर मानने की दृढ़ चेतना होने वाले ज्ञानी की यह मनः स्थिति है।

ब्रह्म सूत्रों में महर्षि व्यास ने कूटस्थ और चिदाभास के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'लौकिक व्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विविक्षति।
असंगोऽहं चिदात्माहमिति शास्त्रीय दृष्टिनः।
अहं शब्दं प्रयुक्तोऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥'

अर्थात् लौकिक व्यवहार में 'मैं जा रहा हूं', इसमें 'मैं' का अर्थ है—'चिदाभास' जो कूटस्थ से भिन्न है।

दार्शनिक दृष्टि से 'मैं जा रहा हूं' इसमें 'मैं' का अर्थ है 'शुद्ध कूटस्थ' - कहते हैं, 'मैं' असग आत्मा।

अज्ञानी मनुष्य अपनी देह को निर्दिष्ट कर के कहता है—'यह मैं हूं' जबकि ज्ञानी मनुष्य आत्मा को निर्दिष्ट करता है।

यह भेद समझा कर आगे उपाय बताया है—

'देहात्म ज्ञानवज्ज्ञानं देहात्म ज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥'

अर्थात् सामान्य मनुष्य जिस प्रकार शरीर से एकता मानता है, उसी प्रकार जब मनुष्य दृढतापूर्वक ब्रह्म से एकता मानने लगे तो वह न चाहते हुए भी मुक्त हो जाता है। ज्ञानी जन देह में नहीं रोते वे आत्मा को ही मात्र सत्य मानते हैं जिसने चित्त रूपी आइने के माध्यम

जीवात्मा का प्रतिबिम्ब प्रकट किया है। चित्त रूप आइने का निषेध करने से आत्मा की आन्तरिक महिमा प्रकट होती है।

शरीर के विचार को त्याग कर आत्मा को ही सर्वेसर्वा एक सत्य मान कर आत्मस्थित हो जाओ। अज्ञानावस्था में सूक्ष्म शरीर की लहरों से अनेकों देह इस प्रकार जन्मते हैं, जैसे समुद्र की लहरों से बूबले। संसार में दृष्टा और दृश्य के संबंध आत्मा के आधार पर रहते हैं - अज्ञानता का पर्दा हटने पर द्वैत भाव समाप्त हो कर केवल परम सत्य रह जाता है अर्थात् दृष्टा को यथार्थ सत्य की अनुभूति हो जाती है।

7. ब्रह्म निरूपण

उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण हुआ है—

तद् ब्रह्म तत् सच्चिदानन्द स्वरूपं स्वयं ज्योति र्नित्यं।
अनाद्यन्तं निर्विकारं अमृतं अभयं निरजनम्।

अर्थात्—ब्रह्म सत् - चिद् - आनन्द स्वरूप है, स्वयं प्रकाशमान है, शाश्वत है, आदि-अन्त रहित है, परिवर्तन रहित है। वह अमर अर्थात मृत्यु रहित समय, दूरी और कारण से परे है - सतत् एक रूप। अद्वितीय होने के कारण निर्भय है और निर्विकार। और भी—

निर्गुणं निर्विकारं निर्विशेषं अखण्डं निरूपाधिकं।
एवमेवाद्वितीयं स्वतन्त्रं नित्यमुक्तं परिपूर्णम्॥

अर्थात्—ब्रह्म में मायिक जगत के माने जाने वाली उपाधियों के न होते हुए दिव्य विभूतियो का भण्डार है - उसके गुणों का पार नहीं। वह अनन्त एवं अखण्ड है, सदा एकरस। ब्रह्म अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है - सदा मुक्त और परिपूर्ण।

आगे ब्रह्म की प्रकृति का वर्णन किया है—

शरीर त्रय व्यतिरिक्तं, पंच कोषेभ्यः पृथक,
अवस्थात्रय साक्षिभूतं, त्रिगुणातीतं, द्वन्द्व निर्मुक्तम्।

ब्रह्म—स्थूल, सूक्ष्म और कारण —तीनों शरीरों से भिन्न है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय — पांचों कोषों से अलग है; जागृत, स्वप्न-सुषुप्ति - तीनों अवस्थाओ का साक्षीभूत है। सत्व, रजस्, तमस तीनों गुणों से एवं सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से ऊपर है। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म इस संसार का आधार है। मन, इन्द्रिय और प्राण की उत्पत्ति ब्रह्म से ही है, एवं ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म में ही लीन होते हैं।[1]

हिन्दुओं का उपासना विज्ञान इतिहास के विकास, समाज की मांग व परिस्थिति की आवश्यकतानुसार अपना बाह्य रूप बदलता रहा है - परन्तु मूल तत्व समन्वययात्मक, परिष्कृत एव परिवर्धित रूप में देव उपासना रूप में सुरक्षित है।

विभिन्न क्षेत्रों में परब्रह्म के किसी एक साकार देव रूप को प्रधानता मिली है - वर्तमान काल में - बंगाल में शक्तिपूजा की प्रधानता है। उत्तर भारत में राम-कृष्ण विशेष उपास्य हैं। मूल रूप में ये सभी देवी देवता एक अखण्ड बुद्ध चेतना के प्रतीक हैं - इन रूपों द्वारा वस्तुतः एक परब्रह्म की ही उपासना की जाती है।

श्रीमद्भागवद्गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—

ये जयन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धया
ते अपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम्। 9. 23

1 शिव ज्ञानामृत उपनिषद् स्वामी शिवानन्द

ब्रह्म के तीन रूप ह—स्थूल, सूक्ष्म एव पर।

स्थूल—प्रपंचात्मक जगत रूप में प्रकट है। वैराज रूप जिसके प्रतीक हैं - इन्द्र, वरूण, अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, देव, दानव, अन्य सभी प्राणीसारा दृश्यमान व जगत।

सूक्ष्म—हिरण्यगर्भ रूप है जो सूत्रात्मा अव्यक्त रूप से विश्व का धारण, संचालन एव नियन्त्रण करता है। यह स्थूल जगत के आधार रूप में स्थित सूक्ष्म जगत का अधीश्वर है। पिण्ड देहगत सूक्ष्म शरीर के हृदय चक्र, भ्रूमध्य एवं ब्रह्म रन्ध्र में नाद ब्रह्म अथवा ज्योति ब्रह्म के रूप में इसका साक्षात्कार होता है। वही हृदय मे वास करने वाला शुद्ध चैतन्य, मब का नियन्ता, स्थूल जगत से एक रूप हो राम-कृष्ण-शिव, ब्रह्मा और विभिन्न देवों के रूप में प्रकट होता है। **पर रूप**—ब्रह्म का पर रूप सब का साक्षी, अच्युत, सच्चिदानन्दात्मक परतत्व है। नाना विध देवी देवता इस परब्रह्म के ही अग प्रत्यंग रूप विशिष्ट शक्तियां हैं, जो स्वतन्त्र देव रूप की भांति प्रतीत होते हुए विश्व प्रशासन के एक एक विशिष्ट क्षेत्र का आधिपत्य करते हैं। गणपत्यथर्वशीर्ष उपनिषद् के अनुसार श्रीगणपति परब्रह्म की ज्ञानमयी एवं वाङ्मयी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः उन्हे वाङ्०मय-चिन्मय ब्रह्म कहा गया है - वाणी का नियन्ता। यों तो सूक्ष्म रूप में वह भूमि तत्व और आकाश तत्व के स्वामी हैं। भौतिक जीवन से संबंधित सभी सिद्धियों के दाता एवं विघ्न विनायक है (विघ्नों को दूर करने वाले) और आकाश तत्व से संबंधित होने के कारण बुद्धि और वाणी के अधिष्ठाता होने से अविद्या रूप महाविघ्न का विनाश कर के महसिद्धि प्रदान करने वाले मोक्ष प्रदायक हैं।

इसी प्रकार देवी के तीन रूप दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी क्रमशः सहारकारणी, विद्यादायिनी और समृद्धि (आध्यात्मिक, नैतिक एवं भौतिक) प्रदायक - शक्तियों से सम्पन्न मानी जाती हैं। और भी हनुमान, आदि विभिन्न शक्तिसम्पन्न देवता मान्य हैं, परन्तु इन सब को अलग अलग शक्तिया ब्रह्म से ही प्राप्त होती हैं और उन की उपासना का फल भी ब्रह्म ही देता है।

महर्षि विश्वामित्र भगवान राम के स्वरूप का वर्णन करते हुए ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता एव ब्रह्म से जगत का अभिन्न निर्दिष्ट करते हैं।

श्रीरामचन्द्र जी ही परम पुरुष परमात्मा हैं - इन्होंने ही विश्व हित में विष्णु रूप से क्षीर सागर मन्थन किया था। गम्भीर रहस्य से भरे उपनिषदादि शास्त्रों के तत्व गोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं।

ये ही प्रसन्न होकर मोक्ष प्रदान करते हैं—

कुपित रूद्र रूप से जगत का संहार करते हैं—

ब्रह्म रूप से इस विनाशी - जगत का सृजन करते हैं। यही विश्व के आदि, उत्पादक, धाता, पालनकर्ता और महान सखा भी हैं।

यही भगवान - ऋक् - यजु - सामवेद मय हैं - तीनों गुणों से अतीत अति गहन यही है - छः अंगों से युक्त वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं।

वसिष्ठ जी कहते हैं हे राम ! याद रक्खो- मैं - तुम - वह, सृष्टि संहार आदि रूप से जो दृश्य प्रपंच दिखायी दे रहा है, वह एकमात्र अद्वितीय नित्य निर्मल शान्त चिन्मय ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इन समस्त सत् रूप में दीखने वाले असत् पदार्थों में एक मात्र सत् परमात्मा ही प्रकट है। सच्चिदानन्द ब्रह्म ही वह सम्पूर्ण जगत है, इसके अतिरिक्त जगत नाम की कोई सत् वस्तु कभी न थी, न है।

जिस प्रकार आकाश की शून्यता आकाश ही है

प्रकाश की आभा प्रकाश ही है

वायु का स्पन्दन वायु ही है
समुद्र की तरंगे समुद्र ही है
बर्फ की शीतलता बर्फ ही है, आदि आदि —

वैसे ही ब्रह्म में दीखने वाला यह समस्त जगत भी ब्रह्म ही है। अध्यात्म शक्ति के बल के नाम रूपों की उपेक्षा कर देने पर यथार्थ में केवल ब्रह्म ही दृष्टि आने लगेगा।

श्रीमद्‌भागवद्‌गीता में भगवान कृष्ण ने स्पष्ट वर्णन किया है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9—18वां
तपाम्हं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 9—19वां

भावार्थ—मैं इस जगत का स्वामी, साक्षी और आधार हूं। इसका उत्पत्ति स्थान एवं मूल हू तथा प्रलय होने पर यह जगत मुझ में ही समाता है।

सूर्य रूप से मैं गर्मी देता हूं, इन्द्र हो कर वर्षा करता हूं। मैं ही संरक्षण कर्ता और अमरत्व प्रदान करने वाला हूं तथा मृत्यु दाता भी मैं ही हूं। अज्ञानी जनों को विभिन्न रूपीय सत् भासता हू तथा ज्ञान प्राप्त योगी मुझे सर्वत्र विद्यमान सत् रूप में देखते हैं।

गीता के दशवें अध्याय में अर्जुन के पूछने पर अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भी श्रीकृष्ण ने बताया है कि—

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एवच॥ 20॥

भावार्थ—हे गुडाकेश (अर्जुन) समस्त प्राणियों के हृदयों में स्थित मैं ही आदि, मध्य और अन्त हू। अर्थात् मैं जन्म, जीवन तथा मृत्यु हूँ। अतएव अन्तरात्मा रूप में मुझ में चित्त स्थिर कर।

विभिन्न रूपों में विभूतियों का वर्णन करके अन्त में समाहार करते हैं—

यद्यद्विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥ 41॥

तथा

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभयाहमिदं कृत्स्नेक्रोशेन स्थितो जगत ॥ 42 ॥

अर्थात जो कुछ भी महिमा युक्त, ऐश्वर्यमय एवं शक्तिवान् है, मेरे ही अंश से उत्पन्न हुआ समझो। और अधिक क्या कहूं, यह जान ले कि मेरे एक अंश से यह संसार स्थित है।[1]

इस महान् सत्ता के प्रशासन में ही नक्षत्र अपने अपने केन्द्रों पर घूमते हैं, पृथ्वी और आकाश मानो समय और दूरी में स्थित हैं। नदियां बहती हैं, पर्वत खड़े हैं तथा समुद्र अपनी सीमा में स्थिर रहता है।

मनुष्य देवोपासना करता है, दान देता है और पितृ यज्ञ करता है।

बिजली चमकती है, नेत्र झपते हैं तथा जीव श्वास लेते हैं - तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी होता या नहीं होता है, सब इसी सत्ता के कारण है। उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म पर चिन्तन इस

---

1 पुरुष सूक्त के कथन पर आधारित ब्रह्म का एक अंश समस्त जगत है और 3/4 अंश ब्रह्म का भावात्मक सृष्टि रूप में समाया हुआ है

प्रकार करना चाहिए कि वह जिस के निर्देश से सारा ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया है, संचालित है और प्रलय के समय लय होता है, वह ब्रह्म है।

इस शरीर मे दो प्रकार का सर्वभूत स्वरूप चेतन है - एक तो चंचल स्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप मे अपने से भिन्न सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से आकाश आदि पाच भूतो, शब्दादि पांच विषयों, प्राणापान आदि पांच प्राणों और देश काल के रूप में परिणत होता है।

सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्र में शयन करता है, ब्रह्म होकर ब्रह्म लोक मे ध्यानस्थित रहता है - हिमालय पर्वत पर पार्वती सहित महादेव जी का रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठ में विष्णु रूप धारण करता है। यही सूर्य बन कर दिवस का निर्माण करता है, मेघ बन कर वर्षा, वायु रूप में बहता है। सब कारण सर्वत्र व्यापक एव अपना समस्त संकल्प शक्ति के प्रभाव से सर्व स्वरूप होने के कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत रूप हो जाता है।

वास्तव में वह विज्ञानन्द परमात्मा आकाश से भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह जब जब जहां पर जिस भाव से जिस तरह संकल्प करता है, तब तब वहां वैसा ही बन जाता है।

वसिष्ठ जी कहते हैं हे राम !

ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है और सब का स्फुरण एक उस सत्ता से हो रहा है उस ब्रह्म सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं है। जैसे समुद्र का जल तरंग और आर्वत होकर भासता है वैसे ही अनन्त शक्ति परमात्मा ही प्रकट रूप में सर्वत्र स्थित है और चेतना के बल से नानात्व भासता है - उस में अनेकता कुछ भी नहीं है।

जिस प्रकार जल और तरंग दोनों ही जल रूप हैं - जल से भिन्न नहीं, उसी प्रकार आत्मा और जगत का सम्बन्ध समझना चाहिए - आत्मा ब्रह्म रूप से अपने आप में स्थित है, उसमें एक और दो कुछ भी नहीं है, न उसमें ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य कारण है। यदि फुरना एवं भ्रम न हो तो सर्वकाल में ब्रह्म ही दिखाई पड़े। फुरना एवं भ्रम को त्याग कर यदि जीव निर्विकल्प स्वरूप मे स्थित हो जाये, तभी संसार भ्रम शान्त होगा।

ब्रह्म से कीट पतंग तक सारा जगत परमात्मा से परिपूर्ण है - सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही नित्य और सत्य है। ऐसे आन्तरिक निश्चय के बल से युक्त पुरुष कभी बन्धन में नहीं पड़ता। अतएव हे राम ! अभ्यास-वैराग्य के बल से अत्यन्त धीरता का आश्रय लेकर चचलता को त्याग दो। आत्मानन्द जो मौन होकर सो रहा है, उसे विवेक-वैराग्य से जगाओ। महापुरुषों के संसर्ग से निर्मलता रूप अभ्युदय को प्राप्त हुए चित् के विवेकपूर्ण शुद्ध विचार से जो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न केवल गुरु के उपदेश से, न शास्त्रार्थ से और न पुण्य से ही प्राप्त होता है। वशिष्ठ जी कहते हैं—

हे राम ! जिस पुरुष की पूर्वापर विचार करने वाली कुशाग्र एवं तीक्ष्ण प्रज्ञा रूपी दीपशिखा प्रज्ज्वलित है, उसे कभी अज्ञान रूपी अंधकार नहीं सताता। प्रज्ञात्मक ज्ञान की दृष्टि से विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञान के द्वारा जब मन भावात्मक बन जाता है, तब विश्व की यथार्थता बद हो जाती है और योगी परमसत्ता से एक रूप हो जाता है। जिस प्रकार नीलाकाश में बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार ब्रह्म में विलीन हो जाता है और उसे संसार ब्रह्म रूप मे प्रकाशमान दृष्टि आने लगता है। प्रज्ञा दृष्टि खुलने पर विश्व ब्रह्म में पिघल जाता है।

ब्रह्म की शक्ति से ही मानव मन और बुद्धि प्रकाशमान होती है। संसार के पदार्थों को यह मन ब्रह्म की ज्योति से ही पहिचानता है और इन्द्रिया देखना सुनना बोलना स्पर्श व स्वाद लेना आदि अपने अपने कार्य करती हैं ब्रह्म ही वाणी का प्रकाशित करता है आधुनिक युग के महर्षि

स्वामी शिवानन्द के शब्दों में—

Brahma is the Lord of this mental facts, eyes, ears, nose etc. are clerks (secretaines) and intellect managing director, knowledge of Brahm is intuitive selfawareness.

अर्थात्—इस मानसिक कारखाने का स्वामी ब्रह्म है, नेत्र, कान, नाक आदि क्लर्क हैं और बुद्धि है प्रबन्धक। ब्रह्म का ज्ञान है प्रज्ञात्मक चेतना।

ब्रह्म कोई दृष्टि का विषय नहीं है। ब्रह्म को स्थूल रूप में नहीं देखा जा सकता - वह तो शुद्ध चैतन्य है जो आन्तरिक शक्ति रूप से अनुभव किया जा सकता है - निजी अन्तरात्मा रूप उस की अनुभूति हो सकती है - वेद का महावाक्य है—"अहम् ब्रह्मास्मि" अर्थात् "मैं ब्रह्म हू।" किन्तु केवल मैं नहीं, जो कुछ भी सृष्टि में दृश्यमान है, सब ब्रहम ही है।

तैत्तरीय उपनिषद् में कहा है—'ब्रह्म वह है जिसमें ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, जिसमें यह स्थित है और जिसमें यह लय होता है।'[1]

ब्रह्मसूत्रों में वृक्ष की उपमा से वही बात कही है—ब्रह्माण्ड की जड़ ब्रह्म ही है - अन्य कुछ नही। जिस प्रकार जड़ ही वृक्ष है - ब्रह्म विश्व का मूल है। ब्रह्म को विश्व से भिन्न नहीं माना जा सकता। यदि अज्ञानतावश कोई ब्रह्म को विश्व से अलग मानता है तो वह मानो अभिन्न से भिन करने की भूल करता है और फल स्वरूप जन्म मरण के चक्र में पड़ता है।

जब मनुष्य समझ जाता है कि द्वैत भाव भ्रान्ति मात्र है, वही ब्रह्म का साक्षात्कार है - जब वह ज्ञान हो जाता है कि 'यह मैं नही हूं' तब अहं भाव का मिथ्यात्व समझ में आकर वैराग्य उत्पन्न होता है। जब यह सत्य अनुभूत हो जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूं' तब सत्य की चेतना विकसित होकर सभी कुछ ब्रह्म में लीन हो जाता है और अनुभूति हो जाती है कि वस्तुतः सब ब्रह्म ही है - 'सर्व खल्विदं ब्रह्म और ज्ञानी के हृदय से स्वर लहरी प्रवाहित होने लगती है—

'सर्व ब्रह्म मयं रे, सर्व ब्रह्म मयम्।'

जब तक ब्रह्म पहिचाना नहीं जाता है, तब तक अज्ञानता वश ब्रह्म विविध सांसारिक प्रपच रूप दृष्टि आता है। पहचानने पर ब्रह्मज्ञानी समझता है कि मैं ब्रह्म ही हूं। और जो दृश्य जगत है वह भी ब्रह्म ही है। जिस प्रकार कोई संबंधी मिलने पर जब तक पहिचाना नहीं जाता, तब तक अनजान लगता है - पहिचानने पर वही सही रूप में आत्मीयजन बन जाता है।

ससार में जब तक इंद्रिय विषयों में विरत होकर आध्यात्मिक प्रक्रिया की ऊंचाइयों तक न पहुचों - मन को उन के दोषों से अवगत कराते रहो, तब वैराग्य का विकास होकर चित में ज्ञान का प्रकाश होगा।

ब्रह्म का निजी प्रकाश ही प्रज्ञा बुद्धि के रूप में प्रकाशमान होकर ब्रह्म को व्यक्त करता है। ब्रह्म ही अपने प्रकाश का साक्षात्कार कराता है - अन्य कुछ है ही नहीं।

जिस प्रकार कुम्हार की मिट्टी में बर्तन का अस्तित्व है - स्वर्ण में स्वर्ण से बनने वाले आभूषणों का अस्तित्व है, उसी प्रकार ब्रह्म में ही विश्व का अस्तित्व है - इन्द्रियों से दीखने वाले बाह्य जगत के पदार्थ और अन्तर्दृष्टि से अनुभव किये जाने वाला अन्तर जगत सब ब्रह्म ही है।

के द्वारा संसार चक्र की भ्राति निवारण होने पर ब्रह्म अपनी मूल प्रकृति सत् चिद् आनन्द रूप में प्रकट हो जाता है

४ अज्ञान और ज्ञान की सप्त भूमिकाएं

शुद्ध प्रज्ञा ही ज्ञान है जिसे चित्‌शक्ति अथवा शुद्ध चैतन्य कहते हैं—जो सदैव प्रकाशमान है, परन्तु वासनाओं के कारण मन के आवरण से ढका रहता है।

अज्ञानता की स्थिति में मनुष्य शरीर को ही 'मैं' समझता है—उसकी अपनी इंद्रियाँ ही विषय भोगों में पड़ कर शत्रु बन जाती हैं। शरीर को मैं मानना ही अनेक प्रकार के दुख-सुखों का कारण है। इसके विपरीत जब यह ज्ञान हो जाता है कि शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र सत्य है—उसपर शरीर व इंद्रियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—वह समझ लेता है कि आत्म चैतन्य का ही प्रकाश सारे पदार्थों पर पड़ने से वे दृश्यमान हो जाते हैं। यथार्थ में केवल शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नही है।

इस सत्य को समझ लेना ही ज्ञान है और इसके विपरीत द्वैत दृष्टि से पदार्थों को देखना अज्ञान है। यह अज्ञान ही सारी परेशानियों एवं मुसीबतों का मूल है। हृदय में किंचिद्‌मात्र चेतना जागृत होने पर ज्ञान का विकास हो सकता है। जब तक यह विश्वास न बैठे कि 'सर्व खल्विदम् ब्रह्म' अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, तब तक हृदय में ज्ञान उदय नहीं होगा। जिस प्रकार स्वयं मिठास का स्वाद लेने पर ही अनुभव होता है—दूसरों के कहने मात्र से नहीं, इसी प्रकार केवल सुनने से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती—स्वाध्याय, सत्संग से प्रेरित होकर अन्तर्मुखी होकर ध्यान द्वारा ही हृदय में ज्ञान का प्रकाश सम्भव है। जब इतना ज्ञान हो जाय कि वस्तुतः यह ब्रह्म—अर्थात् मेरी आत्मा का प्रकाश, आत्म चेतन्य ही है, अन्य कुछ नहीं तब अज्ञान नष्ट होता है। जैसे घर में अंधेरा है तो दीपक लाने से ही अंधेरा मिटेगा—अन्यथा नहीं।

1. जब झीने से अज्ञानता के पर्दे के कारण आत्मा कारण शरीर स्तर पर चित्त को आवृत कर लेती है—वह 'बीज जागृत' अज्ञान की प्रथम भूमिका कहलाती है, क्योंकि यह सांसारिकता का बीजरूप में पाया जाना है, इसलिए 'बीज जागृत' अवस्था कहा है।

2. फिर ज्यों ज्यों आत्मा मन-इंद्रियों रूप सूक्ष्म शरीर से एकरूपता स्थापित करने लगती है—शुद्ध चेतना में 'मैं' और 'मेरे' आदि के भाव सर्व प्रथम उत्पन्न होते हैं, तब 'जागृत' अवस्था कहलाती है। यह अज्ञान की दूसरी भूमिका है। इसमें चेतना समय और दूरी की दुनिया से नाता जोडकर भौतिक शरीर से एक रूप होने लगती है और दृश्य जगत से राग-द्वेष आदि के संस्कार एकत्रित होने लगते हैं। परन्तु इस स्तर पर संसार के संस्कार गहन नहीं हो पाते हैं।

3. ये राग-द्वेषादि के सांसारिक संस्कार जब अज्ञानता के कारण गहन होने लगते हैं, तब आत्मा दृश्य जगत में संलग्न होकर यह सोच भी नहीं पाती कि इसके अतिरिक्त कोई आन्तरिक दुनिया भी है, यह अवस्था 'महाजागृत' कहलाती है और यह अज्ञान की तीसरी भूमिका है।

4. जो चित्त पूर्णतया है, चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, और उनसे भी संतुष्ट न होकर कल्पना की उड़ानों से अपना अलग जगत बनाने लगता है, अर्थात् जगत से ऊपर के स्वप्न देखने लगता है, उस मनोभूमि को 'जागृत-स्वप्न' अवस्था कहते हैं। यह चतुर्थ अज्ञान दशा है।

5. जब अज्ञानता और गहन होती है तो मनुष्य काल्पनिक पदार्थों को सत्य मानता हुआ भ्रातिपूर्ण स्थिति में पड़कर आत्मा के यथार्थ से दूर हटता हुआ मिथ्या ससार में उलझ जाता है। यह स्थिति स्वप्न में विलीन हो जाती है। यह पांचवीं भूमिका है।

6. और अधिक अज्ञानता में डूबने पर मनुष्य जागृत अवस्था में अनुभव करता है मानो विभिन्न पदार्थ स्वप्न में देखे हों—यह स्थिति 'स्वप्न जागृत' कहलाती है. जिस में भूत काल की स्मृतिया जागृत होकर ऐसा प्रतीत होता है मानों अभी अनुभव हुआ है यह अज्ञान की छठी

भूमिका है।

इन छः भूमिकाओं को छोड़ने के पश्चात् पूर्ण सुषुप्ति की अवस्था आ जाती है। इस भूमिका मे संसार पूर्ण अन्धकार से ढक जाता है। व्यक्ति अपने विचारों और काल्पनिक जगत में इतना तल्लीन हो जाता है, रम जाता है कि वह यह सोच ही नहीं सकता कि कोई यथार्थ संसार-आत्मा-परमात्मा का अध्यात्म जगत-भी है।

7. प्रारम्भिक अवस्था में सामान्य ज्ञान की स्थिति में आने की आकांक्षा रहती है, किन्तु धीरे-धीरे वह ज्ञान किरण लोप होकर मानस पर अपने कल्पना जगत का आवरण छाने लगता है—जो अन्त में चित्त पर हावी होकर पूर्णतया चेतना को घेर लेता है—वह पूर्ण अज्ञानावस्था, सुषुप्ति कहलाती है, जो अज्ञान की सातवीं भूमिका है।

ज्ञान की दिव्य सीढ़ी पर चढ़ने के इच्छुक साधक को अज्ञान की इन सात भूमिकाओ से बचने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। संसार रूपी समुद्र में अज्ञानता का गदला पानी भरा हुआ है, जो शास्त्र और संत्संग के बिना पार नहीं हो सकता। अनेक जन्मों में किए शुभ कर्मो के फलस्वरूप चित्त शुद्धि होती है—उससे सत्संग की इच्छा जागृत होती है।

अतएव वसिष्ठ जी ज्ञान की सप्त भूमिकाओं का वर्णन करते हैं, जिनके अभ्यास से साधक अज्ञानता के अन्धकार को पार करके ज्ञान के प्रकाश में प्रवेश करता हुआ दिव्य मोक्ष द्वार तक पहुच सकता है।

शुद्ध हृदय में प्रतिबिम्बित ब्रह्म अज्ञानता निवारण करके ज्ञान का प्रकाश करता है। यह अज्ञान शनैः शनैः सात स्तरों में विलीन होता है, जिसे ज्ञान की सप्त भूमिका कहते हैं। वसिष्ठ जी कहते है—

"ज्ञान रूपी सीढ़ी की इन सातों पेड़ियों पर चढ़ने के पश्चात् साधक संसार के जाल में नही फसता। ये सीढ़ियां मनुष्य को यथार्थ आनन्द प्रदान करने वाली हैं।

ये सप्त भूमिकाएं हैं—1. शुभेच्छा, 2. विचारणा, 3. तनुमानसी, 4. सतवापत्ती, 5. असंसवित्त, 6 पदार्थ-भावना और 7. तुर्या।

जब मनुष्य के मन में यह शुभ विचार उत्पन्न होता है कि मैं क्यों मूढ़ बना रहूं, क्यों न महापुरुष एवं शास्त्र की वाणी सुनकर ज्ञान प्राप्त करूं, सहज्ञान की **प्रथम भूमिका** शुभेच्छा है। ऐसी शुभ इच्छा के साथ विषयों में सुख अनुभव करने की वृत्ति कम होने पर साधक विचार करने लगता है कि क्या सत्य है और क्या क्षणिक—यह विचारणा है—**दूसरी भूमिका** इस सब के साथ इंद्रिय विषयों में रुचि क्षीण होने लगती है और मन की शक्ति दुर्बल पड़ जाती है—केवल आत्मा की किरण मात्र झलकती है—यह "तनु मानसी" कहलाती है—**तीसरी भूमिका** इस सब के फलस्वरूप चित्त शुद्धि होने लगती है।

तीन साधनाओं के बारम्बार अभ्यास करते रहने से साधक के मानस में प्रज्ञा दृष्टि का उदय होता है और वह ब्रह्मविद् अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला हो जाता है, तब **चतुर्थ भूमिका** 'सत्वापत्ति' जागृत होती है और योगी आत्मज्ञानी कहलाता है। फिर अनावित उत्पन्न हो जाती है, जो चार पूर्वभूमिकाओं का परिणाम है—यह है असंसवित, **पांचवीं भूमिका**।

प्रथम तीन स्तरों के फलस्वरूप साधक के पूर्व प्रारब्ध कर्म फल समाप्त होने लगे और पांचवी भूमिका तक समाधि से उत्पन्न ज्ञान दृष्टि इतनी तीव्र हो जाती है कि प्रारब्ध कर्म समाप्तप्रायः हो जाते हैं—तत्पश्चात् वह दूध से मक्खन की भांति सांसारिकता से अनासक्त हो जाता है। अतएव यह भूमिका कहलाती है इस स्तर पर आन्तरिक शान्ति एव आनन्द की अनुभूति होती है बाहरी अथवा मनोदशा से कोई सम्पर्क नहीं अत ये वास्तव में यथार्थ

से प्रतीत नहीं होते। दृश्य पदार्थों की चेतना न होना—यह अवस्था 'पदार्थ भावना' कहलाती है, जो ज्ञान की छठी भूमिका है, किसी के द्वारा दर्शाये जाने पर ही पदार्थ की चेतना जागृत होती है।

इन साधनाओं के निरन्तर अभ्यास द्वारा जब विविधता की दृष्टि बंद हो जाती है, और साधक अपने ही निर्लिप्त स्वरूप में स्थित हो जाता है—वह अवस्था 'तुर्या' कहलाती है जो ज्ञान की **सप्तमी भूमिका** है। इस स्तर पर योगी चेतना की तीनों अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति—को पार कर के अपनी निजी प्रकृति में स्थित हो जाता है—वह अविधा और उसके प्रभावों से मुक्त हो जाता है। उसके सारे प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं।

इन सात भूमिकाओं से भी ऊपर एक अवस्था है जो 'तुर्यातीत' कहलाती है, इसमें योगी को शारीरिक चेतना भी नहीं रहती।

जिन महान् आत्माओं ने यह सप्त भूमिका पार करली हों, वे मुक्त हैं और इस सुख-दुःख से पूर्ण संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबते। स्वाभाविक रूप से जो कुछ सामने आता है, करते हैं अथवा कुछ नहीं करते। गाढ़ निद्रा में सोए हुए की भांति रहते हैं। ज्ञानी जनों के द्वारा ही ये सात स्वर पहिचाने जाते हैं।

चतुर्थ, पंचम और छठी भूमिका वाले मुक्त पुरुष 'जीवन मुक्त' कहलाते हैं तथा सातवें स्तर वाली स्थिति विदेह मुक्ति है। इस प्रकार अन्तिम तीन अवस्थाएं विदेह मुक्ति की ओर अग्रसर करने वाली हैं।

सातों भूमिकाओं को पार कर लेने वाला योगी वस्तुतः महान है। उसने मानों मानव जन्म का लक्ष्य प्राप्त कर लिया। उसके हृदय में असीम आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है। ब्रह्म में स्थित ज्ञानी के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी तृणवत्—तिनके के समान—हो जाता है।

जो आत्माएं ज्ञान द्वारा संसार भ्रम से ऊपर उठ गए हैं और इस ब्रह्माण्ड को मृगजल के समान मिथ्या समझने लगे हैं, उन्हें ही परम शान्ति प्राप्त होती है। वे सन्त आत्माएं हैं जिन्होंने अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है—वे ही वन्दनीय हैं, उन की अपेक्षा सारे संसार का सम्राट भी कुछ नहीं।

---

* ब्रह्म सारी ज्योतियों की ज्योति (प्रकाश) है, ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, वह परम ज्योति है-वह अनन्त प्रकाश है। वह ज्योति स्वरूप है। उसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।

☐ **मन ही बहिर्मुखी होकर संसार को दिखाता है, अन्तर्मुखी होकर आत्मा को। आत्मा को न देखकर मन को देखने से वासनाएँ उत्पन्न होती हैं।**

4

स्थिति प्रकरण

परिवर्ध मानात् संकल्पादेष प्रपंचो जायते।
संकल्पक्षये प्रपन्चक्षयः। सर्वसंकल्पाभाव एव मोक्ष॥

—अद्वैतामृतोपनिषद

1. दृश्यजगत का मिथ्यापन तथा उसके निराकरण की कला (गाधि के उदाहरण द्वारा)

संसार के सारे पदार्थ, सारी परिस्थितियां तथा सांसारिक वस्तुओं के मापदण्ड परिवर्तनशील है और जीव एवं जड़ जगत सब नाशवान हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कुछ भी शाश्वत-अमरजीवी—नही है।

अतएव वेदान्त दर्शन में संसार को मिथ्या—केवल दृश्य मात्र माना है, इसमें सारतत्व केवल रचयिता ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक आदि शंकराचार्य ने एक सूत्र में ब्रह्म की परिभाषा देकर संसार के मिथ्यापन अथवा निस्सारता पर प्रकाश डाल दिया है कि, "ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या, जीव ब्रह्मैव नापरः" अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं।

इस तथ्य को योगवासिष्ठ महारामायण में अनेक प्रकार से विश्लेषण करके समझाया गया है। यदि कहें कि उस शास्त्र का मूल विषय ही यह है कि "ब्रह्म ही एक सार वस्तु है—अन्य कुछ नही" तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

महामुनि वसिष्ठ जी ने अनेक रूपों में विभिन्न कथानकों द्वारा संसार की निस्सारता पर प्रकाश डाला है। कहीं कहा है—अनन्त चेतना—शुद्ध अन्तःकरण ही संसार रूप में प्रकट है, कही मन का चमत्कार अथवा जादूगर के खेल की भांति संसार का प्रगट रूप बताया है—रस्सी में सर्प दृष्टि आकर एवं स्वप्नवत् दृश्यमान होकर जागने पर अलोप हो जाने का दृष्टान्त तो अद्वैत दर्शन मे यत्र तत्र सर्वत्र दिया ही जाता है।

वस्तुतः यह ब्रह्म की माया है जो संसार रूप में दृश्यमान है। मानव मन समय दूरी और कारण द्वारा सीमित है—वह असीम ब्रह्म की रचना को असीम भाव के बिना नहीं समझ सकता। मन, विक्षेप, आवरण को दूर करने से ब्रह्म के सिवाय कुछ दृष्टिगत नहीं होगा। संसार का स्थूल रूप जो परिवर्तनशील और नाशवान है—केवल वही सीमित इन्द्रियों से दृष्टि आता है—

स्थूल रूप में जो सारतत्व है, किन्तु जिसकी शक्ति से संसार की सारी क्रियाएं होती हैं, अग्नि जलती है, वायु चलती है, बुद्धि में स्पन्दन होता है—आदि आदि वह सब कुछ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अपनी निम्न प्रकृति को ऊंचा उठाकर भगवद्‌भक्ति के द्वारा एवं मानवसेवा रूप में कर्मयोग द्वारा भावनाओं को परिष्कृत करने से उदात्त भाव बन सकते हैं, तब संसार की असारता का ज्ञान होगा। ज्ञान का उदय होने पर वासनाओं के मिथ्या अस्तित्व की अनुभूति होती है कि इनका कोई आधार नहीं है तो मुक्त है ही अत ज्ञान होने पर अपने आप मुक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेती है इस अनुभूति के बिना कि य सब ब्रह्म ही है आ का निराकरण दुर्लभ है

जब तक हृदय म यह विश्वास न बैठ कि दुनिया झूटी है, तब तक आत्मा का ज्ञान नहा हो सकता। ज्ञान होने पर योगी समझने लगता है कि यह आत्मा का ही प्रकाश है जो संसार रूप मे प्रतीत होता है। यह ज्ञान होने पर वह आत्मा में स्थित हो जाता है और विश्व में रहते हुए भी ससार का मिथ्यापन अनुभव करता है।

भगवान कृष्ण अर्जुन को कहते हैं, यह विशाल संसार भ्रान्तिपूर्ण मिथ्या आधार पर खड़ा है—आत्मारूप सागर पर बबूलों की भांति। जैसे समुद्र में उठने वाले बुलबुले सारहीन होते है, उसी प्रकार यह संसार है जो ब्रह्मरूप आधार पर अस्तित्वहीन भासमान है। यह सब शुद्ध चेतन्य रूपी चादर पर चित्रित है—यह ब्रह्म से ही ब्रह्म निकला है—ब्रह्म का भोक्ता है—अतः अहंता की भावना भी अभिमान मात्र है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी समय, दूरी और कारण का सम्बन्ध बताकर अपने ढंग से ससार के मिथ्यापन पर प्रकाश डाला है कि विश्व जो इंद्रियो द्वारा दृष्टिगत होता है, वह नहीं है, दृश्यमान पदार्थ सीमित होते हैं, अतः वे पूर्ण नहीं हो सकते—वे केवल यथार्थ का आभास मात्र देते हैं।

भारतीय संत स्वामी ज्योतिर्मयानन्द ने रोचक विधि से संसार के मिथ्यापन को चित्रित किया है। आप लिखते हैं, "संसार समय, दूरी और कारण के सिवाए कुछ नहीं है अर्थात् विश्व की सारी स्थिति, परिस्थिति और घटनाएं समय, दूरी और कारण में सीमित हैं। सीमित मन के द्वारा यह नही बताया जा सकता कि समय-दूरी कब कहां से और कैसे उत्पन्न हुए और मन को हटा दें तो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगत नहीं होगा।"[1]

लीला के कथानक द्वारा वसिष्ठ जी ने सृष्टि उत्पत्ति—रचना ब्रह्म को बोधगम्य रूप से वर्णन करते हुए समझाया है कि किस प्रकार यह दृश्यमान जगत अस्तित्व में आया हुआ सा भासता है—यद्यपि इसमे सारतत्व इसके आधार परम सत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

संसार कभी हुआ ही नहीं—फिर भी दृष्टि आता है—देवी सरस्वती के द्वारा उनकी कृपापात्र लीलावती को सृष्टि का यह रहस्य समझाया गया है।

पूर्व प्रलय के पश्चात् जो कुछ दृश्यमान था, विलोप हो गया—केवल अनन्त सत्ता शेष रही—जिसका न कोई रूप था, न अरूप—न कोई इंद्रियां थी, फिर भी देखना, सुनना, बोलना आदि क्रिया शक्ति सम्पन्न था—बिना कारण के भी सबका कारण वही था, जिस प्रकार लहरों का कारण जल है आदि। वह अनन्त-शाश्वत प्रकाश सभी के हृदयों में विद्यमान है। उसी के प्रकाश से तीनों लोक मृगमरीश (मृगमरिरचिका) चिका की भांति आलोकित हैं।

जब वह अनन्त चेतना स्फुरित होती है, तब संसार प्रकट होता प्रतीत होने लगता है और जब स्थिर रहती है तो संसार नहीं रहता—जिस प्रकार फुलझड़ी तीव्रता से घुमाने पर चक्र जैसा दीखने लगती है और रोकने से वह गोलाकार रूप लुप्त हो जाता है।

यह स्फुरणा तथा इसका अभाव रहना हर समय सर्वत्र रहता है—इसे न समझने के कारण भ्रम रहता है—और जब समझ आ जाता है तो सारी वासना व चिन्ताएं मिट जाती हैं।

इसी से समय है और सब दृश्यमान पदार्थ इसी से दृष्टिगत होने लगते हैं। इस लीला की कहानी द्वारा प्रैक्टिकल रूप मे संसार की क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता और मिथ्यापने का दिग्दर्शन कराया गया है। कहानी इस प्रकार है—एक बढ़ा धर्मात्मा जनप्रिय राजा पद्मा और उसकी पतिव्रता गुणवती पत्नी लीला आनन्दपूर्वक रहते थे। लीला ने सोचा कि सन्त महात्माओं के परामर्श से ऐसी तपस्या करूं कि हम दोनों सदैव जीवन के सुख भोगते हुए बने रहें। महान् सन्तों के पास गई—वे

1. योगा गाइड-पत्रिका फरवरी ७६

बोले, हे रानी ! जप, तप और साधनाओं से निश्चय ही इस जीवन में प्रत्येक सम्भव सुख की भागी बन सकती हो, किन्तु शारीरिक रूप से अमर होना सम्भव नहीं। इस पर विचार करके रानी ने निणय लिया—यदि में राजा से पहले चली जाती हूँ, तो मुझे आत्मज्ञान हो जाएगा—यदि राजा पहले शरीर त्याग दे तो मैं इसी विचार से संन्तुष्ट रहूंगी कि उसकी जीवात्मा महल में रहे। यह सोचकर वह पति से बिना सलाह किए ही तप करने लगी और देवी सरस्वती प्रकट होकर बोली—"वर मांगो—क्या चाहती हो।"

देवी सरस्वती ने लीला के पातिव्रत्य, धर्मनिष्ठा और तपस्या से प्रसन्न होकर उसके मागे हुए दो वर दिये। प्रथम यह कि उसका पति पद्म अपनी मृत्यु के वाद उसी महल में रहे और दूसरा था कि लीला जब देवी का स्मरण करे, तभी वह उपस्थित हो जाए।

अतएव देवी सरस्वती के निर्देशानुसार लीला समाधिस्थ हो गई और उसी की प्रदान की हुई अलौकिक शक्ति से लीला 15 दिन समाधि में लीन रही—उस अवस्था अर्थात् ध्यानास्थिति मे सरस्वतीदेवी ने अपने वरदानों की क्रियान्विति में लीला को सूक्ष्म शरीर से तीन संसारों की सूक्ष्म यात्रा करवा दी।

लीला अदृश्य रूप में अपने तीन,जन्म देख सकी (भूतकाल, भविष्य और वर्तमान)। पूर्वजन्म मे वह पर्वत ग्राम नामक गांव मे एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती थी। दम्पत्ति की धर्मनिष्ठता के आधार पर, ब्राह्मण के चिन्तन के फलस्वरूप उसकी हार्दिक वाछा के अनुसार वह अगले जन्म मे राजा पद्म और उसकी पत्नी लीला हुई।

राजा पद्म के युद्ध में वीरगति को प्राप्त होने पर आगामी जन्म में वह विदर्भ देश का राजा विदूरथ बना और पत्नी थीं लीला। देवी सरस्वती लीला से कहती है—"तुम उस वसिष्ठ ब्राह्मण की पत्नी अरुन्धती हो तुम्हारी दुनिया का विस्तार भ्रान्ति के आधार पर हुआ। सृष्टि के भीतर सृष्टि है—जैसे स्वप्न के भीतर स्वप्न प्रतीत होते हैं—अनुभव करने वाले को सत्य प्रतीत होते हैं, वस्तुत हैं कुछ नहीं। जिस प्रकार जागने पर स्वप्न झूठा लगने लगता है—उसकी असारता मालूम हो जाती है—कि अरे, यह तो स्वप्न मात्र था—यथार्थ नहीं, उसी प्रकार ज्ञान होने पर योगी इस संसार की असारता को पहिचान कर इसे मिथ्या समझने लगता है।

कर्कटी की कहानी में भी राजा और उसके मंत्री के प्रश्नों के उत्तर में संसार की निस्सारता पर प्रकाश डाला गया है कि अनन्त चेतना ही अपनी माया से अपने भीतर संसार को देखती है—वास्तव में संसार कुछ नहीं है। वायु, शब्द, प्रकाश एवं समस्त पदार्थ, जो कुछ भी विश्व रूप मे दृष्टि आ रहा है, वह सब माया का खेल है—भ्रांति मात्र अनन्त चेतना के अतिरिक्त कुछ नही है।

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक विभिन्न रूपीय जगत में विभाजन दृष्टि आता है, किन्तु है नहीं—सब एक ब्रह्म अथवा अनन्त चेतना है। संसार न कभी उत्पन्न हुआ, न विलीन हुआ। अनन्त अन्तःकरण की स्थिति में पूर्णतया स्थित होने को ज्ञानीजन ब्रह्मन् संज्ञा देते हैं। जब वह स्थिति विचलित हो जाती है, तब विश्व यथार्थ प्रतीत होने लगता है, जिससे पदार्थों की विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है—देव, राक्षस, मनुष्य, पेड़-पौधे-कीड़े-मकोड़े आदि यदि उस स्थिति से कोई च्युत नही होता—विचलित न हो तो उसे अनुभव होता है कि सत्य सदैव और सर्वत्र मौजूद है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार जगत के मिथ्यापन को सामान्यतः स्वप्न के दृष्टान्त से समझाया जाता है—योग वासिष्ठ के अंग्रेजी रूपान्तर रूप 'सुप्रीम योगा' के रचयिता स्वामी वेंकटेशानन्द ने एक श्लोक में योग वासिष्ठ ज्ञान का सार इंगित करते हुए विश्व को आकाश के नीलेपन से उपमा दी है जिस प्रकार आकाश वस्तुत नीला नहीं है न कोई सार है नेत्रों को नीला

भासता मात्र है—इसी प्रकार जगत कुछ है नहीं, भासता मात्र है। अच्छा है कि इसमें चित्त को भ्रमित न करके उपेक्षा की जाय।[1]

आत्मा सारी सृष्टि में व्याप्त होने के कारण सृष्टि सत्य प्रतीत होती है। सही रूप में साधना द्वारा खोज होने पर वह आत्मा में विलीन हो जाती है—सृष्टि में कोई विभिन्नता नहीं है, आत्मा रूप कैनवस पर मन के द्वारा चित्रित विभिन्नता सृष्टि रूप में दृश्यमान है।

जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपना जाल बुनकर उसी में फंस जाता है, इसी प्रकार यह अनन्त आत्मा संसार की कल्पना करके इसी में उलझ जाती है।

अस्तित्व के कण कण में परम सत्ता के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। विश्व का प्रकट रूप भ्रम है, दश्यमान जगत प्रतीत होता है, परन्तु उसमें सार तत्व परम सत्ता ही है। अनन्त चेतना ही विभिन्न रूपीय पदार्थों में प्रकट होती है। अन्तःकरण के कम्पन के द्वारा विचारों की सृष्टि होती है, वही विभिन्न शरीरों एवं पदार्थों के रूप मे दृष्टि आने लगते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र के गम्भीर चिन्तक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि कबीर ने संसार की असारता और मिथ्यापन को अनेक पदों में चित्रित किया है। कबीर के पद हैं—

रहना नहीं, यह देश विराना है।
"यह संसार कागज की पुड़िया
बूंद लगे गल जाय।"
"यह संसार फूल सेंवर का
धूप लगे कुम्हलाय।" आदि आदि

संसार के जाल में उलझे हुए प्राणियों पर मनोरंजक प्रहार करते हुए कबीर जी कहते हैं—

"यह संसार कांटों की बाड़ी
उलझ उलझ मर जाना है।"

सांसारिक मनुष्य इस प्रकार दुनिया में रम जाता है, मानो मेरा स्थायी घर यही है—माया, मोह में फंस फंस कर आसक्ति बढ़ती जाती है—जिस प्रकार मकड़ी जाल पूर कर स्वयं ही उसमें फस जाती है—इसी प्रकार मनुष्य यहां फंसता जाता है और फिर शास्त्राध्ययन एवं गुरु ज्ञान द्वारा चेतना जागृत होने पर योग साधना आरम्भ भी करे तो अपने को इतना उलझा हुआ पाता है कि निकलना दुर्लभ हो जाता है—अतएव कबीर जी कहते हैं—इस संसार रूपी कांटों की बाड़ी से निकलना सरल नहीं। उलझ-उलझ कर मरना होगा—तात्पर्य यह है कि समय से पूर्व संसार के रहस्य को समझ लो।

जब तक अज्ञानता रहती है, तब तक विश्व सत्य प्रतीत होना है—ज्ञान प्राप्ति पर ससार मिथ्या दृष्टि आने लगता है। जब मनुष्य अपने चित्त को सार्वभौम चित्त से एक रूप कर देता है, तब वह आत्मस्वरूप को प्राप्त होकर संसार चक्र की भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है।

यद्यपि संसार अज्ञानता के कारण सत्य दृष्टि आता है परन्तु इसे असत्य एवं मिथ्या समझना चाहिए। निरन्तर चिन्तन एवं पुरुषार्थ के द्वारा पदार्थों को सत्य मानने का स्वभाव छोड़ देना चाहिए।

स्वप्नद्रष्टा से उत्पन्न हुआ संसार स्वप्न की प्रकृति का होगा और ब्रह्म से उत्पन्न जगत ब्रह्म की प्रकृति का होगा। ब्रह्मा अनासक्त भाव से सार्वभौमिक मानस द्वारा सृष्टि रचना करता है, वह

---

1. This world appearance is a confusion, even as the blueness of the sky is an op cuun usion I hink t is better mo o le the mind dwell on t but to gnore (1 3 2 (In roduct on)

जगत के मिथ्यापन को जानता है।

सृष्टि मानसूनी वर्षा की तलैयों की भांति क्षण भर में उपजती है और क्षण भर में लोप हो जाती है। जिस प्रकार वर्षा बंद होते ही तलैया सूख जाती है, उसी प्रकार चित्त की सूक्ष्म वृत्तियों—वासनाओं से उत्पन्न संसार ज्ञानोदय होने पर शान्त हो जाता है।

अज्ञानता के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है—जैसे स्वप्न की दुनिया में कुछ भी घटित हो सकता है, उसी प्रकार सार्वभौम मानस का स्वप्न विचित्र चमत्कारों से भरा होता है। मन के संकल्पो द्वारा आत्मा अनगिनत ससार चक्रों का अनुभव करती है। परन्तु इनमें यथार्थ कुछ नहीं है। स्वप्नद्रष्टा जो स्वप्नों के विभिन्न दृश्य देखता है, वे दृश्य कोई अस्तित्व नहीं रखते, इनके पीछे स्वप्नद्रष्टा ही यथार्थ है—इसी प्रकार दृश्य संसार के पीछे संसार का रचयिता ब्रह्म ही यथार्थ है—अन्य कुछ नही।

संसार मिथ्या होने का तात्पर्य है कि संसार का विचार यथार्थ पर थोपा गया है—जैसे अधेरे मे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, इसी प्रकार यथार्थ ब्रह्म को संसार मान लेते हैं—वास्तव मे सब ब्रह्म ही है। यह माया है भ्रान्ति मात्र। ज्ञान के अभाव में अज्ञानतावश जो दृष्टि आने लगता है, अथवा समझ लिया जाता है, वह माया है।

वसिष्ठजी कहते हैं, "हे राम ! संसार रूपी कूप में मोह रूपी घड़ों की माला है, तृष्णा और वासना रूप रस्सी से बंधे हुए जीव भमते हैं।" अर्थात् मोह, तृष्णा और वासना ही संसार का मूल है। इनसे प्रेरित हुआ संसार चक्र में घूमता हुआ जीव दुःख, सुख, चिन्ता और क्लेशों का शिकार बना रहता है।

युवावस्था रूपी वर्षाकाल में बुद्धि आदि नदियां मलिन भाव को प्राप्त हो जाती हैं, कामना रूप बादल गरजने लगते हैं, जिस के फलस्वरूप तृष्णा रूपी मोरनी प्रसन्न हो कर नृत्य करती है। इस प्रकार अज्ञान रूपी अंधकार से उत्पन्न युवावस्था का प्रमाद जीव को भ्रमित करता हुआ सारे अनर्थ करवाता रहता है। फिर यौवनावस्था रूप चूहे को बुढापा रूपी बिल्ली आ दबाती है और शरीर जर्जर होकर निर्बल हो जाता है किन्तु तृष्णा फिर भी नहीं छोड़ती और तृष्णा रूपी अग्नि से हृदय तप्त होता रहता है। इसी भ्रमजाल मे तपते तपते प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, कभी मन को शान्ति नही मिलती। इन्द्रियों से हटाकर आत्मा में चित्त स्थिर करने से शान्ति का अनुभव होता है।

अज्ञान के कारण मनुष्य का मन विषय भोगों में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के अमृत से कमलिनी फूलती है, उसीप्रकार अज्ञान के कारण वासनाए प्रबल होकर आशा को जन्म देती हैं, जिससे यह संसार रमणीक प्रतीत होने लगता है।

मन की समाप्ति अर्थात् मनोनाश पर दृश्य जगत का निषेध हो सकता है। जब तक जीव को वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, तब तक यह मिथ्या संसार सत्य भासता है—और फलस्वरूप अनेकों कष्ट सहने पड़ते हैं।

जो व्यक्ति घात प्रघातों से प्रताड़ित होने के पश्चात् पूर्व जन्म के संस्कारों के फलस्वरूप अन्तर स्थित दिव्यत्व के उदित होने पर अज्ञान निद्रा से जाग जाता है, उनमें आत्मस्वरूप की ओर प्रवृत्त होने की जिज्ञासा उत्पन्न होने लगती है और ज्ञानी गुरु की खोज में व्याकुल हुआ ज्ञान पाने का अधिकारी बनकर शास्त्र और गुरु के सहारे से ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानवान को संसार में कोई दुख नहीं है, कयोंकि ज्ञानी इस तथ्य को समझता है कि संसार का कोई अस्तित्व नहीं अत उसमें न होकर कमल पत्रम् इव जगत के सारे करता है परन्तु अज्ञानी को इस ससार समुद्र से उबरना कठिन होता है वह अपने भीतर ही भ्रम देखता

है और निकल नहीं सकता। उसे यह तुच्छ संसार बड़ा दुस्तर भासता है, कारण कि वह जगत को रमणीक जानकर उसके जिन-जिन पदार्थों की इच्छा करता है, वे सब पंच भौतिक पदार्थ हैं—नाशवान। परन्तु जीव उन्हें सुन्दर जानकर उनसे प्रीति रखता हुआ स्थिर समझता है—वहीं अनर्थ के निमित है।

गहन चिन्तन से दृश्य संसार के मिथ्यापन का रहस्य मन में दृढ़ होता है कि संसार कभी उत्पन्न ही नहीं होता, यह तो ब्रह्म का ही भ्रान्तिमय परिवर्तित रूप है। यह दृश्य संसार ब्रह्मरूपी आकाश में बसा हुआ है—अज्ञानता का पर्दा हटने पर अपनी सारी उपाधियों के साथ यह अलोप हो जाता है और उसकी सारी महत्ता समाप्त हो जाती है। वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम यह दृश्य बुद्धि ही संसार का बीज है—ज्ञान रूपी अग्नि से इस बीज को भस्म करो—प्रज्ञा के प्रकाश से दृश्य ससार का अन्त हो सकता है। यही मोक्ष प्राप्ती का एकमात्र उपाय है। दृश्यजगत की भ्रान्ति का अन्त होने पर ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिल सकता है। जब तक मन में 'मैं', 'तुम' 'वह' रूप में जगत का दृश्य समाया रहेगा, मोक्ष सम्भव नहीं।

वसिष्ठ जी बारम्बार कहते है, हे राम ! जगत कुछ नहीं है, मन की कल्पना मात्र है, मन की स्फुरणा से ही जगत दृश्यमान होता है—वस्तुतः कुछ नहीं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है। अन्य किसी का कोई अस्तित्व नहीं।

संसार परिणाम नित्य है—परिवर्तनशील, ब्रह्म कूटस्थ नित्य है। अपरिवर्तनीय शाश्वत—ससार अपेक्षाकृत सत्य है, ब्रह्म 'सत्यस्य सत्य' है। संसार व्यवहारिक सत्ता है, ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है—पूर्ण यथार्थ, स्वप्न के जीव प्रातिभासिक सत्ता हैं—केवल प्रतीत होने वाले—सार कुछ नहीं।

संसार अत्यन्त मिथ्या नहीं है, मिथ्या है संसार इस प्रकार का असत्य नहीं है, जैसे आकाश मे कमल अथवा खरगोश के सींग—जो कभी हो नहीं सकते—संसार के मिथ्या होने का यह भाव नही—ब्रह्म की अपेक्षा संसार असत्य है—केवल प्रतीति मात्र।

मिथ्यात्व के यथार्थ भाव को न समझने के कारण लोगों में अनेक भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। यदि संसार को सत् भी मानो, तब भी शंकर के अद्वैत के अन्तर्गत ही रहेगा—जिसप्रकार आलोक से अग्नि में द्वित्व पैदा नहीं हो सकता, वस्तु एक ही रहेगी—इसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ संसार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता—ब्रह्म ही है। प्रकट में कुछ भी प्रतीत हो उससे यथार्थ प्रभावित नहीं हो सकता। जिस प्रकार जल से लहर और अग्नि से लपटें पैदा होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति हुई है।

2 अहंकार द्वारा संसार की सर्जना—(दाम, व्याल और कट के दृष्टान्त द्वारा)

चिति अथवा शुद्ध चैतन्य जब सीमित चित्र का रूप धारण कर लेता है तो वह इन्द्रियों और उनके विषयों के इस मिथ्या संसार की रचना कर लेता है और उसमें धीरे-धीरे 'मैं' और 'मेरापन' के भाव विकसित हो जाते हैं। यह संसार चक्र सर्वभौम चित्त की कल्पना की कल्पना द्वारा पोषित होता रहता है। 'मैं' और 'मेरा' के भ्रान्तिपूर्ण विचारों के निवारण पर वह दोषपूर्ण संसार चक्र बन्द हो जाता है परन्तु उस भ्रान्ति के दूर हुए बिना इस चक्र से छुटकारा नहीं हो सकता।

यह संसार चक्र मनुष्य की निजी भूल से उत्पन्न हुआ—अपने प्रयत्न से ही निस्तारा संभव है।

'मैं 'मेरा' के दोषपूर्ण विचारों को त्याग कर अद्वैतब्रह्म को जाना जा सकता है जो सर्वव्यापक और सारे पकाशों का प्रकाश शुद्ध चैतन्य है—उसी की ज्योति से सब कुछ ज्योतिर्मान होता है सभी पदार्थों व प्राणियों के पीछे वही एक सत्य है

अज्ञानता के कारण मनुष्य इस शुद्ध चैतन्य आत्मा को न पहिचान कर उसे देह पर आधारित समझता है। यह आत्मा से भिन्न सत्ता रूप माना हुआ अहंकार मिथ्या संसार की रचना करके दुःखों की सृष्टि करता है।

जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से अन्धकार दूर करता है, वैसे ही चैतन्य आत्मा की ज्योति से शरीर इन्द्रियां और पदार्थ प्रकाश पा कर सब कार्य करते हैं। अहंभाव से धुंधली हुई दृष्टि द्वारा भ्रान्तिरूप कोहरा विकसित होकर, संसारचक्र के रूप में फैल जाता है। वस्तुतः अखिल विश्व की सम्पूर्ण सृष्टि शुद्ध चैतन्य अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अंहभाव वह अणु है जिसमे भ्रान्ति के आधार पर संसारचक्र प्रसारित होता है। ज्ञान के बल से अहंभाव द्वारा पोषित विश्व के ऊपर आत्मा समस्त सृष्टियों का शासन अपनाती है। ये सारे नाम रूप शुद्ध चैतन्य हैं। अह मे विभाजन के कारण असंख्य जीव और पदार्थों से युक्त संसार की रचना हो जाती है। अहंकार के भाव से आंतरिक संसार की सृष्टि होती है और पदार्थ भावना से बाहरी संसारचक्र उत्पन्न होता है। जहा कहीं सूक्ष्म वासनाओं से विकसित हुआ अहंकार का बीज होता है, वहां स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से युक्त संसार चक्र की सृष्टि पनपती है। अहंकार अज्ञानता का परिणाम है—जो शुद्ध चैतन्य में एक धब्बा समझना चाहिये—इसे सतसंग रूपी जल से धो कर छुडाया जा सकता है। जबतक 'मैं' या 'आत्मा' की यथार्थ प्रकृति का ज्ञान न हो, अज्ञानता का मल बढ़ता रहता है, परन्तु सत्संग और विचारणा द्वारा यथार्थ प्रकृति का ज्ञान होने पर अज्ञानता पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है।

राम के पूछने पर वसिष्ठजी बताते हैं कि निरंतर अपनी यथार्थ प्रकृति आत्मा का स्मरण करने से मिथ्या अहंकार नहीं पनप पाता जो बढ़ते बढ़ते विशाल संसारचक्र का रूप धारण कर लेता है। इस प्रसंग में अहंभाव तक यह निम्नकोटि मिथ्या अहंकार जीवन में दुख का कारण बना रहता है। अर्थात् जब 'मैं' शरीर के साथ मिला हुआ आत्मा से एक अलग सत्ता माना जाता है, उसके प्रसार से संसारचक्र प्रसारित होता है—इसके विपरीत आत्मा ज्ञान होने पर 'मैं' को ब्रह्मरूप मे ही देखने की दृष्टि बन जाती है— 'मैं' की अलग सत्ता नहीं रहती, दृश्य मिथ्या प्रतीत होने लगता है। अतएव बताते हैं कि अहंकार तीन प्रकार का होता है, उनमें दो प्रकार का शास्त्रों के ज्ञान पर आधारित है और तीसरा देह के अस्तित्व को ही महत्ता देने वाला है, वह त्यागने योग्य है। प्रथम दो प्रकार के अहंकारों के योगों में यह भाव होता है कि 'मैं सर्वात्मा हूं, मुझ से भिन्न कुछ नहीं है। मैं सारे नाम रूपों के पीछे यथार्थ अद्वैत रूप हूं।' ज्ञान की सप्त भूमिकाओं पर चढ़ता हुआ साधक अनुभव करता है कि "मैं सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्ता हूं, मैं संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न और अविभाज्य आत्मन् हूं।" इसप्रकार के अहभाव से योगी के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

इसके विपरीत देह में अहं भाव होने पर जीव नाशवान देह को ही सब कुछ मानकर दुखद चक्रों में फंसता हुआ कष्ट पाता है—इस प्रकार के मिथ्या अहंकार को जड़ से उखाड़ फेंकना श्रेयस्कर है। प्रथम दो प्रकार के उच्च अहं की भावना को सुदृढ़ करके देहाभिमान को नष्ट किया जा सकता है। धीरे-धीरे कालान्तर में उच्चतर अहंभाव भी विलीन होकर यह चेतना जागृत होने पर कि 'मैं यह देह नहीं हूं' परमोच्च लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

अहं का चमत्कार दिखाने के लिये वसिष्ठ जी ने दाम, व्याल और कट का कथानक दिया है।[1] शम्बर राक्षस ने देवताओं से युद्ध करने के लिए जो तीन मायावी राक्षस उत्पन्न किये थे—दाम (शत्रु सेना का दमन करने वाला), व्याल (सर्प के विष के समान विषैला) और कट (शत्रु सेना के

1 पृ० वासना क्षय एवं मनोनाश शीर्षक अध्याय में देखिये

हथियारों को काट फेंकने वाला)[1]. उनमे पूर्वजन्म न होने के कारण अहंभाव नहीं था, अतः वासनाएं जागृत नहीं हुई थीं, वे निर्भय होकर लड़े और देवताओं को पछाड़ दिया, तब देवताओं ने ब्रह्माजी की शरण ली कि उन तीन राक्षसों को मारने का उपाय बतावें। ब्रह्माजी ने कहा—राक्षसों का राजा शम्बर तो भगवान विष्णु द्वारा ही मारा जाएगा—तब- तक तुम उन मायावी तीन राक्षस सेनापतियों मे अहं पैदा करने के उपाय करो। ब्रह्माजी ने देवराज इन्द्र को समझाया कि अहं भाव उत्पन्न हुए बिना उन्हें नहीं मारा जा सकता। "यह मेरा शरीर है—मेरी विजय होगी—मैं योद्धा हूं" आदि भावों से विपत्तियां बढ़ती हैं, "इसलिए हे इन्द्र। इन तीनों में देहभाव उत्पन्न करने के उपाय करो।" यह कह कर ब्रह्मा जी अदृश्य हो गए।

ब्रह्माजी के अदृश्य होने के पश्चात् देवताओं ने कुछ दिन अपने अपने स्थानो पर विश्राम करके नए सिरे से राक्षसों से लड़ने की तैयारी की। दोनों के बीच का पुनः युद्ध पहले से कही अधिक भंयकर था। निरंतर युद्ध में लगे रहने से राक्षसों के तीन नेताओं मे भी 'मैं' पन का भाव पैदा हो गया। जिस प्रकार आइने के पास के पदार्थ का प्रतिबिंब, पास मे दृष्टि आता है, उसी प्रकार 'अहंभाव' शुद्ध चैतन्य में प्रतिबिम्बित होने लगता है। यदि यह भाव अन्तःकरण से दूर रहे तो शुद्ध चेतन्य पर प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु एक बार उत्पन्न होने पर शीघ्र ही वासनाएं जागृत हो जाती हैं वासनाओं से उनका चित्र विक्षिप्त हो गया, खाने, पीने एव विषय-भोगों में लग कर वीरता नष्ट होने लगी तथा जीवन के मोह से भयभीत होकर अपनी जान बचाने के लिए पाताल में जाकर छिप गए। चिरकाल तक वहां रहने के बाद नीची योनियों को प्राप्त हुए।

प्रथम उत्पन्न किए मायावी राक्षसों में ब्रह्मा जी की युक्ति से अहं और वासनाओं की उत्पत्ति होने पर राक्षसों की सेना को बिखरा देखकर राक्षस पति शम्बर ने विचार करके और तीन राक्षस पैदा किए जो अपनी यथार्थ प्रकृति के ज्ञाता, अनासक्त तथा निरहंकारी थे—भीम (भयंकर), भास (ज्योतिर्मय) और दृढ़ (अपने निश्चय पर अटल रहनेवाला)।

वे देवताओं के विरुद्ध लड़ने लगे—बारम्बार देवताओं ने उनमें अहं पैदा करने का प्रयत्न किया—पर असफल रहे। ज्यों ही उन में अहंकार का लेश शिर उठाता वे तुरन्त अन्तर्दृष्टि से उस भाव को नष्ट करके निर्भयतापूर्वक संतुलित मन से लड़ते रहे। अहंभाव रहित जीवन अथवा मृत्यु से निरपेक्ष, स्वामी के प्रति, कर्तव्य रूप में युद्ध करते रहे। शीघ्र ही देवताओं के सैनिक बिखर गए और उन्होंने विष्णु भगवान की शरण ली। भगवान ने प्रकट होकर स्वयं राक्षओं से युद्ध किया और राक्षस पति शम्बर को मार डाला। वह तुरन्त वैकुंठ धाम पहुंच गया। फिर भगवान ने उसके तीनो सेनापति राक्षसों को भी मुक्ति प्रदान की, उनके शरीर पृथ्वी पर गिरते ही उन्हें ज्ञान हो गया, क्योंकि उनमें अहंभाव नहीं था।

अहंभाव का त्याग यथार्थ सत्य है। शरीर के साथ सम्बन्ध मानने के कारण 'मैं' कहां जाता है वस्तुतः ये सारे नाम रूप शुद्ध चैतन्य हैं, यह अनुभूति हो जाय कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा का प्रसार है तो सीमित अहं रूप विभाजन नहीं रहेगा। फलस्वरूप चित्त में विक्षेप न रहने से साम्यभाव की सृष्टि होगी।

अहंभाव के नष्ट होने पर मनुष्य के व्यक्तित्व में सारे दैवी गुण प्रकट होने लगते हैं, किन्तु अहकार की वृद्धि होने पर उत्तम गुणों का प्रकाश क्षीण होकर प्रकृति में दोषपूर्ण अशुभ लक्षण दृष्टि आने लगते हैं जो सर्वनाश का कारण है। दाम, व्याल और कट का उदाहरण इसका प्रमाण हैं।

अतएव वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम अपने यथार्थ स्वरूप को भूलने के कारण जीव संसारचक्र

1 स्वामी

मे पड़ जाता है, जब विचारणा—आत्मचिन्तन द्वारा उसे यह अनुभूति होती है कि मैं यह शरीर नही सत्चिद् आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूं, तब सब दुखों से मुक्त हो जाता है।

वासना मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में डालती हैं—वासना का नष्ट होना अहंकार निवृत्ति पर निर्भर है—भीम, और दृढ़ का उदाहरण इस तथ्य का प्रमाण है कि सफलता का रहस्य अहं का निराकरण है। वासना अद्भुत होती है। इस प्रकार अहंभाव के बीज से यह संसार चक्र की निर्जीव लता प्रस्फुटित होती है। अहंकार ही सारे दुखों की जड़ और बंधन का कारण है, शुद्ध चैतन्य के विभाजन द्वारा सीमितता के विचारो को त्यागो।

वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम ! अपने मन की पूर्ण शक्ति से इस अहंभाव के बीज को नष्ट कर दो और दृढ़ता से यह विचार कर के प्रसन्न होओ कि 'मैं' कुछ है ही नहीं। अब एक अनन्त चैतन्य—जिसकी प्रकृति शुद्ध आनन्द है, उसे 'अहंभाव' की छाया से मानो ग्रहण लग गया हे। वास्तव में सब कुछ ब्रह्म अथवा शुद्ध चैतन्य ही है—उस सर्वोत्तम भाव में अज्ञान के कारण अहंभाव की सीमाएं खड़ी कर के संसारचक्र की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है—विचारणा के द्वारा ब्रह्मज्ञान रूपी कुल्हाड़ी से ही इसे नष्ट किया जा सकता है।

अहंभाव से मुक्त हो कर शुद्ध चैतन्य आत्मा में मन स्थिर होने पर ब्रह्मकार दृष्टि बन जाएगी—मैं, तुम, वह के स्थान पर सर्वत्र ब्रह्म का ही विस्तार दृष्टि आएगा और संसार दृष्टि से ओझल हो जाएगा।

मनुष्य कर्तापन का अहंकार मान कर दुख पाता है। योगीजन चित्तशुद्धि के लिए केवल इन्द्रियों से निरासक्त भाव से काम करते हैं—श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है,

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥"

चिदाकाश में जो यह भाव आता है—'मैं हूं' उसमें कोई दोष नहीं है। 'मैं' यथार्थ सत्य है, सार्वभौमिक चेतना, शाश्वत आत्मा—'ब्रह्म', परन्तु जब 'मैं' एक या अनेक शरीरों से जुडकर चित्ताकाश अथवा मन बन जाता है, वह (मन) वासना, स्मृति और संस्कारों को ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार अलग व्यक्तित्व बन कर एक के बाद एक जन्म लेता हुआ विविध दुख भोगता है।

एक को अनेक मे विभाजित करके जीव अपने को एक अलग सत्ता रूप में अनुभव करने लगता है—वह विभाजन—वह विविधता भ्रान्ति एवं मिथ्या है। इस प्रकार के अहंकार से ही मिथ्या ससार की रचना प्रतीत होती है, जो वस्तुतः शुद्ध चैतन्य-ब्रह्म—के अतिरिक्त कुछ है नहीं।

ज्ञानी मनुष्य सदेव यह सोचता है कि यह सब कुछ मैं हूं—विनीत भाव की वृद्धि के साथ उस में यह भाव विकसित होता है कि शरीर मेरा नहीं है, न अन्य कुछ मेरा है। इस प्रकार धीरे-धीरे उस हृदय स्थित आत्मज्ञान उद्भूत होकर ज्ञान की सप्त भूमिकाओं पर चढ़ते-चढ़ते आत्म स्थित हो जाता है।

बिना आशा आकांक्षाओं के भगवान की इच्छा के आधीन होकर आत्म समर्पण भाव से कर्तव्य कर्म करते हुए जीवन यापन करना यथार्थ निरहंकारिता है।

3. मन एवं इंद्रियों के निराकरण द्वारा सत्य का प्रकाश—(भीम, भास और दृढ़ दाशूर के कथानक द्वारा)

जिसप्रकार मनुष्य की आंखें सूक्ष्मअणु को नहीं देख सकतीं, ऐसे ही इन्द्रियां और मन सूक्ष्मआत्मा को देखने में असमर्थ हैं। इंद्रियों एवं मन के निराकरण द्वारा ही आत्मदर्शन अर्थात् आत्मा की अनुभूति कर हृदय में सत्य का प्रकाश सम्भव होगा कृष्ण द्वारा द्वापरयुग में अर्जुन को दी जाने वाली शिक्षा का उल्लेख करते हुए मुनि वसिष्ठजी कहते हैं अहकार आत्मा

को तिलांजलि देनी होगी। अहंकार मन, इंद्रियों की उपज है।

अहंकार का स्थान मन है। अहंकार के निराकरण से मन का निराकरण और मन के नाश से अहंकार का निराकरण होता है। 'मेरा-तेरा' के विचार मन की उपज हैं—विचारणा के द्वारा मनोनाश होने पर ये विचार नष्ट हो जाएंगे—मनोनाश ही मोक्ष है।

चंचल मन आत्मा का शत्रु है—मन अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा असंख्य वासनाएं और सकल्पों को जन्म देता है—निरंतर ब्रह्म विचार के द्वारा मन की विक्षेप शक्ति और फिर वासनाओ की गठरी को नष्ट किया जा सकता है और तभी हृदय में सत्य प्रकाश होगा। जैसे बिना तेल के दीपक बुझ जाता है, ऐसे ही वासनाओं के नष्ट होने पर चित्त उचित्त हो जाता है।

जब चित्त आकर्षण विकर्षण (राग-द्वेष), सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से रहित हो जाता है, सारे सशयों का अन्त हो जाता है। न उसमें प्रमाद है, न कुंठाएं हैं, तब पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उसके स्वच्छ हृदय में सत्य का प्रकाश होता है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे भगवान कृष्ण ने बताया है कि कामरूप शत्रु द्वारा ज्ञान ढका हुआ है और इंद्रियां, मन और बुद्धि इस शत्रु के अधिष्ठान (निवास स्थान) कहे जाते हैं—इनके द्वारा ही काम शरीरधारी को मोहित करता है। अतएव हे अर्जुन ! तू सर्व प्रथम इंद्रियों को वश मे कर के ज्ञान विज्ञान को नष्ट करने वाले इस पापी काम को मार डाल। आगे कहते हैं—

"इन्द्रियाणि पराण्याहु इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तुपरा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥" —3/42

अर्थात् इंद्रियां स्थूल शरीर से श्रेष्ठ हैं, इंद्रियों से शक्तिवान् मन और मन से परे बुद्धि है—बुद्धि से भी परे आत्मा है।

तात्पर्य यह है कि परम श्रेष्ठ आत्मा को प्राप्त करने के लिए कामरूप शत्रु को नष्ट करना है तो उसके अधिष्ठान रूप सहयोगी इंद्रियों और मन पर विजय पाना अनिवार्य है।

इस प्रकार मन और इंद्रियों के निराकरण द्वारा कामरूप शत्रु नष्ट होगा तब श्रेष्ठ आत्मा का प्रकाश हृदय में जागृत होगा। कामना मन में रहती है, मन इंद्रियों को प्रेरित करके क्रियाशील बनाता है—बुद्धि के द्वारा मन को नियंत्रित करके ज्ञान को आवृत करने वाले शत्रु काम को नष्ट किया जा सकता है।

मन इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा के प्रकाश से देखता है। जैसे पानी खेत बन जाता है, ऐसे ही मन पदार्थ बन जाता है, आत्मा का प्रकाश मन पर पड़ता है तो मन में पदार्थ भावना उत्पन्न होकर इन्द्रियों को प्रेरित करती है। पदार्थ भावना के कारण सत्य का प्रकाश ढका रहता है—मन और इंद्रियों के निराकरण बिना वह प्रकाश प्रकट नहीं हो पाता।

वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम ! बन्धन और मोक्ष अहंकार की अनुभूति पर आधारित है—अह के कारण बन्धन है और अहं के नष्ट होने पर न बन्धन न मोक्ष, अतः इन्द्रियों पर संयम और मन के प्रवाह को रोककर अहंकार से मुक्त हो जाओ—फिर अपने कर्तव्य कर्मों को करते हुए आत्मा स्थित होने पर संसार के सारे दुखों से मुक्त हो जाओगे।

गाधि के कथानक में उसकी तपस्या के फलस्वरूप विष्णु भगवान प्रकट हुए तो गाधि के पूछने पर मन की भ्रांति का रहस्य बताते हैं कि माया के जाल माया रूपी चक्र की धुरी है—मन के शान्त होने पर माया की क्रियाशीलता बन्द होगी—तुम अपने चित्त को आत्मा में स्थिर कर लो तो माया के परिणाम संसार से प्रभावित नहीं होओगे।

चाण्डाल की कहानी तुम्हारे मन में प्रतिबिम्बित थी—क्योंकि तुम मायाचक्र को समझना चाहते थे इस कारण चाण्डाल से एक रूप होकर तुमने सारे अनुभव में तुम्हारा

उससे कोई संबंध नहीं था। इसीप्रकार तुम्हारा व्यक्तिगत स्वरूप तुम्हारे मन के प्रवाह में प्रतिबिम्बित है। माया से ऊपर उठने पर तुम अपने यथा स्वरूप ब्रह्मत्व (सैल्फ) को पहिचानोगे।

भगवान आदेश पर गाधि ने दस वर्षो तक फिर से ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर गम्भीर ध्यान चिन्तन आदि साधनाएं—तपस्या की। तब विवेक विचार के फलस्वरूप समस्त आसक्तियों से रहित होकर उसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया।

इसप्रकार माया की धुरी रूप मन का नाश होने पर साधक के हृदय में सत्य का—प्रकाश सम्भव है—यह आत्म ज्ञानी पुरुष गाधि के प्रत्यक्ष उदाहरण से सिद्ध हुआ।[1]

इसीप्रकार वृहस्पति पुत्र कच ने ॐ पर ध्यान लगा कर। देह की चेतना को मन में और मन को सार्वभौमिक चेतना में लय करके सत्य का साक्षात्कार किया—मन के नष्ट हुए बिना किसी को ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

विरोचन ने अपने पुत्र बलि को यही ज्ञान दिया है कि मन को जीतने पर सब कुछ जीता जा सकता है एवं इन्द्रिय विषयों से विमुख हुए बिना संसार के दुखों में डूबे रहोगे—सत्य के प्रकाश बिना शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो सकता और सत्य का प्रकाश मन रूपी मिनिस्टर और प्रबल इंद्रियो पर विजय पाने से ही सम्भव है। मन को इंद्रिय विषयों की वासना से मुक्त करने के लिए आत्मज्ञान आधार है और आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मन और इंद्रियों का बहिष्कार वांछनीय है।

यथार्थ सत्य—आत्मा—का दर्शन होने पर सर्वोच्च सांसारिक पदार्थों के लिए अनासक्ति विकसित होती है। यहां ऋषि विद्यारण्य का अनुभव उल्लेखनीय है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावेरे ॥"[2]

अर्थात् उस परमात्म रूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सशय मिट जाते हैं और पहले पिछले सब कर्म क्षीण हो जाते हैं—कर्म अकर्म हो जाते हैं—उन का फल भोगने के लिए बारम्बार जन्म नहीं लेना पड़ता। यही तो आत्मज्ञान अथवा मोक्ष है। इस सत्य को प्राप्त करना मानव जन्म का परम लक्ष्य है! परन्तु इसे प्राप्त करने के लिए चित्त की शुद्धि, मानसिक संतुलन इंद्रिय संयम और सारे ऐन्द्रिक पदार्थों का बहिष्कार नितान्त आवश्यक है। इंद्रियों से संबंधित पदार्थों से मन को खींचकर अपने अन्तस्तल में डूब जाओ, तब सत्य का दर्शन होगा—आत्म साक्षात्कार।

आत्मा शक्ति का स्रोत है—कम बोल कर, मौन धारण करके, अनावश्यक विचारों से मन को रहित रखकर तथा प्राणायाम के द्वारा आत्मिक शक्ति को संचित करके भी आत्मा पर ध्यान लगाने में सफलता मिलती है—परन्तु इन सब साधनों की पृष्ठभूमि में विचारों की शुद्धि, चारित्रिक उच्चता तथा मन-इंद्रियों पर नियन्त्रण अनिवार्य है। मन-इंद्रियों पर संयम रक्खे बिना काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं सर्वोपरि शत्रु अहंकार से छुटकारा नहीं मिल सकता—फिर ध्यान, समाधि और आत्म साक्षात्कार में सफलता सम्भव नहीं।

वंशी हाथों में पकड़े हुए भगवान कृष्ण क्या शिक्षा देते हैं ? बांसुरी का दार्शनिक रहस्य क्या है ? भगवान कृष्ण के हाथ की बांसुरी ॐ का प्रतीक है—कृष्ण कहते हैं—"अपने को अह से रिक्त कर दो, मैं तुम्हारे शरीर रूपी बांसुरी को बजाकर प्रेम-भक्ति से भर दूंगा—अपनी इच्छा

---

1. गाधि का पूर्ण विवरण देखिए निर्वाण प्रकरण के "कुछ अन्य ज्ञान प्राप्त पुरुषों का परिचय" शीर्षक अध्याय में।

2 पंचदशी— 11/7

को मेरी इच्छा से एक रूप कर दो—ॐ का आश्रय लो, ॐ पर ध्यान लगाओ—तुम मेरी सत्ता से एकरूप हो जाओगे। आत्म विभोर करने वाले संगीत को सुनो और अनन्त शान्ति प्राप्त करो।"[1]

आशय यह है कि सांसारिक विषयों से मन और इंद्रियो को समेट कर—निर्लिप्त हो कर आत्मा पर चित्त स्थिर करने से ही सत्य का दर्शन हो सकता है—मन-इंद्रियों को ट्रेन किए बिना चित्त शुद्धि सम्भव नहीं और चित्त शुद्धि के बिना ध्यान, समाधि अथवा जप-तप-यज्ञादि साधनाए निरर्थक सिद्ध होती है।

इंद्रियां, मन और बुद्धि ज्ञान के सीमित साधन हैं, ये अज्ञान द्वारा पोषित संसार में क्रियाशील होते हैं—अतएव ये असीम सत्ता ब्रह्म की यथार्थ प्रकृति ब्रह्मन् का दर्शन नही करा सकते। उपनिषद बारम्बार घोषित करते हैं कि मन और इंद्रियों से ऊपर उठकर ध्यान के द्वारा शुद्धचित में ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है।

हमारी दुर्बलता यह है कि चित्त की किरणें चारों ओर बिखरी रहती हैं—सृष्टि रचयिता ने इंद्रियो को बहिर्मुखी बनाया है—मन दुनिया भर के पदार्थों में रमण करता है। यथार्थ सत्य को प्राप्त करने के लिए चित को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना होता है, वह केन्द्रीय बिन्दु है परमसत्ता परमात्मा। सांसारिक पदार्थों से प्रेम होना—उनपर चित्त की वृत्तियों को बखेरना संसारचक्र में बधे रहना है—बारम्बार जन्म मरण के दुख भोगना—और परम सत्य परमात्मा से प्रेम होना—आत्मापद चित्त को केन्द्रित करना है, ब्रह्म को प्राप्त करना, ब्रह्म से एक रूप होकर मरण के बन्धन से छुटकारा पाना।

उस परमसत्ता से प्रेम होना प्रेम का सर्वोच्च शिखर है। उस में अहंकार के लिए स्थान नही, कयोंकि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। अखिल विश्व उसकी महिमा से पूर्ण है।[2]

जब मन को ब्राह्य पदार्थ (ऐन्द्रिक विषय) भोगने को नही मिलेंगे, तो मन स्वयं नष्ट हो जाएगा, मन के नष्ट होने पर इंद्रियों की क्रियाशीलता समाप्त हो जाएगी।

वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम ! यह संसार पंच इंद्रियों द्वारा आनन्द के अतिरिक्त कुछ नही दे सकता—जो लोग इंद्रियों के क्षणिक विषयों में रम कर नाशवान पदार्थो से संतुष्ट हैं, वे पशु पक्षियों से श्रेष्ठतर नहीं हैं—उन्हें उप मानव समझना चाहिए।

संसारी भोगों का विचार मात्र मन में भ्रान्ति उत्पन्न करता है—साक्षात् इन्द्रिय भोगों में रमने का तो कहना ही क्या। अतः समझदार मनुष्य को—साधक को—पदार्थ भावना को बिल्कुल त्याग कर चित्त को ब्रह्म की ओर प्रवृत करना चाहिए।

असंख्य जीवात्माओं के संसार के अनुभव अलग अलग तरह के होते हैं, परन्तु उन सबका आधार एक ही सूत्रात्मा ब्रह्म है और प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने ढंग से संसार से सम्बद्ध है, परन्तु क्योकि ये सब एक ही सत्य का प्रतिबिम्ब हैं, इसलिए उनके लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह ससार के मिथ्या चक्र से ऊपर उठकर उनके भीतर विद्यमान सत्य—ब्रह्म—से सम्पर्क कर सकें।

जीवात्माओं में अन्तर होना उनके मन की विविधता पर निर्भर है। जैसे विभिन्न जलाशयों में सूर्य का प्रतिबिम्ब अलग-अलग रूप में पड़ता है, ऐसे ही ब्रह्मन् विभिन्न जीवों के चित्त में उनकी शुद्धि एवं मलिनता के अनुसार अलग-अलग रूप में प्रतिबिम्बित होता है। अतएव जब साधक का

---

1 समाधि योग—स्वामी शिवानन्द

2 श्री स्वामी कृष्णानन्द आफ द एबसाल्यूट

चित्त विवेक, वैराग्य की उत्पत्ति पर बड़ी सीमा तक शुद्ध हो जाता है, तब ज्ञानी सन्तों के सम्पर्क मे आकर उनके मार्ग दर्शन में सत्संग, स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनाओं के बल से मिथ्या नाम रूपों के पीछे विद्यमान अद्धैतब्रह्म की अनुभूति कर लेता है।

इस प्रकार चित्त की शुद्धि ही 'ब्रह्म साक्षात्कार' का मुख्य साधन है जिससे संसार चक्र से मुक्त होकर दुखों से छुटकारा मिल सकता है।

श्री वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम ! ब्रह्म को मन ही समझो, अतः नदी, पर्वत, समुद्र असख्य जीवात्माओं से युक्त यह संसार जो जन्म, मरण, रोग, दुख-सुख से युक्त है, ज्ञानी पुरुष के त्यागने योग्य है तभी आत्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होगा। यह जगत मन के विस्तार के अतिरिक्त कुछ नहीं है—मन और इंद्रियों के त्याग से ससार का लोप होकर यथार्थ सत्य ब्रह्म का प्रकाश जागृत होगा।

4. अन्तःकरण की तीन अवस्थाएं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति

जिसप्रकार समुद्र की सतह पर और भीतर भी लहरें होती हैं, इसीप्रकार जीवात्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति।

जागृत अवस्था में जीवात्मा संसार के बाह्य पदार्थों तथा अर्न्तमन की क्रियाओं से प्रभावित प्रतीत होता है। स्वप्नावस्था में चित्त की सूक्ष्म वासनाओं में लिप्त रहता है। परन्तु सुषुप्ति में वह सारे मानसिक विस्तार को समेट कर अविद्या आवरण का द्रष्टा बन जाता है।

संसार दृष्टि आत्म चेतना की जागृत अवस्था है, अहंकार की अनुभूति स्वप्नावस्था तथा विचारों की हलचल से रहित चित्त सुषुप्ति है। शुद्धचैतन्य की चौथी अवस्था है तुर्या, जो पूर्णरूपेण वासना क्षय से प्राप्त होती है। इससे भी ऊपर पूर्ण शुद्ध चैतन्य है, उसमें स्थित होने पर मनुष्य सारे दुखों से पार हो जाता है।

जबतक मन में विचारों की हलचल रहती है, तबतक सत्य का दर्शन नहीं होता और 'मैं हू', 'मेरा', 'तेरा' आदि भाव बने रहते हैं।

राम के प्रश्न के उत्तर में वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! जब मनुष्य की दृष्टि में विश्व का स्थायित्व अनुभव होता है, तब जागृत अवस्था रहती है, किन्तु जब उसकी क्षणिकता प्रतीत होती है, तब स्वप्नावस्था कहलाती है। यदि वही स्वप्न स्थायी रूप लेता दृष्टि आने लगे तो वह जागृत जैसा अनुभव होगा। इसी प्रकार यदि अन्तरात्मा में जागृत स्थिति का स्थायित्व अनुभव न हो तो वह स्वप्न जैसी प्रतीति हो जाएगी।

तमोगुण के बढ़ने से मन जागृत और स्वप्न स्थिति के प्राकट्य में असमर्थ रहता है, तब वह कारण शरीर में लीन हो जाता है। वह दशा सुषुप्ति कहलाती है जो अज्ञानता के समूह जैसी होती है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठने पर आत्मज्ञान होता है—वह अवस्था तुर्या कहलाती है जिसमे पहुंच कर शुद्ध चैतन्य में स्थिति होती है जो ज्ञान की परमोच्च दशा है।

स्वप्नावस्था में अन्य प्रकार का अहं पैदा हो जाता है। भिन्न प्रकार के समय और दूरी के माहोल में होते हो। स्वप्न के अहं मे अलग रूप से वासना पूर्ति होती है। जागने पर तुम अनुभव करते हो कि स्वप्न की कोई महत्ता नहीं किन्तु स्वप्न देखते समय तुम प्रभावित थे—कभी आनन्द होता, कभी दुःख और कभी भय से कांपते थे या खुशी से फूलते थे।

जागृत अवस्था में तुम्हारा अहंभाव उसीप्रकार की दुख-सुख-भय आदि की स्थितियों का अनुभव करता है जैसा स्वप्न में किया परन्तु गहन आध्यात्मिक ज्ञान होने पर तुम अपने अह से ऊपर उठकर चाहा जैसी स्थिति प्राप्त कर सकते हो

जागृत अवस्था शरीर से सम्बन्धित है जो क्रियाशील रहता है—स्वप्न में भी वैसी ही क्रियाशीलता प्रतीत होती है। किन्तु स्वप्न केवल ज्ञानेन्द्रियों से संबंधित रहता है, क्योंकि वह तब मन में समायी हुई थी।

जागृत अवस्था मे मन इद्रियां और बुद्धि—सब क्रियाशील रहते हैं। स्वप्नावस्था में केवल मन के रचे हुए संसार में ही स्वप्न द्वारा रमण करता है। जागने पर स्वप्न संसार का लोप हो जाता है।

जागृति में शुद्ध चैतन्य बाहरी पदार्थों, घटनाओं तथा अन्तर्मन की क्रियाओं से प्रभावित प्रतीत होता है। स्वप्नावस्था में चैतन्य चित्त की सूक्ष्म वासनाओं से प्रभावित रहता है—परन्तु सुषुप्ति में वह सारे विस्तार को समेट कर मानो अज्ञानता के आवरण का द्रष्टा बना निष्क्रिय बन जाता है।

स्वप्न वह स्थिति है जिसमें जीवात्मा मन की सहायता से संकल्पों और वासनाओं के माध्यम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का अनुभव करता है—इंद्रियां शान्त रहती हैं—वे काम नहीं करती। जागृति के सस्कारों से ही स्वप्नावस्था बनती है।

सुषुप्ति में केवल कारणशरीर आनन्दमयकोष क्रियाशील रहता है। चित्त अपनी मूल प्रकृति अज्ञान मे निहित हो जाता है। जिसप्रकार पक्षी उड़ते उड़ते थककर अपने घोंसले में बैठता है उसीप्रकार जीवात्मा जागृत एवं स्वप्नावस्था में सांसारिक प्रपंचों से थक कर अपने मूल अज्ञान में विश्राम करके आनन्दित होता है।

जब थकान होने पर नींद आ जाती है तो कोई समस्या नहीं रहती, कारण कि सुप्तावस्था मे मन आत्मा में समाहित हो जाता है—अहं का लोप होने पर समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

जागृत अवस्था में जीव नेत्र में रहता है—स्थूल शरीर में, स्वप्नावस्था में कण्ठ में और सुप्तावस्था में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है।

(तैत्तरीय उपनिषद)

इन तीनो स्थितियो में जीव आसक्ति, आनन्द और दुःख अनुभव करता है। निरन्तर अभ्यास से ज्यों ज्यों अहं भाव का लोप होता है, त्यों त्यों प्रज्ञा दृष्टि द्वारा प्रकृत आनन्दमय स्थिति उदय हो जाती है।

जागृत अवस्था में जो भोजन करते हैं, वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से शक्ति में रूपान्तरित हो जाता है। यह शक्ति जागृत अवस्था में प्राण-स्पन्दन में प्रकट होती है। प्राण स्पन्दन रहता है तब इंद्रियां पदार्थों का स्पर्श करती हैं—इंद्रियों का स्फुरण बन्द होने पर निद्रावस्था—सुषुप्ति—होती है—फिर केवल ज्ञान स्पन्दन होगा। ज्ञान का प्रकाश रहता है—फिर हम अपने ही स्वरूप बना लेते हैं—वह स्वप्नावस्था है।

सुषुप्ति में जो ज्ञाता है, वह कौन है ? यह जानने पर विदित होगा कि वह आधार आत्मन् है—

"प्रपंचोपशमन शान्तं अद्वैतम्।"

स्वामी ईश्वरानन्दगिरि ने अपनी पुस्तक "टुअर्डस द फुलफिलमेंट" में 'त्रयम्बक' शब्द का भाव समझाते हुए जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति—के आधार को "शिव" संज्ञा दी है—शिवजी के तीन नेत्र तीन अवस्थाओं के प्रतीक हैं। शिवजी तीनों का प्रयोग एक साथ कर सकते हैं—किन्तु हम क्रमानुसार करते हैं।

सुषुप्ति में सत् स्वरूप-आत्मा-से एक रूप हो जाते हैं। आत्मा सदैव रहती है—जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति में—यह जागृत—सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं का आधार है जागृत स्वप्न सुषुप्ति के भेद केवल मन के लिए हैं बेहोशी और अचेतन अवस्था भी मन की ही होती है आत्मा पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वप्नावस्था आत्मा की एक स्थिति है, जो जागृत अवस्था से भिन्न है, जहां यह स्वयं प्रकाशमान होती है। स्वप्न में बुद्धि जागृति के विभिन्न संस्कारों के कारण कर्मरूप ससार में स्वयं कर्ता का पार्ट कराती है। वह उन क्रियाओं से लिप्त नहीं होती। साक्षीरूप में क्रियाए करती है।

स्वप्न—अर्ध सुप्तावस्था है जो सुषुप्ति से भिन्न होती है। जागृत अवस्था में प्राप्त संस्कार अर्ध सुप्तावस्था में प्रतीत होने लगते हैं। उन्हें स्वप्न कहते हैं। क्योंकि उन घटनाओं एवं पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं—मन के संसर्ग से उत्पन्न मिथ्या रूप है, जो जागने पर लुप्त हो जाते हैं। जागृत अवस्था में हम अपने मन से सबद्ध कर लेते हैं। इसलिए घटित होता है, वह सब कुछ सत्य प्रतीत होता है।

जब व्यक्तिगत आत्मा स्थूल इंद्रिय विषयों का अनुभव करती है, वह जागृत अवस्था कहलाती है—इस अवस्था में आत्मा दो रूपों में अनुभव करनी है—कर्ता और कर्म—वह भी वस्तुतः मन का ही खेल है—आत्मा स्वयं तो सदैव एक रूप है। माया की उपाधि से पच-तत्वों का स्थूल जगत उत्पन्न हो गया, जो आत्मा के प्रकाश से आलोकित हो गया—इस स्वयंप्रकाशी आत्मा को वेदो मे इन्धा कहा है जिसका दूसरा नाम इन्द्र पड़ा—देवताओं का स्वामी अथवा प्रमुख देव। जागृत अवस्था मे यह इन्द्र सीधी आंख में रहता है और उसकी सहधर्मिणी इन्द्राणी बायें नेत्र में।

सभी नेत्रवान प्राणियों में ये इन्द्र और इन्द्राणी जागृत अवस्था में दृष्टिगत होते हैं, दृष्टिगत इद्रिय में वास करते हुए समस्त स्थूल पदार्थों की अनुभूति करते अर्थात् भोगते है।[1]

ये इन्द्र और इन्द्राणी हृदय से सुषुम्ना नाड़ी में होकर हजारों सूक्ष्म नाड़ियों को पार करते हुए ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाते हैं। हृदय में पहुंचने पर सुषुप्ति आती है—हृदय में पहुंचने से पूर्व जब कहीं रुक जाते हैं, तब स्वप्नावस्था कहलाती है। वेदों में उल्लिखित है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव को अति सूक्ष्म आहार मिलता है। सुषुप्ति में इन्द्र-इन्द्राणी की जोड़ी को हृदयाकाश से एक रूप होने के कारण आनन्द की अनुभूति होती है।

गहन चिन्तन से यह अनुभव होता है कि जागृत अवस्था में परमसत्ता की चेतना नही रहती—पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से मन इंद्रियों को पदार्थों के प्रति आकर्षित करता है—अर्थात् चित्त प्रारब्ध कर्मों के फल से प्रभावित होने के कारण उसकी क्रियाओं पर अज्ञानता का आवरण रहता है। इसकारण जागृत अवस्था में निरन्तर दैहिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक परिवर्तन होते रहते है।[2]

इसीलिए शास्त्रों में संसार को दीर्घ स्वप्न कहा है, मानो आत्मा ने मानसिक स्वप्नों की दुनिया में प्रवेश किया है—पूर्व कर्मानुसार निर्मित प्रारब्ध को भोगती हुई एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में भ्रमण करती रहती है—जन्म जन्मान्तर में प्रारब्ध कर्मो को भोगना होता है—आत्म ज्ञान होने पर यथार्थ जागरण होता है।

आत्मज्ञानी सन्त को सदैव आत्मानन्द में मग्न रहने के कारण अन्तःकरण की तीन अवस्थाएं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—अन्तःकरण रूपी आकाश में बादलों के समान मण्डराती प्रतीत होती है—अर्थात् वह तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठा हुआ निरन्तर निद्रा की शांति अनुभव करता है।

---

1 ———— स्मृति पृ० 93 (याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा राजा जनक को ब्रह्मज्ञान देते हुए)

२ भाग 3 पृ 24 स्वामी ✓

5. सुषुप्ति और समाधि

समाधि है ब्रह्म से योग स्थापित होना—यह चेतनातीत अवस्था है, आध्यात्मिक अनुभव। समाधि में योगी अपने व्यक्तित्व को खोकर परमसत्ता से मानो एकरूप होकर शान्ति, ज्ञान और आनन्द रूप बन जाता है—उस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता—स्वयं अनुभव करने की स्थिति है।

समाधि दो प्रकार की होती है—जड़ समाधि और चैतन्य समाधि। जड़ समाधि में उच्चतर चेतनातीत ज्ञान नहीं होता। इसमें हठयोगी खेचरी मुद्रा के द्वारा महीनों तक बक्स में बन्द हुआ भूमि में गढ़ा हुआ रह सकता है।[2] निश्चय ही यह अत्यन्त कठिन काम है, किन्तु इससे न आत्मज्ञान मिलता है, न वासनाओं के संस्कार नष्ट होते हैं। जड़ समाधि को कुछ अंशों में सुषुप्ति जैसी कह सकते हैं। प्रायः नाम और प्रसिद्धि के लिए अथवा धन कमाने के लिए इस जड़ समाधि का अभ्यास किया जाता है।

चैतन्य समाधि में पूर्ण चेतना और ज्ञान रहता है। समाधि, मुक्त और तुर्या पर्यायवाची शब्द है। 'समाधि' में साधक को आत्मा की पूर्ण चेनना रहती है, 'मुक्ति' जन्म-मरण के चक्र से छूट कर परमानन्द की स्थिति को प्राप्त करता है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से ऊपर की चतुर्थ अवस्था 'तुर्या' है। वस्तुतः निर्विकल्प समाधि की अवस्था तुर्या है, जिस का वर्णन करना सम्भव नही—वह अनुभूति का विषय है। निरन्तर ध्यानाभ्यास द्वारा यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह कोई गफलत या बेहोशी की अवस्था नहीं है—योगी को पूर्ण ज्ञान रहता है, परम शान्ति तथा अनन्त आनन्द। उसके विचार नियन्त्रित हो जाते हैं, भावनाएं स्तब्ध; और भावात्मक शान्त अवस्था मे स्थित हुआ साधक ब्रह्मानन्द सागर में मग्न रहता है। समाधि में प्रज्ञा शक्ति के जागरण से परम सत्ता का भावात्मक ज्ञान उदय हो जाता है।

समाधि आत्मा के पूर्ण ज्ञान सहित सुषुप्ति है। जब ज्ञानाग्नि में पांचों ज्ञान इन्द्रियां जल जाती हैं और वासना रहित हुए अविधा के चंगुल से मुक्त हो जाते हैं, तब यह निद्रा रहित नींद—समाधि—आती है। समाधि की स्थिति वह है जब योगी इसप्रकार की चेतनावस्था में प्रवेश पाता है जहां समय और दूरी विलीन हो जाते हैं—प्रत्येक समय 'यहां' है, प्रत्येक काल 'अब' है और हर वस्तु 'मैं' है—'मैं' के अतिरिक्त कुछ अनुभूति ही नहीं रहती। इस अवस्था में आनन्द और शाश्वत जीवन प्राप्त हो जाता है। इस सार्वभौमिक चेतनावस्था में सार्वभौम ज्ञान और सार्वजनिक जीवन से स्पर्श होता है—तुच्छ 'अहं' खोकर ईश्वरीय इच्छा में उसकी इच्छा विलीन हो जाती है और जीवन की सत्या का ज्ञान हो कर मानो चिन्मय स्वरूप का आभास मिल गया।[3] वह सर्वत्र एकता का अनुभव करता है। त्रिपुटि, ज्ञान और ज्ञय का भेद उस के लिए समाप्त हो जाता है।

सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा में मन और इंद्रियां क्रियाशील नहीं रहतीं अतः न कोई पदार्थ रहते है, न राग द्वेष—फिर प्रश्न होता है कि आनन्द कहां से आता है ? इसमें कोई संशय नहीं—सभी कहते हैं, जागने के बाद कि "मैं बहुत सोया, कुछ पता नहीं—मैं निद्रावस्था में अति आनन्द में था।" निद्रा में मनुष्य सच्चिदानन्द में विश्राम करता हुआ आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है जो पदार्थों से ऊपर है।

सुषुप्ति और समाधि में भेद यह है कि सुषुप्ति में अज्ञानता का पर्दा रहता है, जबकि समाधि

---

1. ज्ञानयोग—स्वामी ज्योतिर्मयानन्द, पृ० 60-61
2. स्वामी शिवानन्द
३ समाधि शिवानन्दा, पृ० 347

मे वह पर्दा चित्तशुद्धि के कारण नष्ट हो चुका होता है, क्योंकि चित्तशुद्धि होने पर ही समाधि अवस्था बनती है।

परमोच्च कोटि के भारतीय सन्तरमण महर्षि ने कहा है—

"जब अज्ञानता के कारण चित्तआत्मा स्थित होता है, वह निद्रा अर्थात् सुषुप्ति कहलाती है और जब जागृत अवस्था में वहिर चेतना रहित मन आत्मा में लीन हो जाता है, वह समाधि अवस्था होती है।"

सुपुप्ति में भी मन आत्मा में रमता है परन्तु उस की चेतना नहीं होती, जबकि समाधि में निरन्तर आत्मा से संसर्ग रहता है।

समाधि में चित्त अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से विरत होकर आत्मा में स्थित होता है जहा मन का स्पर्श नहीं होता—साधक अपने आपको ब्रह्म में लीन कर देता है। जैसे नदी सागर में मिल जाती है, इसप्रकार जीवात्मा मानो सार्वभौमिक आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है। सारी सीमितताएं और भेद समाप्त हो जाते हैं—समाधि न आत्म विस्मृति है, न नींद। यह भावात्मक आत्मचेतना की बलवती अवस्था है। इस अवस्था से (समाधि से) वापिस आने पर भी वह पहले की भांति घूमता फिरता है, बाहरी जीवन में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टि नहीं आता, किन्तु उसकी आन्तरिक चेतना में निश्चय ही अन्तर हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में ही एक उच्चतर रूपान्तर हो जाता है।

इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था में मन इन्द्रियों की क्रियाशीलता बन्द होने एवं पदार्थों से सबध न रहकर आत्मिक संस्पर्श होने पर भी तमस् के प्रभाव और अज्ञानता के रहने के कारण उसकी अन्तःचेतना और वृत्तियो मे अन्तर नहीं आता—देह और मन को विश्राम मिलने के कारण जागने पर स्फूर्ति और आनन्द की अनुभूति अवश्य होती है—किन्तु उसकी वृत्तियों अथवा जीवन मे कोई परिवर्तन नहीं आता।

सुषुप्ति अवस्था में जागृत का अभाव है किन्तु पूर्ण आनन्द नहीं—आनन्द शरीर से आता है अविद्या के बादलो से होकर अतः आनन्द में अविद्या की छाया रहती है—फिर भी सुषुप्ति में जो आनन्द में अविद्या की छाया रहती है—फिर भी सुषुप्ति में जो आनन्द है, वह अन्य अवस्थाओं (जागृत और स्वप्न) में नहीं रहता। समाधि में संसार का अभाव होने पर अविद्या का पर्दा उठने लगता है, अतः साधक पूर्णतया आत्मस्थित हुआ ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है।

नींद से जागने पर कोई आत्मा का ज्ञान नहीं होता। वह बाहिरी पदार्थों से प्रभावित रहता है और सोने से पहले जो मन, वासनाएं और विचार थे, वही रहते हैं; परन्तु समाधि खुलने के पश्चात् योगी पूर्णतया प्रकाश से युक्त होता है, वह आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। यह सुषुप्ति अवस्था और समाधि का मुख्य अन्तर है।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, किन्तु वह अज्ञान से आवृत्त रहती है—समाधि मे साक्षात् निर्वाण ब्रह्म के आनन्द की अनुभूति होती है, कोई आवरण नहीं रहता। योगी यथार्थ में ब्रह्म में स्थित हो जाता है, वह ब्रह्म ही मानो वह सबको प्रेरणा देता और आध्यात्मिकता विकसित करता है।

समाधि निद्रा रहित नींद है—योगी को बाहरी संसार का कोई ज्ञान नहीं रहता, वह आन्तरिक रूप से आनन्द सागर में मग्न रहता है। अन्तःकरण की तीन अवस्थाएं जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति मानव की सीमित सत्ता अहं की होती हैं। इन तीनों से ऊपर जो भावात्मक अवस्था तुर्या है, वह समाधि कहलाती है—मिथ्या 'अहं' जागता, स्वप्न देखता और सोता है, यथार्थ 'मैं' नहीं—यथार्थ 'मैं' का सुषुप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं—वह न सोता है न जागता न स्वप्न देखता है

समाधि में इन्द्रिया और मन बिल्कुल काम करना बन्द कर देते हैं और ज्ञानाग्नि द्वारा

अज्ञानता का आवरण नष्ट हो जाता है समाधि में योगी का शुद्धचित्त बाहरी पदार्थों से अपने को बिल्कुल हटा लेता है। वह अन्तर्चेतना पर चित्त को स्थिर कर लेता है—उसका चित्त अपने स्रोतआत्मा मे ही लीन हो जाता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं रहता। इसलिए देह गिर जाती है—किन्तु समाधि में अन्तःकरण का अस्तित्व सूक्ष्म रूप में रहता है, इसलिए शरीर गिरता नहीं, स्थिर रहता है—ब्रह्मकार वृत्ति का निर्माण हो जाता है—अभाव नहीं होता। गाढ निद्रा में जीवात्मा स्वप्न नही देखता, क्योंकि हिता नाड़ी में स्थित सूर्य प्रकाश के सब द्वार बन्द हो जाते हैं, तब जीव अपने सब सस्कारों सहित हृदय में लीन हो जाता है—ऐसी अवस्था में मन के घोर तमस् से आच्छादित होने पर नींद आती है और फिर जीव ब्रह्म में विश्राम करता है। उसके और परम सत्ता के मध्य एक झीनी सी अज्ञानता की परत रह जाती है; समाधि में यह अज्ञानता का आवरण नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जीव ब्रह्म में विलीन हो कर परमोच्च ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सुषुप्ति और समाधि में यह अन्तर है।[1] परन्तु जो लोग सिद्धियों के लिए समाधि का अभ्यास करते हैं, उन्हें ज्ञान प्राप्त नही होता—उनकी समाधि जनमानस को भुलावे में डालती है।

सुषुप्ति में सारे अंग—इंद्रियां और मन शान्त हो जाते हैं। जीवात्मा भी दुख, विपत्ति और परेशानियों से रहित होकर ब्रह्मानन्द की अनुभूति करती है। जिसप्रकार पक्षी उड़ते उड़ते थककर अपने घोसले में विश्राम करने जाता है, ऐसे ही सब स्थूल एवं सूक्ष्म तत्व निद्रावस्था में परम आत्मा मे विश्राम करते हैं, जागने पर शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति का अनुभव उत्साह एवं कार्य क्षमता बढ़ता है, परन्तु समाधि की भांति संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

हां, सुषुप्ति अवस्था से चार परिणाम निकलते हैं जिससे आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु मार्ग प्रशस्त होता है—

1. प्रथम यह कि तुम्हारा अस्तित्व है; चेतनावस्था की निरन्तरता पाई जाती है, अर्थात् जागने के पश्चात् पुनः क्रियाशील हो जाती है, 2. अद्वैत है—जीव ब्रह्म एक ही है, अलग नहीं, 3. कि तुम आनन्द स्वरूप हो, 4. कि संसार शाश्वत है—नाम रूप भ्रान्तिमात्र है—सब ब्रह्म ही हैं, संसार मन का खेल मात्र है। मन है तो संसार भी है। यदि साधना के द्वारा मनोनाश कर सको तो संसार अलोप हो जायेगा—सब आत्म रूप दीखेगा।

गाढ़निद्रा ही से जागने पर मनुष्य को निद्रावस्था का आनन्द याद रहता है—कहता है, "मैं सोता था, मुझे कुछ नहीं मालूम"। इस कारण कहता है कि उसे आत्मा का ज्ञान नहीं था, परन्तु स्मृति रहना इस बात का द्योतक है कि जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीन अवस्थाओं का कोई साक्षी है—वह साक्षी ब्रह्मन् है, जीवात्मा ब्रह्म में विश्राम करता है।

महर्षि शिवानन्द लिखते हैं कि सुषुप्ति अपने एक पक्ष में समाधि से किंचित मात्र दूर रह जाती है—यदि ऐसा न होता और जीवात्मा की चेतना पुनः जागृत—स्वप्न स्थिति में न लौटती तो सुषुप्ति समाधि अवस्था ही होती।

समाधि में पूर्ण चेतना रहती है जबकि व्यक्तिगत आत्मा परमआत्मा में विलीन हो जाती है। इस निद्रा रहित नींद को महानिद्रा कहा है। इस निद्रा से योगी पुनः नहीं जागता—नाम रूप दृश्य उसकी चेतना से लोप हो जाता है और ब्रह्माकार वृत्ति के फलस्वरूप वह सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता है।

समाधि कई प्रकार की होती है, अन्तिम अवस्था निर्विकल्प समाधि तक पहुंचने पर एक रहस्यमय आलोक से चमत्कृत हुआ साधक पूर्णतया सांसारिक अस्तित्व को भुलाकर इसी जीवन

---

1 समाधि यो शिवानन्द

म मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जिस समय चित्त ग्राह्य ग्राहक रूप अविद्या से होने वाले दोनों मलों से रहित हो जाता है, उस समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप हो जाता है। सुषुप्ति में मन अविद्या आदि सम्पूर्ण प्रतीतियो की बीजभूता वासनाओं के सहित तमः स्वभाव अविशेष रूप बीजभाव को प्राप्त हो जाता है, लीन नही होता।

6 माया द्वारा अर्जित असंख्य संसार-चक्र

माया ईश्वर की उपाधि है। ब्रह्म की भ्रामक (illusary power) शक्ति। सत्य, रजस्, तमस्,—तीन गुणों के आधार पर माया भगवान की लीला रचती है

माया सद् असद् विलक्षण—अनिवर्चनीय है। अनादि-अनन्त है। आत्मज्ञान होने पर योगी माया पर विजय पाकर समझता है कि माया क्या है—कैसे पैदा हुई और कैसे नष्ट हो सकती है—अन्यथा माया का पार पाना सम्भव नहीं।

पंचतत्व (जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश) पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गंध) तथा विश्व के अन्य अनेकों पदार्थ आदि माया के ही रुप हैं। जिसप्रकार धुएं को देखकर अग्नि का आभास होता है, इसीप्रकार विभिन्न पदार्थों को देखकर माया का अनुमान होता है—माया भगवान की भावात्मक रचना है—मन की प्रकृति। यदि विवेक और विचारणा द्वारा मन नष्ट हो जाय तो माया का प्रभाव नहीं होगा—चित्त स्थिर होकर ब्रह्म में लग जायेगा—अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान हो जाएगा अर्थात् हृदय में ब्रह्मज्ञान का उदय हो जाएगा—मन जो विषयों में रमता है, उसका बीज माया ही है।

अज्ञानता के कारण नाम रुप वाला जगत भासता है जो वास्तव में ब्रह्म ही है—आत्मा का ज्ञान होने पर संसार लुप्त हो जाता है। जिसप्रकार नाटक के रंगमंच पर कोई राजा अपनी खुशी से भिखारी का अभिनय करता है, उसीप्रकार सच्चिद् आनन्द रुप ब्रह्म पृथ्वी रुपी मंच पर जीव का अभिनय करता है—यथार्थ में जीव ब्रह्म ही है।[1]

प्रत्येक मनुष्य के भीतर स्थित द्रष्टा आत्मा है—देखने वाला आत्मा है और दृश्य भी आत्मा है। अजन्मा ब्रह्म का ही अस्तित्व है—अन्य कुछ है ही नहीं।

सोने से बने आभूषण सोना ही है—समुद्र की लहरें समुद्र के अतिरिक्त अन्य कुछ नही—इसीप्रकार विश्व ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म विश्व है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाय—किन्तु रस्सी को सर्प नहीं माना जा सकता—सर्प तो मिथ्या भ्रम (आरोपित) था। इसीप्रकार विश्व को सही मानों में ब्रह्म नहीं मान सकते। माया की भ्रान्ति दूर होने पर विश्व दृष्टि से लुप्त होकर उसका सत्य स्वरुप ब्रह्म प्रकट हो जायेगा।

माया के आवरण से आत्मा ने व्यक्तित्व जीव का रुप धारण कर लिया है जो अपनी ही उत्पन्न की हुई वासनाओं के भार से संघर्ष करती रहती है, परन्तु सात्विक पुरुषार्थ के बल से वासनाओं को नष्ट करके अपने यथार्थ स्वरुप परम भाव को प्राप्त किया जा सकता है—यही मोक्ष है।

वस्तुतः, यह मायामयी दुनिया ब्रह्म ही है। पूर्णता का प्रतीक ब्रह्म माया का पर्दा हटने पर भ्रान्ति का निवारण होकर पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है, अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म मात्र दृष्टिगोचर होता है।

1 स्वामी शिवानन्द

आइना टूटने पर प्रतिबिम्ब नहीं रहता, इसीप्रकार मन के निराकरण से अज्ञानता से उत्पन्न हुआ व्यक्तिगत जीवात्मा का प्रतिबिम्ब न रहकर परम सत्ता ही भासने लगती है। जो ज्ञानी पुरुष वासनाओं की भ्रान्ति समझता हुआ उनसे घृणा करता है, उससे माया इसी प्रकार भागती है, जैसे हरिण दूर से शेर को आता देखकर द्रुत गति से भाग जाता है। वासनाओं का नाश होना ज्ञानी का परम लक्षण है।

सारे संबंध ईश्वरीय इच्छा तथा आत्मा के सत्य से स्थित हुए रहते हैं—मनुष्य उसके कारण अपने आप को विभिन्न संबंधों में लिप्त मानते हुए अपनी सत्ता के प्रकट रुप को ही सही समझ बैठते हैं—यह सब माया का चमत्कार है।

जिसप्रकार माता के गर्भ में बच्चा झिल्ली से ढका रहता है, उसीप्रकार यह सृष्टि माया से ढकी हुई है जो शुद्ध अन्तःकरण रुप आइने से प्रकट होती है। जैसे शीशे में हमारा चेहरा—शरीर, बाह्यरुप में सही दीखता है, उसी प्रकार सारा ब्रह्माण्ड—सृष्टि—ब्रह्म का माया रुप प्रतिबिम्ब है—इसे तथ्य का ज्ञान होने पर पुरुष सारी सृष्टि को ब्रह्म रुप देखने लगता है। वह समझता है कि यह दृष्य जगत—'मैं', 'तुम', 'वे' ब्रह्म ही हैं—ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

भागवतमहापुराण में माया की परिभाषा की है—"ऋते अर्थं यत्प्रतीयेत्" अर्थात् अवास्तविक की प्रतीति हो रही है वह माया है, और वास्तविक की प्रतीति न हो उसका नाम भी माया है। ससार का कोई अस्तित्व नहीं, पर अज्ञानी जनों को दीखता है और ब्रह्म सृष्टि के कण कण में व्याप्त है नेत्रों से दीखे बिना उसकी प्रतीति नहीं होती—यह सब माया का चमत्कार है।

वसिष्ठजी कहते हैं, हे राम ! अज्ञानता का आवरण आत्मा के प्रकाश को ढक लेता है जिसके फलस्वरुप ब्रह्म की प्रतीति न होकर संसार चक्र दृष्टि आता है, जिस का अस्तित्व ही नहीं है। अनेक जन्मों के शुभ कर्मो के परिपक्व होने पर अज्ञानता नष्ट होकर बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होता है। हे राम ! इस संसार चक्र की माया का विस्तार देखो—यद्यपि स्वयं यह मिथ्या है, किन्तु ससार को सत्य प्रतीत करवा कर मानव हृदय में अनेकों दुखों की सृष्टि कर दी है। वास्तव में अज्ञानता का निजी कोई अस्तित्व ही नहीं है—आन्तरिक चिन्तन और ध्यान के अभाव में यह अज्ञान भी माया रुप ही है— चित्त के अध्यात्म चिन्तन के प्रकाश से आलोकित होने पर अज्ञानता का लोप हो जाता है।

वशिष्ठजी कहते हैं कि जिन अज्ञानी जनों में चिन्तन शक्ति का अभाव है, उनके चित्त को माया भ्रमित करती है। गाधीब्राह्मण के कथानक से यह बात साक्षातरुप में स्पष्ट हो गयी है—दीर्घकाल तक कठोर तपस्या के फलस्वरुप भगवानविष्णु उसके समक्ष प्रकट हुए। उन्होंने कहा—जो चाहो वर माँगो। गाधी ने माँगा कि "भगवन्, मैं आप की ही माया को जानना चाहता हूँ जो सारे प्राणियों को भ्रमित करती और अज्ञान में रखती है। विष्णुभगवान 'तथास्तु' कहकर अन्तर्ध्यान हो गए—अनेक प्रकार की गहन साधना करने के फलस्वरूप गाधी का चित्त पूर्णतया शुद्ध हो चुका था—वह फिर जल में प्रवेश करके मंत्र जप करने लगा—कुछ ही देर में उसे स्वप्नावस्था जैसे दृश्य में विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव हुआ। उसने चाण्डाल का जीवन यापन किया—कई वर्षों तक, किरा राज्य का राजा बन गया—८ वर्ष तक राजा जैसा ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करके हुकूमत चला ली और फिर पहिचाना गया कि चाण्डाल था और अपमानित होकर आत्महत्या कर ली—तत्पश्चात पुन अपने को नदी में जप करते हुए पाया—यह सब कुछ दो मुहूर्त अर्थात् ५० मिनट में हो गया—यह थी भगवान की माया।

माया का दुसरा रूप उसने देखा कि भ्रमित मन मे वह उन परिस्थितियों की जाच करने भूतमण्डल गया किरा प्रदश गया वहा लागा के मुख म सुनकर सब बातें सचमुच घटित

हुई पाई—यह भी थी भगवान की माया।

इस सबसे चकरा कर उसने भगवान का आह्वान किया कि इन विरोधी परिस्थितियों का रहस्य उद्घाटन करें—तब भगवान बताते हैं, "हे गाधि ! स्वप्नवत् स्थिति में जो दृश्य तुमने देखे, जाच करने पर सही पाया—इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह संसार यथार्थ है—वस्तुत. पृथ्वी, आकाश, पर्वत और जो कुछ भी तुम देखते हो, इनमें से किसी का अस्तित्व नहीं है। समस्त मानवीय अनुभव माया का चमत्कार है—स्वप्न एवं जागृत अवस्थाएं माया के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।"

आगे विष्णु भगवान द्वारा माया का विश्लेषण करके स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य अपनी ही वासनाओं के कारण भ्रमित होता है। अतः वासना से मुक्त होने पर ही मोक्ष होगा। भगवान विष्णु कहते हैं, हे गाधि ! तुम्हारा चित्त माया रूपी घूमते हुए चक्र की धुरी है। चित्त के रुकने पर यह चक्र रुकेगा। यदि तुम अपने चित्त को आत्मा में लीन कर दो तो तुम पर संसार चक्र का प्रभाव नही होगा।"

तत्पश्चात् भगवान ने इस माया से मुक्त होने के लिए गाधि ब्राह्मण को दस वर्ष तक पहाड़ी प्रदेश में जाकर गम्भीर चिन्तन और ध्यान करने को कहा और अदृश्य हो गए। गाधि ने ऋष्यमूक पर्वत पर जा कर प्रबल साधना-जप और तपस्या की—जिसके फलस्वरूप उसके हृदय में विवेक जागृत होने पर आत्मज्ञान हो गया—यही मायाचक्र से छूटने का साधन है।

जिस प्रकार एक हथियार दूसरे हथियार से शून्य किया जाता है, एक विष दूसरे विष से प्रभावहीन बनाया जाता है और वस्त्र की मलिनता दूसरे प्रकार की मलिनता (साबुन) से दूर की जाती है इसीप्रकार अज्ञानता (अविद्या) रूपी माया दूसरे प्रकार की ज्ञान रूपी माया से नष्ट होती है—अविद्या एव ज्ञान दोनों ही माया (मिथ्या) हैं—अस्तित्व किसी का भी नहीं है। अज्ञान को नष्ट करके ज्ञान स्वयं विलीन हो जाता है, जैसे अग्नि ईधन को भस्म करके स्वयं बुझ जाती है। फिर ज्ञान और अज्ञान का अन्त होने पर माया का लोप हो जाता है।[1]

भक्ति और ज्ञान द्वारा ही माया दूर हो सकती है, ईश्वर प्रेम के कारण जब सांसारिक पदार्थों से विरक्ति होने लगती है तो संसार स्वप्नवत् दृष्टि आता है। यह स्थिति प्राप्त होने पर योगी जीवन मुक्त हो जाता है—मुक्त योगी संसार के पदार्थों को माया रूप देखता है।

आधुनिक युग के अंशावतार माने जाने वाले आत्म दृष्टा भगवान रामकृष्ण परमहंस ने कहा है—"माया पर विजय पाना अत्यन्त दुर्लभ प्रयास है— परन्तु जिसने माया को पकड़ लिया, उसने सब कुछ पकड़ लिया।"

समाधि अवस्था में मुनि वसिष्ठ को जब शिवजी ने प्रगट होकर पूजा का रहस्य समझाया, उसका सारांश यही है कि प्रत्येक प्राणी में शुद्ध चैतन्य ही एक सार वस्तु है जो पूजा के योग्य है—इस एक सार्वभौम आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं—स्वयं प्रकाश आत्मा में विविध रूपीय संसार का कोई स्थान नहीं है। इसप्रकार यह अनन्त कोटि प्रतीत होने वाला ब्रह्माण्ड शुद्ध चैतन्य का ही प्रसार है।

जैसे वायु चलने पर शब्द होता है, परन्तु वहां है कुछ नहीं, इसीप्रकार स्थूल रूप में देह प्रतीत होती है यथार्थ जैसी पर इसका अस्तित्व नहीं है। संसार ऐसा दीखता है जो है नहीं—अत

जो दर्शाता है वही सत्य है

अनेक अगा से युक्त एक जीव की सत्ता होती है उसी प्रकार ब्रह्म असख्य जीव

रूप अंगो की एक सत्ता हैं। दृश्यवान् यथार्थ है केवल एक शुद्ध चैतन्य।

सूर्यमण्डल की भांति अनन्त चेतन्य में असंख्य ज्योतिकण हैं (चिद् अणु), जिन्हें जीव कहते ह क्योंकि ब्रह्माण्ड के समस्त जीव एक ही सार्वभौम आत्मा के अंश है।[1] वस्तुत: वे अनेक नही है—अज्ञानावस्था में मायावंश वे अनेक जैसे प्रतीत होते हैं। ज्ञान होने पर यह समझ आ जाता है कि "सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही सार्वभौम आत्मा है।" अर्थात् भूमण्डल के असंख्य प्रतीत होने वाले प्राणी एक ही सार्वभौम आत्मा के अंग हैं।

आत्मा में 'अहं', 'त्व' (मैं-तुम) आदि भाव अवथा रूप हैं। इसीकारण मनुष्य को दुख-सुख आदि द्वन्द्वों की अनुभूति होती है। अविद्या स्वप्न की भांति अनेकों भ्रम उत्पन्न कर देती है। इसके कारण सत् असत् और असत् सत् भासने लगता है, विवेकशीलता नष्ट हो जाती है। जिसप्रकार मदिरा पान से पदार्थ कुछ के कुछ भासने लगते है, इसीप्रकार अज्ञानी को मन की वासना के अनुसार ही संसार के पदार्थ सत्य रूप भासते हैं—उसी से सब दुखी हैं।

जिसप्रकार चांदनी चन्द्रमा की पूर्णता की क्रीड़ात्मक अभिव्यक्ति है, इसीप्रकार ब्रह्म रूपी चन्द्रमा से उद्भूत प्रकाश यह विश्व है, यह ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

अहंकार और प्राण में महान् अन्तर है—अहंकार चेतना से अधिक संबंधित है और प्राण का लक्षण है क्रियाशीलता—फिर भी अहं और प्राण दोनों एक शुद्ध चैतन्य के ही स्पन्दन हैं। प्राण से सम्बद्ध चेतना शक्ति जीवरूप धारण करती है—किन्तु यह संबंध भ्रान्ति—मिथ्या—है और अज्ञानता के कारण प्रतीत होता है—वही चेतन शक्ति ब्रह्माण्ड है—अतएव प्रत्येक जीव वही है जो ब्रह्माण्ड है अर्थात् जीव ही ब्रह्माण्ड है। प्रज्ञाशक्ति जागृत होने पर मनुष्य अपने ब्रह्मस्वरूप को पहिचानता है। तब वह समझता है कि मैं यह शरीर, मन, बुद्धि या अहंकार नहीं—मैं सर्वव्यापी अमर आत्मा हूँ, न मुझे छेदा जा सकता है, न सुखाया जा सकता है, न अग्नि में जलाया जा सकता है—जैसा कि भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की अमरता समझाई है।[2]

वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम ! इस बिन्दु पर चिन्तन करो कि विश्व मन के अतिरिक्त कुछ नही है और मन आत्मा ही है—सारे नाम रूपों के पीछे आत्मा ही एक सत्य है—और प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य है इस सत्य को समझना। गहन चिन्तन से प्रतीत होता है कि यह विश्व वाष्प की भांति सारहीन भ्रान्ति है, इसमें ठोस तत्व कुछ नहीं है। अनन्त कोटि जीवों को यह संसार माया से ही उपजा समझना चाहिए—इसमें सार कुछ नहीं है।

जिन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि मैं यह भौतिक शरीर नहीं हूं—मैं सर्वव्यापी सूक्ष्म आत्मा हूं, उनमें अपने शरीर को किसी भी आकार में सिकोड़ने की क्षमता हो जाती है—वे समझते हैं कि भौतिक शरीर सूक्ष्म शरीर का ही स्थूलीकरण है। जब योगी परमसत्ता से एक रूप हो जाता है, तब उसकी शक्ति अनन्त हो जाती है। तभी लीला और देवी सरस्वती खिड़की के छिद्र में होकर कमरे में प्रवेश कर सकीं।

वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम। यह सम्पूर्ण संसार सार्वभौम चित्त का प्रतिबिम्ब है—व्यक्तिगत

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—"मम एव अंशों जीव भूत: सनातन: अर्थात् जीव सनाता मेरा ही अंश है। सन्त तुलसीदास की भी उक्ति है—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"। कभी नष्ट न होने वाला जीव ईश्वर का अंश है—यही अनन्त चेतना सार्वभौमिक (Casmic) ईश्वर है।"
२. नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावक:
   नैन न शोषयति मारुत: 2 23
   अर्थात् आत्मा को न शस्त्र काट सकत है न अग्नि भस्म कर सकती है न इसे जल भिगो सकता है और

आत्मा जब सीमित अहं के दबाव से मुक्त हो जाती है तो वह अपने सार्वभौमिक रूप से अवगत होकर अनन्त सार्वभौम शक्तियों—क्षमताओं को समझ लेती है। प्रत्येक जीवात्मा में सार्वभौमिक मन की क्षमता होती है—सार्वभौम आत्मा का प्रशासक ब्रह्म प्रलय के बाद प्रत्येक युग में नई सृष्टि के आरम्भ में अपने मन के विस्तार द्वारा इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है। यह सृष्टि भूतकालीन सृष्टियों पर आधारित नहीं होती—एक सृष्टि का प्रलय होने पर ब्रह्म संसार चक्र से मुक्त हुआ कहा जाता है—परन्तु प्रत्येक नवीन ब्रह्मा उसी सार्वभौम मानस के आधार पर नवीन विश्व का निर्माण करता है।[1]

इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से जो अनन्त कोटि जीवरूप ब्रह्माण्डों का सर्जन होता रहा है—यद्यपि सब मिथ्या है, किसी का कोई अस्तित्व नहीं, परन्तु अज्ञानतावश यथार्थ माने जाते रहे हैं। जीव के मानस से उनकी सर्जना हुई, अतएव सब माया का चमत्कार है। संत संसर्ग स्वाध्याय, जप ध्यान आदि की प्रबल साधनाओं द्वारा ज्ञान होने पर उन मिथ्या ब्रह्माण्डों का लोप होकर ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है।

जब योगी आत्म प्रतिबिम्ब सहित मन के स्पन्दनों का निषेध करने में सफल हो, तब वह इस सत्य को पहिचानता है कि मै 'आत्मा हूं'। जब अन्तश्चेतना पदार्थों की आधीनता से मुकत हो, तब ब्रह्म से एकयता का ज्ञान होता है।

वसिष्ठजी कहते हैं कि यह संसार चक्र रूपी समुद्र अज्ञानता से उद्‌भूत वासनाओं रूपी जलों से उमड़ता है। अज्ञानी जन समूह इस समुद्र में डूबता रहता है, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष प्रज्ञा शक्ति रूपी नौका में बैठकर उसमें प्रवेश करते हैं, वे समुद्र को पार कर लेते हैं—अर्थात् मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं।

हे राम ! अज्ञानियों के मार्ग पर न चल कर तुम विवेक और वैराग्य के अभ्यास से अपनी बुद्धि को तीक्ष्णवना कर तितिक्षा के अभ्यास से उसे दृढ़ करो—उस प्रज्ञाशक्ति से आत्मप्रकृति पर चिन्तन करो—तब तुम माया के आवरण को छिन्न भिन्न करके आत्मप्रकृति से एकरूप हो जाओगे। अज्ञानियों के मार्ग पर चलने से मनुष्य एक के बाद एक भ्रान्ति में भटकता रहता है, जबकि ज्ञानियो का मार्ग पकड़ने से मोक्ष का अधिकारी बनता है।

संसार के सारे पदार्थ, सारी परिस्थितियां माया का खेल हैं—किसी में कोई तथ्य नही है, इसलिए किसी के खोने पर दुख अथवा प्राप्ति पर आनन्द मनाना उचित नहीं—इन सब की ओर से इच्छा रहित ज्ञानी कभी माया के दलदल में नहीं फंसता। आध्यात्मिक दृष्टि के विकास से इंद्रिय विषय नीरस हो जाते हैं, उनसे चित्त आनन्दित नही होता—तब वह संसार-चक्र से पार जाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, अर्थात् संसार के पदार्थों में अथवा स्वर्गीय सुखों में आसक्ति न रहने पर मोक्ष मिलेगा ही।

जैसे समुद्र में लहरें उठकर क्षण भर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में संसार किंचित काल के लिए दृश्यवान् होकर अदृश्य हो जाता है, क्योंकि सत्ता केवल ब्रह्म की ही है।

7. जीव के तीन स्वरूप (ज्ञानी, जिज्ञासु तथा अज्ञानी)

सृष्टि रचना करने के बाद ब्रह्मा ने अज्ञानता, घृणा-द्वेष और आसक्ति से उत्पन्न हुए संसार के दुखों पर चिन्तन करके संसार के बंधन से जीवात्माओं को मुक्त करने के लिए शास्त्रों की सर्जना की। ब्रह्मा की सृष्टि में तीन प्रकार की सत्ताएं हैं—1. **मानसिक पुत्र** जो ब्रह्म के मानस से उत्पन्न

1 यागवासिष्ठ, भाग स्वामी

हुआ, वे विध्यानिक कहलाए। उनमें महान मनोवैज्ञानिक (मानसिक शक्तियां) हैं और उनके योगेश्वर्य मानसिक स्तर के हैं। 2. **स्वर्गीय सत्ताएं** जो देवनिक कहलाई। वे सत्व गुण से परिपूर्ण हैं। अत वे शास्त्रज्ञान को सुनकर अल्पकाल में ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ३ **तीसरी मानव आत्माएं** हैं जो नतनिक कहलाई। उन्हें मोक्ष प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक बारम्बार शास्त्र सुनने होते हैं।[1]

इन नतनिक कहलाने वाली जीवात्माओं में श्रीवसिष्ठ जी ने तीन प्रकार के जीव चित्रित किए हैं। वस्तुत: जीव का मूल स्वरूप तो एक ही होता है - 'सत् चिद् आनन्द'—क्योंकि जीव ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है नहीं, फिर ब्रह्म से भिन्न रूप होने का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु जन्मजन्मान्तरों के कर्मों द्वारा संसार में रहकर अज्ञानता से सत् स्वरूप ढकने के कारण शुभ अशुभ कर्मों के फलस्वरूप जीव का रूप परिवर्तन होता रहता है- इसप्रकार अनेक जन्मों के कार्मिक कोटि के अनुपात से जीवों की श्रेणियां बन जाती हैं। पूर्वजन्मों के सत् असत् संचित् कर्मों पर भी वर्तमान जन्म में प्राप्त वातावरण और सत्संग के अभाव से निर्मित वृत्तियों के अनुसार मनुष्य का चारित्रिक विकास होता है।

वसिष्ठजी कहते हैं—तामसी प्रकृति की आत्माएं निरन्तर जन्म-मरण के आवागमन में भ्रमण करती रहती हैं। परन्तु सतोगुण प्रधान जीवात्माएं पूर्व जन्मों में की हुई श्रवण, मनन, सिद्धिध्यासन आदि साधनाओं के अभ्यास के कारण छोटी अवस्था से ही प्रज्ञादृष्टि से सम्पन्न होती हैं। वे ज्ञानी पुरुषों के सत्संग और पवित्र आध्यात्मिक स्पन्दनों से पूर्ण वातावरण में रह कर शीघ्र ही जीवन के परम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार के अधिकारी बनकर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

जब तमस् छूट जाता है और रजसे सत्व में परिवर्तित हो जाता है, तब जीवात्मा में धीरे धीरे विवेक, वैराग्य, चित की शान्ति, इन्द्रिय संयम और मुमुक्षत्व आदि आत्मज्ञान के लिए आवश्यक गुण विकसित होने लगते हैं। तब वह इहलोक और स्वर्गलोक के नाशवान ऐन्द्रिय सुखों की निस्सारता पर चिन्तन करके मानव जन्म के परम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प लेकर साधना में रत हो जाता है।

जिसप्रकार आकाश पर बादलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसीप्रकार इन शुद्धात्मा योगी जनों को मानसिक क्लेश नहीं सताते - जीवनमुक्त की भांति वे अपने कर्तव्य कर्म करते हुए प्रारब्ध कर्मों की पूर्ति तक सांसारिक जीवन व्यतीत करते हैं। प्रेम, करूणा, क्षमा, शान्ति ओर समदृष्टि आदि गुणो से विभूषित ये ज्ञानी पुरुष अन्य आत्मचेतना विमुख हुए सांसारिक प्रपंचों में जीवन नष्ट करने वाले मार्ग विचलित जीवात्माओं के लिए आदर्श बन कर निष्काम सेवा में संलग्न रहते हैं।

जिन मनुष्यों में पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों की समाप्ति पर यदि विवेक विचार उत्पन्न होता है, तब वह सन्त महात्माओं के सत्संग हेतु प्रेरित होकर उनके मार्गदर्शन में स्वाध्याय सत्संग, इन्द्रिय सयम और वासनाक्षय आदि आवश्यक साधनाओं की ओर उन्मुख होते हैं।

योगी को आत्मज्ञान के लिए तीन समुद्र पार करने होते हैं—अहं का समुद्र, देह रूप समुद्र और भौतिकमित्र संबंधियों का समुद्र। आध्यात्मिक चिन्तन रूपी नौका की सहायता से योगी इन समुद्रों को पार करने में समर्थ होता है।[2]

जिस मनुष्य में यह अटल विश्वास हो गया है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, वह आत्म ज्ञानी गुरु के मार्ग दर्शन में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के बल से इन समुद्रों को पार कर मोक्ष का अधिकारी बनता है, परन्तु इस विश्वास के बिना जीवात्मा अनन्त मानसिक उलझनों में फंसे दुख भोगते हुए

---

1. योगवासिष्ठ, भाग -2 (श्री स्वामी जयोतिर्मयानन्द), पृ० 245
२ स्वामी

जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता है।

वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम ! अज्ञानता का आवरण दूर होकर परम सत्य का दर्शन होने तक ये आत्माएं एक के बाद एक भंवर में भटकती रहती हैं - आध्यात्यमिक विचारणा के प्रकाश से मन में ज्ञान उत्पन्न होने तक निरन्तर प्रयत्नशील रहने से यह अज्ञानता रूपी रोग नष्ट होकर आध्यात्मिक दृष्टि बनती है कि केवल आत्मा ही सत्य है।

आगे कहते हैं— हे राम ! सांसारिक सुखों के रत रहने वाले मनुष्यों के संसर्ग से मनुष्य मे पदार्थों के प्रति कामनाएं विकसित होती है, वह भ्रान्त हो जाता है और वह मानव जन्म के परम लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार से विमुख रह कर ऐन्द्रिक सुखों में जीवन नष्ट कर देता है। परन्तु ज्ञानी जनो के संसर्ग मे आने वाले मनुष्य में धीरे-धीरे ज्ञान, भक्ति और वैराग्य विकसित होने लगते है और वह कालान्तर में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

इसप्रकार संसार में मुख्यतः तीन प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं—1—शुद्धात्मा - चिदानन्द - ब्रह्म स्वरूप - जिन्होंने शास्त्रों के अध्ययन तथा गुरु के मार्गदर्शन में सत्संग, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि पुरुपार्थ द्वारा अपने यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उन्होंने जीव, जगत की स्थिति को भली प्रकार समझ लिया है - व्यक्त संसार के मिथ्या एवं यहां के क्षणिक सुखों को उन्होने नाशवान जान कर दृढ़ता से उपेक्षित कर दिया है - वे मुक्त हैं। उन्हें पुनः जन्म लेना नहीं पड़ेगा।

2—दूसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं जिनमें कुछ समझ है, परन्तु विपयों को भोगने की वृति पर इंद्रिय संयम नहीं है; वे सत्य को भी समझते हैं और अज्ञानता को भी। श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों के फलीभूत् होने पर उनमें तमोगुण नष्ट होकर, रजोगुण धीरे-धीरे सत्व मे परिणत होकर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए विवेक, वैराग्य और समता आदि गुणों की उत्पत्ति होने लगती है। ये लोग आगामी जन्मों में मोक्ष के अधिकारी बन सकते हैं।

3—तीसरे प्रकार के वे मनुष्य हैं जो आत्मस्वरूप को भूलकर पंचतत्व से बने भौतिक शरीर को ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं। ये लोग अधिकाधिक भोगों की प्राप्ति के लिए ही संसार में अनेक धन्धों में लगे रहते हैं। उन्हें यथार्थ सत्य को जानने की इच्छा ही नहीं होती - वे अपने इस आधिभौतिक रूप में रमे रहते हैं - किन्तु इसप्रकार के मनुष्य इहलोक में न परलोक में, सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। आत्म विचार द्वारा स्वाध्याय, सत्संग और ध्यान से वासना क्षय एवं इंद्रिय संयम के बल से चित् शुद्धि होने पर सुखद और शान्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है— प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणो से अमर आत्मा शरीर के बन्धन में बंधी है—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहों देहेदेहिनभव्ययम् ॥ 14-5
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थामध्ये तिष्ठन्तिराजसाः ।
जघन्य गुण वृतिस्था अधोगच्छति तामसाः ॥[1] 14-18

वसिष्ठजी कहते हैं कि तासमी आत्माएं जन्ममरण के चक्र में फंसी रहकर बारम्बार जन्म लेती रहती हैं और जिनमें विवेक और वैराग्य जागृत हो गया है, उनका आध्यात्मिक विकास होता रहता है - अन्त-तोगत्वा उन्हें दिव्ययोनि प्राप्त होती है जहां उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त होकर जन्म-मरण

---

1 अर्थात् सत्व में स्थित पुरुष स्वर्ग आदि उच्च लोकों को जाते हैं। रजोगुण मे स्थित राजसी पुरुष मध्य लोक अर्थात् मनुष्य लोक में ही रहते हैं और तमोगुण के कार्य रूप निद्रा प्रमाद आलस्यादि में स्थित तामस लोग अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं

के चक्र से मुक्ति हो जाती है। गीता के छठे अध्याय में अर्जुन के प्रश्न पर भगवान ने उत्तर दिया कि परमात्म प्राप्ति के लिए साधना करने वाला योगी कभी नष्ट नहीं होता—

'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥[1] 6-40
प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो ऽभि जायते॥[2] 6-41
प्रयत्नाद्यतमा नस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥[3] 6-45

इसीप्रकार मानसिक वृत्तियों तथा ज्ञानोत्पत्ति के आधार पर ज्ञानी पुरुषों ने जीवों की श्रेणियां बताई हैं। रामचरितमानस के रचयिता संत तुलसीदास ने भी तीन प्रकार के जीव कहे हैं—

1. विषयी—जो भौतिक शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार ही को सब कुछ मानते हुए इंद्रिय विषयों में रत हैं। जीवन के यथार्थ सत्य की ओर जिनका ध्यान ही नहीं जाता।

2–साधक—जो जीव, जगत और ईश्वरीय तथ्यों पर चिन्तन करते हुए साधना रत हैं।

3–ज्ञानी अथवा सिद्ध—जिन्होंने भक्तियोग तथा ज्ञानयोग साधनाओं के द्वारा जीवन में कुछ सिद्धि प्राप्त कर ली है और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए परमार्थ का मार्ग प्रशस्त कर रहे है। वे अज्ञानी आत्माओं के लिए भी आदर्श बनकर उनमें भक्ति व ज्ञान विकसित करने हेतु प्रयत्नशील हैं।

महात्मा गौतमबुद्ध ने और भी सूक्ष्म भेदों द्वारा चार प्रकार के जीव बताए हैं—

1–मूढ़—घोड़े के समान, बुद्धि हीन।

2–अज्ञानी—जो स्वयं ज्ञानहीन हैं, किन्तु सद्गुरु प्रेरणा से ज्ञान उत्पत्ति की क्षमता रखता है।

3–ज्ञानी—जो इशारे मात्र से आत्मज्ञान प्राप्त कर ले।

4–विवेकी—जो देख कर ही तत्व को जान ले।

वस्तुतः आत्मा का अवतरण अपने मूल रूप में जो सत् चिद् आनन्द स्वरूप है, होता है -पूर्व जन्मों के संस्कारों के फलीभूत होने पर इस जन्म के पुरुषार्थ और पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण के अनुसार जीव की श्रेणियां बन जाती हैं- वसिष्ठ जी कहते हैं कि सदैव यह चिन्तन करो कि संसार के सारे पदार्थ और विषय-सुख नाशवान हैं - जिस प्रकार मोर बादल उमड़ते देख कर खुशी से नाचता है - उसी प्रकार जिज्ञासु को सन्त महात्माओं का अनुसरण करने में प्रसन्न होना चाहिए। उन आत्मज्ञानी पुरुषों के मार्ग पर चल कर आध्यात्मिक दृष्टि विकसित करो जो सारे नाम रूपों के पीछे आत्मसत्ता का दर्शन करते हैं।

8. तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार के संकल्प तथा संकल्प मिटने पर विश्व का

1- 2. अर्थात् हे अर्जुन (पृथु पुत्र) उक्त पुरुष का न इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही - जो योग में श्रद्धा रखता हो, पर अन्त समय में योग से विचलित हो गया हो। क्योंकि आत्मोद्धार के लिए कर्म करने वाला कोई पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। ऐसा योग भ्रष्ट पुरुष स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, बहुत वर्षों तक उसमें निवास करने के बाद फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

3. प्रयत्नपूर्वक प्रयास करने वाला योगी पिछले अनेक जन्मों के संस्कार-बल से इसी जन्म में सिद्धि प्राप्त करके सम्पूर्ण पापों से रहित हुआ परम गति को प्राप्त हो जाता है

अत-(दाशूर के कथानक द्वारा)

तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार के संकल्पों को समझाने के लिए महर्षि वसिष्ठ ने श्री रामजी को दाशूर का आख्यान सुनाया है। वसिष्ठ जी कहते हैं कि संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति हैं—1. जो लोग संसार में इंद्रिय जनित सुखों एवं शक्ति अर्जन में रत हैं, वे उस सत्य को जानने की आकांक्षा ही नहीं करते, जो उन्हें स्पष्ट दृष्टिगत न हो। 2. दूसरे वे लोग हैं जिन्हें ज्ञान तो है परन्तु इंद्रियों की विषयोन्मुखी प्रवृति पर पूर्णरूपेण नियंत्रण नहीं किया है। वे सत्य को भी देखते हैं और भ्रांति को भी। 3. जिसने जीव और जगत की प्रकृति को स्पष्टरूपेण समझ लिया है और ससार की यथार्थता का दृढ़ता से निपेध कर दिया है, वह मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म नही लेता।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दाशूर का कथानक इस प्रकार है—मगध देश में दाशूर नाम का एक महात्मा पुरुप रहता था जो कठोर तपस्या में संलग्न था। उस देश में चहुं ओर सुखद सुहावने उद्यान-वाटिकाओं से पूर्ण वातावरण था परन्तु दाशूर किसी वस्तु में रुचि नहीं लेता था। उसके पिता भी सारलोम नाम के सन्त थे - दुर्भाग्य से इसकी छोटी अवस्था में ही माता-पिता का प्रयाण हो गया। वन की देवियों ने प्रकट होकर इस अनाथ बालक को संसार की असारता का ज्ञान कराते हुए ढाढ़स बंधाया कि तुम व्यर्थ में दुखी होते हो। दाशूर माता पिता का अन्त्येष्टि सस्कार कर के सत्य की खोज में तपस्या करने चला गया। शास्त्रीय विधि से कर्मकाण्ड करते करते उसमें यह भाव जागा कि सारा संसार अशुद्धियों से पूर्ण है- तो एक वृक्ष की चोटी पर बैठ कर एक विशेष यज्ञ करने लगा जिसमें अपने ही शरीर का मांस काट काट कर अग्नि में आहुति दी जाती है। यह देख कर अग्नि देवता स्वयं प्रकट हो कर बोले कि—"तुम्हारे हृदय में जो इच्छा है, वह अवश्य पूरी होगी।" सन्त की पूजा अर्चना ग्रहण करके वह अदृश्य हो गए।

तत्पश्चात् दाशूर को अपने सामने एक विशाल कदम्ब का वृक्ष दिखाई दिया जिसकी बडी बडी शाखाएं फल, फूलों से लदी हुई थीं। वह उस पर चढ़ गया, दृष्टि दौड़ाई - और उसे एक सार्वभौमसत्ता का दर्शन हुआ। कदम्ब वृक्ष पर निवास के कारण उसका नाम कदम्ब दाशूर पड गया। अब वह वृक्ष की चोटी पर बैठ कर मानसिक यज्ञ करने लगा। मानसिक यज्ञ की ही शक्ति से दाशूर का चित्त और हृदय शुद्ध हो गया और उसे ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

एक दिन उसके समक्ष एक अत्यन्त सुन्दर वनदेवी - पुष्पों से ढकी हुई प्रकट हुई - उस का परिचय पूछा - वह बोली, "मैं इस वन की देवी हूं - मुझे संसार में किसी वस्तु की कमी नही है, परन्तु सन्तान के अभाव से दुखी हूं।" और बोली, "तुम्हारे होते हुए मैं दुखी क्यों रहूं ? मुझे एक पुत्र दो अन्यथा मैं जल कर भस्म हो-जाऊंगी।" दाशूर ने एक लता बेली तोड़ कर कहा कि "जैसे इस लता पर महीने भर में पुष्प लगेंगे, तुम भी पुत्र को जन्म दोगी।" वह वनदेवी कृतज्ञता प्रकाशन के बाद चली गई।

12 वर्ष बाद वह उसी अवस्था के बालक को लेकर दाशूर के पास पहुँची और कहा, "भगवन्, यह तुम्हारा पुत्र है। मैंने इसे सब प्रकार की विधाएं सिखा दी हैं - अब इसे ब्रह्म विद्या सिखाओ।' सन्त ने स्वीकार कर लिया और उसी दिन से आत्मज्ञान की विभिन्न विद्याएं सिखाने लगा।

वसिष्ठ जी कहते हैं, उस समय मैं उस पेड़ के पास पहुंच गया और दाशूर को अपने पुत्र को ज्ञान देते हुए सुना।

दाशूर बोला, "पुत्र ! मैं तुम्हें जो कुछ इस संसार के विषय में सिखाना चाहता हूं, एक कहानी के माध्यम से सिखाऊंगा। एक खोत्थ[1] नामक राजा था जो तीनों लोकों को जीतने की सामर्थ्य रखता था उसके दुखद अथवा सुखद कार्यकलापों की कोई गिनती नहीं थी उसकी वीरता

का कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक उसके साहसिक कृत्यों की समानता नही कर सकते थे। उस राजा के तीन शरीर थे, सर्वश्रेष्ठ, मध्यम और सब से निकृष्ट। उसने भूमि पर चौदह सड़कों और तीन मोहतलों (सेक्टर्स) का एक नगर बनाया जिसमें नव द्वार थे - सुन्दर, सुहावने उद्यान, सदैव प्रकाश से जगमगाते रहते थे।

उस नगर में राजा ने अनेकों प्रकार के जीव उत्पन्न किए - ऊपर, नीचे और मध्य में - कुछ दीर्घायु होते, कुछ अल्पायु - कुछ दुखी, कुछ सुखी - राजा स्वयं भी भूत-प्रेतों एवं अन्य जीवो से घिरा हुआ परेशान सा इधर-उधर दौड़ता रहता था। कभी भावी विपत्तियों के भय से एक स्थान को छोड़ कर नया नगर बसा लेता। उसमें भी विनाश की सम्भावना से भयभीत होकर दुखी होता कि मैं क्या करूं, मैं अज्ञानी हूं - कभी आनन्दित होता। दाशूर कहता है, हे पुत्र ! इस प्रकार ससार जैसा प्रतीत होने वाले समुद्र में वह राजा टकराता रहा, दुख सुख की परिस्थितियों में गोते लगाता रहा - जीतता, हारता, चमकता, नहीं चमकता आदि।

इस प्रकार जीव और जगत की सृष्टि का वर्णन हुआ। यह खोत्थ जो बढ़ते बढ़ते शून्यता को प्राप्त हो गया, वह विचार के अतिरिक्त कुछ नहीं था। यह विचार मन की शून्यता में स्वत उत्पन्न हुआ और स्वयं ही शून्यता में विलीन हो गया। अखिल ब्रह्माण्ड और उसमें जो कुछ है, इसी विचार अथवा मन के संकल्प की उपज है। वास्तव में ब्रह्मा-विष्णु-महेश-त्रिदेव तक इस विचार के अंग है। यह विचार ही तीन लोक, चौदह भुवन और सात समुद्रों की उत्पत्ति का आधार है। राजा के द्वारा निर्मित नगर विभिन्न प्रकार के अंगों एवं विलक्षणताओं वाली विविध आत्माओं के सिवाय और कुछ नहीं है - उनमें कुछ उच्च लोकों की हैं दिव्य आत्माएं (देव गण) अन्य सामान्य लोकों में रहती हैं।

कल्पित नगर बना कर राजा ने भूतों (प्रेत) की देख-भाल में दे दिया। भूत थे 'अहंकार' भाव। राजा इस शरीर रूपी संसार में क्रीड़ा करने लगा। क्षण भर में वह जागृत अवस्था देखता तो दूसरे क्षण अनायास दूसरी दुनिया में पहुंच कर स्वप्नों मे विचरने लगता। एक नगर से दूसरे नगर, एक शरीर से दूसरे शरीर और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भ्रमण करता है। यह विभिन्न प्रदेश हैं अनेकों जन्म जन्मान्तर- जीव का विभिन्न योनियों में जन्म लेना।

इस प्रकार के अनेकों चक्रों के बाद उसे ज्ञान उत्पन्न होता है। तब संसार की विषयोन्मुखी भ्रान्ति को पहिचान कर सारे संकल्पों से विरत होने पर वह इस भ्रमण से मुक्त होता है।

जीवट के कथानक से यह बिन्दु भली प्रकार स्पष्ट हुआ है कि मन के विचारों में इतनी क्षमता होती है, जो विचार मन में उठते हैं वही स्थिति सामने आ जाती है। मन में उठने वाले सकल्पों से जीवट ब्राह्मण की आत्मा ने मन चाहे रूपों में भ्रमण करके अन्ततोगत्वा ज्ञान प्राप्त किया। कहानी इस प्रकार है—एक साधु समाधि का अभ्यास किया करता था- इन्द्रिय संयम, शान्ति, सन्तोष, स्वाध्याय और ध्यान। समाधि के अभ्यास से उसका चित्त इतनी सूक्ष्म क्षमता को प्राप्त हो गया कि जो भी अभ्यास करता, वह प्राप्त कर लेता। एक दिन उसने अनुभव किया कि वह जीवट ब्राह्मण है। उसके अन्तःकरण में वह कल्पना साक्षात् हो गई। एक दिन ब्राह्मण गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था। स्वप्न में अपने को वैदिक कर्मकाण्ड सम्पन्न करते हुए ब्राह्मण के रूप में देखा। कुछ समय बाद उसने अपने को एक बादशाह के रूप में औरो पर हुकूमत करते हुए स्वप्न में अनुभव किया। उस बादशाह ने स्वर्ग के ऐश्वर्यों को भोगने हेतु अप्सरा बनने की कामना की।

कालान्तर में अप्सरा ने चाहा चमकते नेत्रों वाला हिरण हो जाऊं - हिरण योनि में चाहा -

---

खोत्थ (ख + उत्थ) = आकाश से उत्पन्न हुआ

वृक्ष से लिपटी हुई अंगूर की बेलि बन जाऊं - बेलि ने भंवरा होना चाहा। भंवरा एक झील मे कमलों के साथ क्रीड़ा कर रहा था कि हाथी ने आ कर भंवरे सहित कमल को अपने पांव से कुचल दिया और भंवरे की जीवन लीला समाप्त हो गई। मृत्यु के समय हाथी को देख कर भंवरे के मन मे हाथी बनने का भाव जागृत हुआ। इतने में हाथी को राजा की सेवा के लिए उसके आदमी पकडकर ले गए।

कुछ समय बाद राजा का हाथी युद्ध में मारा गया। हाथी के मन में मरते समय भंवरे के सस्कार विद्यमान थे, उसने अपने आप को भंवरे के रूप में देखा - फिर भंवरा कमल में आसक्त हो गया और कमल हाथी के द्वारा नष्ट हो गया। पास में एक हंस को देख कर इस बार भंवरा हस जैसा बनने की कामना से मृत्यु को प्राप्त हुआ और फिर वह अपने को हंस रूप में अनुभव करने लगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यं यं वापि स्मरण् भावं त्यज्यन्त्यन्ते कलेवरम्।
तं त मवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥ 8/4

अर्थात—हे कुन्ती पुत्र ! जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ जीव अन्त में शरीर त्यागता है उसी भाव में भावित हुआ उसे प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार मन में उठे हुए विचारों के फलस्वरूप वह साधु जीवट ब्राह्मण बना और अपने विचारों के अनुसार ही विभिन्न योनियों में आत्मा के भ्रमण के पश्चात् वह ब्रह्मा का हस बन गया। अत में ब्रह्मा के संसर्ग से आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया।[1]

जीवट ब्राह्मण के विचार सात्विक थे। अत: वह क्रमश: विभिन्न रूपों को प्राप्त करते करते उच्च स्थिति पर पहुंच कर आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया।

मन संकल्पों से उत्पन्न हुआ है। संकल्पों के न उठने पर मन स्वयं क्षीण हो जाएगा - वसिष्ठ जी कहते हैं, 'हे राम ! संकल्पों को पूरे वेग से रोकने का प्रयत्न करो। समस्त वासनाओं और सकल्पों से चित्त को हटा कर ब्रह्म में स्थित होने का प्रयास करो। अपने मानस को पदार्थों से हटा कर समाधि में स्थित हो जाओ।'

चंचलता और संकल्प विकल्प मन के दो बीज हैं ईधन और अग्नि की भांति। यदि चचलता रूपी ईधन को हटा लिया जाये अर्थात् मन को शांत कर दिया जाय तो संकल्प रूप अग्नि स्वत बुझ जायेगी और चित्त अपनी मूल प्रकृति चित्तशक्ति अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मा में स्थित हो जायेगा। कितनी ही अन्य साधनाएं करके भी संकल्पों के नष्ट हुए बिना मोक्ष सम्भव नहीं। अतएव दाशूर कहता है, हे पुत्र ! सारे संकल्पो, विचारों और हवाई किलों को त्याग दो। इनके बंद होने पर चित्त अचित हो जाएगा - शुद्ध चैतन्य। संकल्प रूप चित्त में जगत स्थित है - संकल्पों के नष्ट होने पर चित्त स्वयं नष्ट हो जाएगा। चित्त के नष्ट होने पर यह संसार रूपी कुहरा भी नष्ट हो जाएगा।

यह सब उस युवा पुत्र नें दत्तचित होकर सुना। फिर पूछा - पिताजी ! कृप्या बतावें ये सकल्प, विचार आदि कैसे उठते, बैठते और किस प्रकार नष्ट होते हैं ?

तब दाशूर ने बताया - "जब अनन्त चैतन्य में अपने को पदार्थ रूप जानने का भाव प्रकट होता है तो उसमें अत्यन्त सूक्ष्म विचार कण (ideation) होता है। उस भाव में लिप्त होने पर अन्त:चेतना अपने आप को कर्ता से भिन्न पदार्थ समझने लगता है। तब वह कण बढ़ने लगता है, स्वाभाविक रूप से बढते बढते उसमें दु:ख-सुख की अनुभूति होने लगती है। इस विचार के

1 चतुर्थ भाग स्वामी

अतिरिक्त संसार के दुख सुख का कोई कारण नहीं है।"

प्राण हजारों नाड़ियों में प्रवाहित होते हैं - यह प्रवाह शारीरिक स्वास्थ्य को भी प्रवाहित करता है और मानसिक विचारों के लिए वाहन का काम करता है। सात्विक, राजसी, तामसी - तीन गुणों पर जीवन आधारित है। फिर विचार भी तीन प्रकार के होते हैं। जो विचार शुद्ध भावात्मक हैं उनसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जो विचार अंधकार जैसे हैं, तमस् रूप - उनसे अज्ञान उत्पन्न होता है और निम्न सृष्टि बनती है एवं जो शुद्ध विचार मिश्रित हैं (राजसी) उन से सांसारिकता पनपती है। जब ये सब विचार संकल्प शान्त हो जाते हैं, तब अन्तरात्मा का प्रकाश प्रकट होता है - अन्तरात्मा को संसार प्रपंच स्पर्श नहीं करता।

मन जब अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होता है, वही जीव है, वही हवाई किले बनाता है, मानो स्वयं भूत भविष्य वर्तमान में फैल जाता है।

अतः दाशूर कहता है कि, 'हे पुत्र ! विचारों को बढ़ावा मत दो, अपने अस्तित्व का भाव भी मन में रक्खो, क्योंकि इन भावों व विचारों से ही भविष्य बनता है। विचारों के क्षीण होने से सुख-दुख का प्रभाव कम होगा और पदार्थों की असत्यता का ज्ञान होकर आसक्ति नहीं रहेगी। विचारो की तरगों को पकड़ना सम्भव नहीं परन्तु इतना कहा जा सकता है कि इंद्रियों के अनुभव के विचार विकसित होते हैं और इन्द्रियों की क्रियाशीलता पर नियन्त्रण होने से विचार बंद हो जायेंगे। यदि विचार कोयले की कालिमा के समान यथार्थ होते, तब नष्ट नहीं हो सकते थे - परन्तु ऐसा नहीं है। अतः प्रयत्नपूर्वक आत्म नियन्त्रण से उन्हें रोका जा सकता है।'

वसिष्ठ जी कहते हैं—महात्मा दाशूर के ये वचन सुनकर मैं वृक्ष पर से उतरा और हम तीनों कुछ देर ज्ञान चर्चा करते रहे और फिर मैं चला गया। यह आख्यान मुनिराज ने दृश्य संसार की प्रकृति समझाने के लिए सुनाया था। आगे कहते हैं, हे राम ! संकल्पों की उत्पत्ति से संसार दृष्टि आता है - सकल्पों के नाश से संसार प्रपंच का भी नाश हो जायेगा। सारे संकल्पों का न रहना ही मोक्ष है। बादलों के द्वारा सूर्य की भांति संकल्प आत्मा पर आवरण डाल देते हैं। मन संकल्पों की गठरी के अतिरिक्त कुछ नहीं है - संकल्पों को नष्ट कर दो। विचारहीन बन जाओ । मन बिना मन हो जाएगा।

सारे विचारों का केन्द्रीय आधार 'मैं' है - झूठा, कल्पित 'मैं'। 'मैं' पर चिन्तन करने से सासारिक विचारों की श्रृंखला बनने लगती है। अर्थात् संसार प्रकट हो जाता है। अन्यथा ब्रह्माण्ड इस प्रकार विलीन हो जाएगा जैसे सूर्य के सामने अंधकार।

मनुष्य का मुख्य रोग ही विचार है - यही मृत्यु के बाद साथ जाते हैं, इन्हीं से पुनर्जन्म होता है।

विचार ही आत्मज्ञान में बाधक हैं, ये ऐसी तरंगें हैं जिनसे चित में आत्म का बिम्ब नही दिखाई देता। विचार शून्यता ही उपलब्धि की कुंजी है।

निर्विचार साधना ही ध्यान है, इसकी उपलब्धि ही समाधि है, यही आत्मज्ञान है, विचार भटकाने वाले हैं, आत्मा विस्मृति मात्र है, उसे निर्विचार स्थिति से ही पुनः स्मृति में लाया जा सकता है। मन जब शून्य होता है तभी आत्मा अपने पूर्ण प्रकाश में प्रकट होती है। सब विचारों, मानसिक कल्पनाओं को बन्द करना ही अपने ब्रह्म स्वरूप को पहचानना है - आत्म साक्षात्कार। इस दिशा में किए जाने वाले प्रयत्न योग और ज्ञान कहलाते हैं।

आगे इसी कहानी में यह रहस्य साक्षात् रूप से स्पष्ट किया है कि जो विचार मन में उत्पन्न होता है अनुभव में आ जाता है लीला के समाधि से उठने पर देवी सरस्वती उसे पूर्वजन्म दिखाने ले गई जब वह पर्वत ग्राम में वसिष्ठ ब्राह्मण की पत्नी अरून्धती थी और दानों अत्यन्त सात्विक

प्रेममय जीवन यापन करते थे। एक दिन ब्राह्मण ने पहाड़ी पर बैठे हुए किसी राजा की सवारी (Processcin) निकलते देखा। राजा सजे-धजे हाथी पर सवार था। पीछे पीछे रंग बिरंगी फौज थी। वह देख कर उसके मन में विचार उठा - 'राजा की जीवन कितना समृद्धशाली और आनन्दप्रद है। मैं ऐसे शाही हाथी पर कब चढूंगा, और सेना के साथ मेरी सवारी निकलेगी।' उसके मन मे वह चिन्तन चलता रहा। वृद्ध होने पर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी पत्नी अरून्धती उसकी अत्यन्त भक्त थी। देवी सरस्वती लीला से कहती है कि "उसने भी तुम्हारी भांति मुझसे वर मांगा था कि उसके पति की आत्मा उसके घर से दूर न हो।"

यद्यपि वह ब्राह्मण सूक्ष्म (Ethenal) सत्ता था, किन्तु पूर्वजन्म में निरन्तर चिन्तन की शक्ति से वह एक बलशाली धर्मात्मा राजा हुआ - दीन - दुखियों को शरण देता था और सब की आवश्यकता पूर्ति का ध्यान रखता था। अरून्धती भी शरीर त्याग कर अपने पति से जा मिली।

देवी सरस्वती बोली, 'हे लीला ! तुम्हारा पति राजा पद्म और तुम वही पूर्वजन्म के वसिष्ठ और अरून्धती हो।'

इससे यह स्पष्ट है कि मन में जो संकल्प उठते हैं, वैसा ही बन जाता है।

श्रीराम के पूछने पर महर्षि वसिष्ठ समझाते हैं कि हे—राम ! अन्तःकरण का प्रकाश पदार्थों पर पड़ कर उन्हें विस्तार देता है - चित्त द्वारा प्रतिबिम्बित होने वाले प्रकाश से मानसिक विचारो को साक्षात् रूप प्राप्त हो जाता हैं। यही संसार है। अतएव चित्त को शून्य बनाने के लिए विचारो को उठने नहीं देना चाहिए।

"मनसः संकल्प विकल्प प्रशमनादेव ब्रह्म साक्षात्कारः ॥" [1]

(ब्रह्म रहस्योपनिषद्)

अर्थात् मन के संकल्प विकल्पों के शान्त होने पर ही ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है क्योंकि मन में उठने वाले संकल्पों से संसार की सृष्टि होती है और संकल्प न रहने पर सब ब्रह्म की दृष्टि आता है। भूत-भविष्य के विचारों से मुक्त होने पर संकल्प स्वयं ही नष्ट हो जाएंगे। जिस प्रकार मन पर पुराने संस्कार इंद्रियों के क्रियाहीन होने की अवस्था में स्वप्न रूप में प्रकट हो कर पुन विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार शुद्ध चेतना में मन के संकल्प उदय हो कर संसार रूप में दृश्यमान हो जाते हैं। यदि संकल्प न रहे तो संसार भी न रहे। संकल्पों के कारण ही मनुष्य को दुख सुख के अनुभव होते रहते हैं। मन को संकल्प विहीन बनाना संसार के दुःखों से मुक्त होना है।

☐ **यह शरीर वासनाओं का बण्डल है। वासनाएँ सूक्ष्म होने पर आत्मा की शरीर से**

---

* संकल्पों (विचारों) के बढ़ने से यह प्रपन्च (संसार) उत्पन्न होता है। संकल्पों के नष्ट होने पर संसार का क्षय हो जाता है और समस्त सकल्पों का न रहना ही मोक्ष है।

अभिन्नता की प्रतीति हल्की पड़ जाती है और आत्मा को अपनी देह रहितता का ज्ञान हो जाता है।

1 स्वामी शिवानन्द की पुस्तक टेन उपनिषद्स से साभार उद्धृत

5

उपशम प्रकरण

सत्वेन परिपूर्ण मनसि इतरद् गुणद्वयं स्वयं नश्यति।
मनश्चलधिमानमाप्तं निवातस्थ दीप इव निश्चलं भवति ।।*

—ज्योति विन्दोपनिषद्

1 वासनाक्षय एवं मनोनाश

मानव सत्ता इस संसार चक्र रूपी विशाल जंगल में हरिण की भांति वासनाओं के जाल में जकड़ी हुई है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कोहरा पिघल जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक विचारणा द्वारा चित्त की अज्ञानता का आधार वासनाएं नष्ट हो जाती हैं।

चित्त सदैव वासनाओं से चलायमान होता रहता है—बहिर्मुखी वृत्ति से संसार के जिन पदार्थों को पाने की इच्छा जागृत होती है, उन्हे प्राप्त करने हेतु मन जो विधि अपनाता है, उन सब को यदि माया समझ लो तो वासना पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, जिन के कारण चित्त सदा क्षुब्ध रहता है।

मन चेतनाशक्ति और स्थूलता की गांठ है—इन दोनों के मध्य मन डोलता रहता है—चैतन्यशक्ति इसकी वास्तविकता और भौतिक पक्ष भ्रान्तिमात्र है, उसमें कोई सार नहीं है। अतएव चित्त अपनी भ्रांतियों से मुक्त होने पर शुद्ध चैतन्य में परिणत हो जाता है, जो मानव का यथार्थ सत्य है।

जब तक चित्त अज्ञानता से भरा रहता है, तब तक वह संसार चक्र रूपी रात्रि में विभिन्न परिस्थितियों में भ्रमण करता रहता है परन्तु ज्ञानालोक से चित्त के आलोकित होने पर जीवात्मा ब्रह्म से अपनी ऐक्यता प्राप्त कर लेती है—तब आत्मा को अनुभव होता है कि वह समस्त कर्मों एव उनके फल से सदैव मुक्त है।

वासना से ही ऐन्द्रिक विषयों के प्रति आसक्ति होती है, जो सांसारिक दुःखों तथा बन्धन का कारण हैं। संसार के लुभावने क्षणिक सुख अंत में दुख देने वाले होते हैं। कामना रूपी क्षीर सागर के उमड़ने पर उसमे अनेक तरंगें उठती हैं—उससे चित्त की अशान्ति बढ़ती है—उसमे सारतत्व कुछ भी नहीं है। जब सारा ब्रह्माण्ड मिथ्या अनुभव होने लगे तो वासना की महत्ता समाप्त हो जाती है।

महर्षि व्यास ने महाभारत में एक रूपक द्वारा अपने पुत्र शुक को समझाते हुए वासना का सुन्दर चित्रण किया है—

व्यास जी कहते हैं, हे पुत्र ! मनुष्य के हृदय में एक वासना का वृक्ष है, जो भ्रान्तिरूप बीज से बढ़ता है। क्रोध और अभिमान उसकी बलवती शाखाएं हैं—प्रमाद इस वृक्ष को मानसिक विक्षेप रूप जल से सींचता है। मनुष्य की दोषान्वेषी प्रकृति (दूसरों के दोष देखने का स्वभाव) वृक्ष के पत्तों के समान है—पूर्वजन्मों के कर्म वृक्ष की डाल हैं। इस वृक्ष में इच्छा आकांक्षाओं का जाल बेलो (लताओं) की भांति लिपटा हुआ है। सूक्ष्म वासना रूपी जंजीरों से बंधे हुए लोग विष भरे फलों की आशा में वृक्ष के आसपास बैठे रहते हैं।[1]

---

1 द वे टु लिबरेशन—स्वामी ज्योतिर्मयानन्द।

वासनाएं छिन्न भिन्न हो जाती हैं पदार्थ भावना दूर होकर अज्ञानता काफूर हो जाती है

जो पुरुष वैराग्य रूपी कुल्हाड़ी से वासना रूपी जंजीरों को तोड़कर इस वृक्ष को काटने में समर्थ हैं वे मृत्यु के पार चले जाते हैं, परन्तु लालची लोग फल खाने की लालसा में इस वृक्ष पर चढकर विष से नष्ट हो जाते हैं—अर्थात् संसार चक्र में भ्रमित हुए दुख-दारिद्रय रूपी विषैले फल खाकर नष्ट होते हैं।

वासनाओं का मूल अज्ञानता है—केवल ज्ञान द्वारा वासनाओं को नष्ट किया जा सकता है। सूर्योदय होने पर अंधेरे की भांति ज्ञानोदय होने पर वासनाएं लुप्त हो जातीं—उत्पन्न नहीं होती।

अज्ञान के मोम ने चित्त को सांसारिक पदार्थों से चिपका दिया है। ज्ञानाग्नि जब इस मोम को पिघला देती है, तब चित्त को सत्य का ज्ञान होता है कि वह सदैव सांसारिक पदार्थों से भिन्न रहा है। माया के आवरण से आत्मा जीव का रूप धारण करके अपनी ही उत्पन्न की हुई वासनाओं से जूझती है।

अज्ञानता के विनाश से ही यह चित्त निरपेक्ष होगा। जिसका मन नियंत्रित हो गया, वह शान्ति में स्थित हो जाता है। शास्त्रों में चित्त नाश की दो विधियां बतायीं—योग और ज्ञान। प्राणायाम द्वारा चित्त के भाव स्पन्दन को रोकना योग है जिसे प्राणायाम कहते हैं। दूसरा ज्ञान है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं आत्मा पर ध्यान के अभ्यास द्वारा चित्त में ज्ञान का प्रकाश उदय होने पर मनोनाश होगा। इसप्रकार मन के आन्तरिक सत्य को पहिचानने पर वासनाएं छिन्न भिन्न हो जाती हैं—पदार्थ भावना दूर होकर अज्ञानता काफूर हो जाती है।

ब्रह्मन् रूपी स्वच्छ जल में यह संसार चक्र प्रतिबिम्बित है—यह सूक्ष्म वासना मय धामों पर आधारित है—अर्थात् मन की सूक्ष्म-सूक्ष्म वासनाएं ही दृश्यमान संसार का आधार हैं। यदि ज्ञान के बल से वासनाओं का विनाश हो जाय तो संसार ब्रह्म रूप में दृष्टि आने लगे। जिसप्रकार सिह कठर्रे (पिंजड़े) में बन्द रहता है, इसीप्रकार आत्मा वासनाओं से जकड़ी हुई बंधी हुई है। ज्ञानोदय होने पर वासनाओं की भ्रांति दूर हो और आत्मा मुक्त हो तब वह अपने साक्षात् रूप में अनुभव होने लगे।

अन्तर्निहित संस्कार विचारों को जन्म देते हैं, विचारों से संसार बनता है। मानसिक वासना क्षय से मन में विचारों का स्फुरण शान्त हो जाता है और फिर ब्रह्म का ज्ञान होने से योगी को ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है—"ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।" अर्थात् साधक अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्मरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है जो मानव जन्म का परम लक्ष्य है।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! बन्धन और मुक्ति मन की वासनाओं से ही होती है—अर्थात् वासनाओं से युक्त मानस बन्धन का कारण है और वासना रहित होना मोक्ष दिलाने वाला। इसलिए मनोनाश द्वारा वासनाओं का त्याग करके आत्मज्ञान प्राप्ति का उपाय करो। आत्मज्ञान के विकसित होने पर अज्ञानता नष्ट होने लगती है। जब ब्रह्म की सर्वव्यापी वायु चलने लगती है तो वासनाओ के अवशिष्ट कण भी बुझ जाते हैं।

वासना से संकल्प बढ़ते हैं और वासना की उपेक्षा से वे विलीन होते हैं—इसीप्रकार व्यक्ति अपने कर्म और साधन के अनुसार मार्ग पर बढ़ता है। अखिल ब्रह्माण्ड संकल्पों से उत्पन्न जादू है।

प्रत्येक आत्मा के द्वारा विभिन्न प्रकार के संसारों का अनुभव किया जाता है जो वासनाओ के कारण मन में उत्पन्न होते हैं। समय और दूरी के संसार में विद्यमान पदार्थों के दृश्य भ्रान्ति हैं, यथार्थ नहीं। ये सब अज्ञानता के पर्दे के कारण मन को विक्षिप्त किए रहते हैं—ज्ञान होने पर आत्मा इन विक्षेपों से मुक्त हो जाएगी

वसिष्ठ जी कहते हैं हे राम अहभाव स उत्पन्न वासना ही जीवात्मा के जन्म-मरण के

चक्र का कारण है—वासना के नष्ट होने पर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। 'दाम, व्याल और कट' के कथानक द्वारा प्रत्यक्ष रूप में यह बिन्दु स्पष्ट हो जाता है। कथानक इस प्रकार है—

पाताल में एक सम्बर नाम का राक्षस था जो जादू की कला में विशारद था। देवता तक उस की जादू की शक्ति से डरते थे। देवताओं से अपनी राक्षसी सेना का नेतृतत्व करने के लिए उसने जादू से तीन राक्षस उत्पन्न कर लिए जिनके नाम थे दाम, व्याल और कट।

इन तीनों के पूर्वजन्म न होने के कारण कोई पाप-पुण्य फल भोगने को थे नहीं, अत वे निर्भय होकर देवताओं से लड़े—उन्हें कोई मार नहीं सका। देवता लोग ब्रह्मा जी से मिले—अनुरोध किया कि उन तीनों को मारने का उपाय बतावें। ब्रह्मा जी बोले—वे अभी नहीं मारे जा सकते, क्योंकि वे अहंवृत्ति और उसके परिणामों से रहित हैं। इनमें वासना और क्रोध आदि भी नहीं होता, अतः वे अजेय हैं। जिनमें अहंभाव वासना आदि हैं, वे बड़े लोग भी समझे जाते हो तो भी सरलता से जीते जा सकते हैं। अन्त मे ब्रह्माजी बोले कि उन तीनो में 'मैं', 'मेरा' आदि देह की भावना पैदा करने का उपाय करो। 'यह कहकर ब्रह्मा जी अदृश्य हो गए। देह की भावना से वासनाएं जागृत होती हैं।

तत्पश्चात देवताओं ने कुछ काल तक विचार के पश्चात् युद्ध आरम्भ किया—उतने समय में तीनों राक्षस नेताओ में अहंभाव जागृत हो गया और अहं के साथ जीवन की सुरक्षा की आवश्यकताएं, खाने पीने और इंद्रिय सुखों की वासना पनपने लगी, जिससे स्वतंत्रता और निर्भयता काफूर हो गई—उन्हें भय लगने लगा कि हम मृत्यु को प्राप्त हो जाएंगे—इस भय से वे तीनों मैदान छोडकर भाग गये। तीनों नेताओं—दाम, व्याल और कट के चले जाने से समस्त राक्षसी सेना तितर बितर हो गई और हजारों की संख्या में राक्षस मारे गए।

सम्बर राक्षस को जब पता चला तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर दाम, व्याल और कट को ढूढने लगा। वे तीनों भयभीत होकर पाताल में चले गए थे। वहां यम ने स्वयं उपस्थित होकर उन्हें नरक मे डाल दिया।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! देखो, और उसके फलस्वरूप वासना होने से किस प्रकार दाम, व्याल और कट राक्षसों की दुर्गति हुई। इसके विपरीत निरहंकार के प्रभाव ने देवताओं तक को चिन्तित कर दिया था।

सम्बर राक्षस की माया से सर्जित होने के कारण दाम, व्याल और कट वासना रहित थे, क्योंकि उनमें पूर्वजन्म के कर्म थे ही नही। मानसिक वासना ही मनुष्य को हराती है—अह से उत्पन्न होने वाली वासना के बिना वह संसार की शक्तियों से अपराजित और अप्रभावित ही रहेंगे। वासना रहित मन में दुख-सुख, जय-पराजय—हर स्थिति में समभाव रहता है—ऐसे मनुष्य शूर वीरों से भी पराजित नहीं हो सकते। परन्तु मन में थोड़ी सी वासना उत्पन्न होने से वे साधारण योद्धा से भी पराजित हो जाते हैं।

'मेरा शरीर है', 'मैं लड़ने वाला हूँ', 'हार जीत मेरी होगी'—इसप्रकार के विचार आत्मा से शरीर की भवभिन्नता को दृढ करने वाले होते हैं—यही दुख का कारण है। मन की इच्छाओं को उन भावों से सहारा मिलता है। ब्रह्मा जी ने इसीलिए देवताओं के राजा इन्द्र को कहा, "हे इन्द्र ! इन तीन राक्षस नेताओं में वासना उत्पन्न करने के उपाय सोचो, तब देवताओं की विजय होगी।" राक्षस अज्ञानी तो थे ही—दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा, कभी जीत, कभी हार—उनमें शनैः शनै अहभाव जागा और उससे वासनाएं उत्पन्न होने लगीं—अन्त में उन्हें वासनाओं की प्रबलता से मैदान छोड़ कर भागना पड़ा।

स्वय चैतन्य शक्ति जन्म से आई हुई अनन्त वासनाओं की तहों से ढकी है—उन तहों की—परतों को खोलने के लिए मन नियन्त्रण रूपी भाप की गर्मी दे कर खोज

रूप (विचारणा) तीक्ष्ण बरछी से खुरचना होगा। फिर चैतन्यता की चक्की में पीस कर विवेकशीलता द्वारा ढकना खुलेगा।

तात्पर्य यह है कि पूर्व वासनाओं को निकालने के लिए घोर प्रयत्न करने होंगे—जो सत्सग, स्वाध्याय, विचारणा तथा विवेकशीलता द्वारा सम्भव हैं। इच्छा-आकांक्षा मन में उत्पन्न होती हैं—अतएव मनोनियन्त्रण से उन्हें उजाड़ा जा सकता है।

वासनाएं अनेक प्रकार की होतीं हैं, जिनमे मुख्य हैं—

. अपराध, कर्म और इच्छा।

प्रथम प्रकार की वासना अपराध संबंधी हैं—'अभिमान के वश होकर गुरु और शास्त्र के उपदेशों की अवहेलना की हो।'

दूसरी है—पूर्व कर्मों से मन विक्षिप्त रहने के कारण चिन्तन में असमर्थ रहना।

तीसरी है—सदा इच्छाओं का शिकार बने रहना—कर्म में संलग्न रहने की धतवा रहे।

अशुद्ध वासनाओं के स्थान पर शुद्ध वासनाएं उत्पन्न करो—तब चित्त की समस्त वासनाओ से ऊपर उठ कर आत्मप्रकाश की अनुभूति होगी,

वासना क्षय से हृदय का विस्तार होता है। ज्ञानी को समस्त ब्रह्माण्ड हाथ पर रक्खे बेर की नाई दृष्टि आता है, फिर वह संसार के पदार्थों से क्योंकर आकृष्ट होगा ? अतः मनुष्य को चाहिए कि वासना के उठते ही उसे ज्ञान रूपी शलाका से नष्ट कर दे। जबतक दुर्वासना रूपी सर्प से बुद्धि मुक्त नहीं होगी, तबतक सुखद वातावरण में रहकर भी मनुष्य के दुख दूर नहीं हो सकते।

वासनाओं के बन्द होने पर प्राण शक्ति शुद्ध हो जाती है और हृदय में दैवी गुणों की सर्जना होने लगती है। पर अज्ञानी के मन में वासना रूपी नदी प्रवाहित होती है। जिसप्रकार पशु रोटी के टुकड़े की इच्छा से अन्ध कूप में गिर जाता है, उसीप्रकार मनुष्य वासना का शिकार बनकर नरक मे गिरता है।

फिर भी इच्छा से प्रेरित होकर ही पृथ्वी पर सूर्य प्रकाशवान होता है, वायु चलती है, पर्वत खडे हैं, पृथ्वी सारे जीवों का भार वहन करती है। तीनों लोको का अस्तित्व इच्छा के बल पर ही है। तीनों लोकों में जीवात्माएं इच्छा आकांक्षा रूपी रस्सी से बंधी हुई हैं। अत्यन्त दृढ़ रस्सी को काटने की अपेक्षा इस भावना रूपी रस्सी को काटना कठिन है।

ज्ञानी के हृदय में स्वाभाविक रूप में इच्छा उत्पन्न होती है—उसमें स्वार्थ भाव नही होता—पदार्थों के सम्पर्क से जो उन्हें प्राप्त करने की तमन्ना होती है, वह बन्धन में डालने वाली होती है, किन्तु जब हृदय में अहंभाव पर आधारित विचार नष्ट हो जाते हैं, तब शुद्ध सात्विक इच्छाए स्वाभाविक रूप में हृदय में उठती हैं। वे बन्धन का कारण नहीं बनतीं।

मानव हृदय में चार प्रकार के भाव उठते हैं—1. मैं माता पिता से उत्पन्न देह हूँ। 2 मैं सूक्ष्म अणु मात्र सत्ता हूँ—देह से भिन्न। 3. संसार के सारे नश्वर पदार्थों से भिन्न मैं शाश्वत सत्ता हूं। और 4. मै और संसार भी दूरी की भांति शून्य शुद्ध सत्ता हैं। इनमें प्रथम प्रकाश के भाव से पदार्थों के प्रति आशा-आकांक्षाएं उत्पन्न होती हैं जो बन्धन का कारण हैं। अंतिम तीन भावो से निरहंकारिता के कारण हृदय में शुद्ध सात्विक इच्छाएं ही उत्पन्न होती हैं जो बन्धन का कारण नही बनतीं।

यह सोचना कि मैं देह हूँ मन की उत्पत्ति का कारण बनकर संसार की सर्जना करता है जो दुखों का कारण बनता है। इसके विपरीत पदार्थ दृष्टि हटा कर आत्मदृष्टि बने कि "मैं आत्मा हूँ, यह, वह, तुम, सब आत्मा हैं—अन्य कुछ नहीं।" इससे मन नहीं रहता और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस सत्य के प्रकाश में कि "यह समस्त ब्रह्माण्ड आत्मा ही है" चित्त नहीं ठहरता। जब तक मन रूपी सर्प शरीर में रहता है तब तक भय रहता है [illegible] भ्यास एव ज्ञान की उत्पत्ति

स मन नष्ट हो जाता ह तो भय का कोई कारण नही मन के नष्ट होने पर वासना की उत्पत्ति के लिए स्थान नहीं। क्योंकि मन से वासना की उत्पत्ति होती है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—ज्ञानियों की कामना रूपी अग्नि के द्वारा ज्ञान आवृत है ढका हुआ है—यह ज्ञानियों का परम शत्रु है।[1]

आगे कहते हैं—इंद्रिय मन बुद्धि इस काम के अधिष्ठान हैं। ज्ञान को ढक कर इनके द्वारा शरीर धारी को विमोहित करता है।[2]

इसलिए तू प्रारम्भ में ही ज्ञान विज्ञान को नष्ट करने वाले इस महान पापी काम को वश मे कर ले।[3]

मन और वासना एक दूसरे के सहयोगी हैं। जहां मन है, वहीं वासना और पदार्थ भावना इकट्ठे होने लगते हैं। यही संसार चक्र का कारण है—अतः वासना क्षय के लिए मनोनाश नितान्त आवश्यक है—मनोनाश के लिए विचारों पर नियंत्रण अपेक्षित है—भूत और भविष्य के विचारों मे न भटकने देकर वर्तमान में आत्म विचार पर मन को केन्द्रित रखना अत्यन्त प्रभावशाली उपाय है जिससे वासना उत्पन्न नहीं होने पाएगी—यह नियन्त्रण सत्संग स्वाध्याय और विचारणा के अभ्यास से प्राप्त होगा। चलते-फिरते, उठते-बैठते हर अवस्था में यह चिन्तन रहे कि 'मैं शरीर नही, आत्मा हूं' इस चिन्तन से मनः विक्षेप समाप्त होकर शान्ति का राज्य स्थापित होगा।

अतः वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! वासना ही जीवात्मा के जन्ममरण के चक्र में घुमाती है—वासना के नष्ट होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। वासनाओं एवं आशा-प्रत्याशाओं का मन से निष्करण होने पर मन अपनी प्रकृति-शान्ति को प्राप्त हो जाता है। जब मन स्पन्दन रहित हो जाता है तो मन नहीं रहता और यही मोक्ष है।

विवेक, वैराग्य, आत्मचिन्तन, विचारणा तथा इन्द्रिय संयम का अभ्यास एवं त्याग द्वारा वासना का क्षय हो सकता है। जब अज्ञान सहित वासना नष्ट होती है तब चिदानन्द भासता है। वासना रूपी रस्सी के कटने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

इसलिए हे राम ! विवेक रूपी आंधी को जागृत करके वासनाओं के बादल भगा दो। तब शरदऋतु के आकाश की भांति हृदय-स्वच्छ होने पर तुम अपनी यथार्थ प्रकृति को प्राप्त हो सकोगे। आध्यात्मिक विचारणा के जादू से सूक्ष्म वासनाओं के सागर को शुष्क करके अपनी आत्मा को ससार चक्र मे डूबने से बचाओ। जिस प्रकार सूर्योदय से बादल तितर बितर हो कर विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वासना क्षय से हृदय में ज्ञानोदय होकर अज्ञानता का अंधकार नष्ट हो जाता है और साथ ही मानस में प्रज्ञा दृष्टि एवं सत्य का प्रकाश जागृत हो जाता है।

2. आत्म ज्ञानी पुरुष के लक्षण

चित्तस्वरूप आत्मा अजन्मा और अमर है, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी है। जो यह जान लेता है कि शरीर चिदात्मा में उसी तरह स्थित है, जैसे तरंग समुद्र में, वह ज्ञानी है और वह आसक्ति एव भ्रम से रहित होकर संसार में विचरता है—अपने सारे कर्तव्यों का पालन करते हुए वह दुख-सुख

---

1. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
   कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
   —अध्याय 3. 39
2. इद्रियाणि मनोबुद्धि रस्याधिष्ठानमुच्यते।
   एतैर्विमोहयत्येव ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ 40
3. नियम्य भरतर्षभ
   पाप्मानं प्रजहि एन ज्ञानविज्ञान नाशनम् 4

राग-द्वेष आदि अनुभव नहीं करता। वह ज्ञानी जो भी कुछ प्राप्त होता है, उसी में आनन्दित रहता है—आशा, अपेक्षा और वांछाओं से रहित है। ऋषि आत्मज्ञानी ऋषि का संसार मे विचरना आकाश मे उड़ने वाले पक्षियों की भांति अथवा जल में तैरने वाली मछलियों जैसा होता है, उनका मार्ग कोई नहीं जानता।

महाभारत में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मपितामह ने कर्मफल पर प्रकाश डालते हुए बताया कि जब बुद्धि वासना, क्रोध एवं अन्य दोषों से लिप्त होती है, तब मनुष्य पाप कर्मों में प्रवृत्त होता हे, जिसके फलस्वरूप कष्ट सहने पड़ते हैं। तप के अभ्यास से चित्त की पूर्णतया शुद्धि होने पर हृदय में ज्ञान जागृत होता है, अर्थात् आत्मा का प्रकाश होता है। तब वह इंद्रिय संयम तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति' से सम्पन्न होता हुआ शुभकर्मों मे प्रवृत्त होकर उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है और उसे उच्च लोकों की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी पुरुष को करुणा, विनय आदि गुण उत्पन्न नहीं करने पड़ते—पुष्प में सुगन्धि की भाति दैवी गुण सम्पत्ति स्वतः उसके हृदय से प्रस्फुटित होती है। जिसप्रकार आकाश में अनाज की खेती नही हो सकती, उसीप्रकार ज्ञानी के निर्मल आकाश तुल्य हृदय में क्रोध, घृणा, ईर्ष्या एवं अन्य दोषो की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी का मन शुद्ध सत्व होता है—राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि विकारो से रहित।

ज्ञानी की भावना यह होती है कि भगवान ने जो ज्ञान, बुद्धि और भोग (प्राकृतिक पदार्थ शरीर पालन के लिए अथवा इंद्रिय गण आदि) दिए हैं, उनका समुचित उपयोग करें—विवेकशीलता से निष्काम कर्म करना ही ईश्वर प्रदत्त साधनों का उपयोग हैं। उपयोग न करना भी कृतघ्नता है—कुएं में जल है, पृथ्वी में अन्न है—श्रम के बिना अन्न जल प्राप्त नहीं होगा। अतएव निष्क्रिय होकर बैठना ज्ञानी को स्वीकार नहीं।

जो होना है, वह तो होगा ही, इस ज्ञान से विश्वस्त, पुरुष किसी विपत्ति में ग्रस्त हुआ दुख अनुभव नहीं करता। महापुरुषों के जीवन में भी सदा से संकट की घड़ियों में बुद्धि, बल एवं प्राण शक्ति तेज से प्रभावित होती रही है—परन्तु ज्ञानी उन परिस्थितियों से विचलित नहीं होता—सब कुछ भगवान की माया रूप में देखता हुआ आत्मा में स्थित रहता है, क्योंकि वह समझता है—उसे विश्वास है कि यह सब कुछ मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है—केवल ब्रह्म ही सृष्टि रूप में प्रकाशमान है। जीव, कर्म, जन्म आदि सब रूपों में ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। जिसप्रकार अलावर्त (whirlpool) मे जल के अतिरिक्त कुछ होता नहीं, वैसे ही दृश्य जगत के अनन्त पदार्थों और जीवों में ब्रह्म ही ब्रह्म है, प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है।

जब तक यह सत्य पहिचाना नहीं जाता है, अनुभव में नहीं आता है, तब तक अज्ञानता उत्पन्न होती है—अनेक प्रकार के भाव—दुख-सुख, राग-द्वेष, लोभ, मोह, घृणा-ईर्ष्या आदि सताते रहते है, और सत्य का ज्ञान होने पर सत्य का ज्ञाता कहता है—'ये सब कुछ मैं ही हूँ—ब्रह्मरूप।' वह अपने सत्य स्वरूप को पहिचान कर सब में आत्म स्वरूप को देखता हुआ समता का व्यवहार करता है—द्वैतभाव के नष्ट होने पर राग-द्वेष, घृणा-ईर्ष्या का क्या काम।

जिसप्रकार कोई सम्बन्धी दीर्घकाल बाद आवे, जबतक उसे न पहिचानें, तबतक वह अतिथि प्रतीत होता है—पहिचानने पर अपनापन उत्पन्न हो जाता है। इसीप्रकार सत्य के ज्ञान बिना अज्ञानी पुरुष ब्रह्म को न पहिचान कर विविध रूपीय जगत देखता है—उसकी दृष्टि में द्वैतभाव छाया रहता है—जब शास्त्राध्ययन, सत्संग एवं गुरु के मार्ग दर्शन में ध्यान-विचार आदि साधना में संलग्न होकर सत्य का दर्शन कर लेता है—आत्मस्वरूप को पहिचान लेता है. तब 'सर्व खलु ब्रह्मयं' जगत दृष्टि आने लगता है मैं मेरा तुम वह का भाव नष्ट हो कर सभी प्रतीत होते हैं और अनभव करता है—जो कुछ भी दृष्टि आता है सब ब्रह्म है मैं ब्रह्म ह. मैं सब कुछ ह—यही सत्य

है दुख से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं मैं ही शरीर मन और बुद्धि हूँ मैं ही सूर्य चन्द्रमा और ब्रह्म से चींटी तक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मैं ही हूँ—मैं चितशक्ति हूँ, जिसमें ये सब कुछ स्थित है और जिसकी शक्ति से सारे प्राणी समस्त कर्मों में संलग्न होते हैं। मैं सब का सार हूँ—यही सत्य है।

भगवान राम के वैराग्यमय हृदयोद्‌गार सुनकर ऋषि विश्वामित्र ने कहा है, "परमोच्च ज्ञानी के सर्वोपरि लक्षण ये हैं कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियां भी उसमें नष्ट हो चुकी हैं—किंचित इंद्रिय भोग आकर्षित न करे और नाम, प्रसिद्धि अथवा अन्य आकर्षण उसे विचलित न करें।"

ज्ञानी प्रवाहपतित कार्यों को करता हुआ सदैव शान्तचित्त रहता है, सफलता असफलता आशा—निराशा आदि द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना सारी परिस्थितियों का द्रष्टा मात्र बनकर महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बना रहता है। दुख अथवा सुख उत्पन्न करने वाली घटनाओं का उसके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुख-दुख का भेद वासना के कारण प्रतीत होता है, सृष्टि यह विभाजन नहीं है। मैं—मेरा, सुखद-दुखद आदि भावनाएं ज्ञानी को नहीं रहतीं।

ज्ञानवान अपने आप से प्रकाशता है—वह जानता है कि मैं सर्वात्मा, सर्वगत, सर्वाकार, केवल चिदानन्द आत्मा हूँ और सदा अपने आप में स्थित हूँ। ऐसा जानकर वह राग-द्वेष से रहित हुआ परम शान्ति को प्राप्त होता है। वह सब को पवित्र करने वाला होता है, परम पद को प्राप्त हुआ जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त।

जिसप्रकार आकाश की नीलिमा का अनुभव करते हुए भी निलिमा रहित गगन व्यापी विस्तार दृष्टि में रहता है, क्योंकि आकाश की नीलिमा तो प्रकट रूप है—यथार्थ नहीं। इसीप्रकार समय—दूरी की दुनिया में रहते और विचरते हुए भी ज्ञानीपुरुष आत्मा के दिव्यभाव में आनंदित रहता है।

ज्ञानी सूर्य के समान है—यह धर्म रूपी सूर्य कर्म और ज्ञान रूपी कमल को विकसित करता है। सारे जीवों में यह प्रकाश अन्तर्निहित है, किन्तु अज्ञानतावश सामान्य जन बाहिर वृत्तियों में रमण करने के कारण उस अन्तर्ज्योति से निरपेक्ष रहते हैं। निष्काम कर्म ही ज्ञानी का अपना मित्र है—उसका सद्‌विचार उससे दान, तप, यज्ञादिक कर्म करवाता है, जो उसे भोगरूपी अंधकूप में गिरने नहीं देता। वह स्वयं भी शुभ आचरण—निष्काम कर्म करता है, औरों से भी करवाता है।

उसकी वाणी कोमल, मधुर और स्निग्ध होती है—वह अपनी वाणी से सब को प्रसन्न रखता है और वाणी का दुरुपयोग नहीं होने देता क्योंकि वह अहंकार से प्रेरित होकर नहीं बोलता, ज्ञानीपुरुष क्षोभ रहित होकर लोगों का उपकार करता है—वह सौहार्द शान्ति और परमार्थ का कारण है।

जब अन्तःकरण में विवेक रूपी मंत्री आता है तो अपने परिवार—स्नान, ध्यान, दान और तप[1] –चारों बेटों को साथ लाता है। विवेक रूपी मंत्री की स्त्री है मुदिता—उसके साथ करुणा नामक सहेली रहती है और ममता रूपी द्वारपालिका सदा सम्मुख खड़ी रहती है।

धैर्य, धर्म, सावधानी आदि गुण उसमें स्वाभाविक रूप से रहते हैं—जैसे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में प्रकाश व शीतलता।

आत्मज्ञानी पुरुष का स्वरूप समझाने के लिए मुनि वसिष्ठ ने सुरघ-परघ मित्रों का कथानक सुनाया है—

कैलाशपर्वत की घाटी में कोई पहाड़ी बस्ती का राजा—सुरघ राज्य करता था। वह एक न्यायप्रिय शासक था। योग्यजनों को पुरस्कृत और अपराधियों को दण्ड देते देते उसके मन में आध्यात्मिक जागरण होने पर चिन्तन में पड़ गया कि यह भेद-भाव है।

उसने एक दिन माण्डव्य-ऋषि को अपनी चिन्ता निवेदन करके समदृष्टि उत्पन्न करने का उपाय पूछा। उन्होंनें कहा कि आत्मज्ञान में स्थित होकर किए प्रयत्नों से संसार में मानसिक दुर्बलताए

[1] तप का लक्ष्य है बहिरमुखी वृत्तियों को अन्तरमुखी करना एवं चित्त को आत्मा में स्थित करना

दूर की जा सकती हैं। आत्मज्ञान होता है सारे विचारों, आकांक्षाओं का त्याग करने से।

माण्डल्य मुनि के चले जाने पर राजा सुरघ विचार सागर में डूब गया। सोचने लगा—मैं क्या हूँ, यह, यह पहाड़ी जाति की नगरी क्या है, आदि-आदि। इस प्रकार चिन्तन करके उसे ज्ञान हो गया कि मैं केवल शुद्ध चैतन्य हूँ और फिर दुख सुख, लाभ हानि हर स्थिति में शान्त रहते हुए चिरकाल तक राज-काज सम्हालता रहा।

उसका मित्र परघ फारस में राज्य करता था। उसके राज्य में एक बार भयंकर दुरभिक्ष पडा। लोगों को भूख से पीड़ित देखकर वह अत्यन्त दुखी था—एक दिन बिना किसी को खबर किए वह भेष बदल कर जंगल में तपस्या करने चला गया और केवल पत्तों पर रहने लगा। हजारों वर्ष तपस्या के बाद उसे आत्मज्ञान हुआ—तब वह स्वतन्त्रतापूर्वक तीनों लोको में विचरने लगा।

एक दिन वह अपने पुराने मित्र राजा सुरघ से मिला। दोनों आत्मज्ञानी मित्रों ने एक दूसरे का अभिनन्दन किया—फिर परस्पर वार्तालाप करके इस परिणाम पर पहुँचे कि आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी क्षण भर के लिए भी समाधि से विलग नहीं होता—सारे कामों में संलग्न रहते हुए भी वह आत्मस्थित रहता है—ज्ञानी में समाधि स्थायी रूप धारण कर लेती है, क्योंकि वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ देखता ही नहीं, सब कुछ आत्मरूप ही दृष्टि आता है। सुरघ बोला—आत्मज्ञान की अग्नि सारी आशाओं और आकांक्षाओं को सूखी घास के समान भस्म कर देती है।

समाधि शब्द का भी यही अर्थ है—परघ सन्त ने भी स्वीकार किया कि "तुम सत्य कहते हो, तुम शान्ति और आनन्द की ज्योति से प्रदीप्त हो रहे हो, तुममें कोई इच्छा, आकांक्षा अथवा अहभाव नहीं है।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, तत्पश्चात् सुरघ और परघ दोनों आत्मज्ञानी अपने अपने कामों में लग गए। हे राम ! तुम भी अहंभाव को त्याग कर आत्मस्थित हो जाओ—फिर कार्यरत होकर भी तुम अनासक्त रहोगे, उससे लिप्त नहीं होओगे।

आत्मिक अनासक्ति के कारण ज्ञानी संसार में निर्भय होकर भ्रमण करता है। आत्मानन्द मे डूबे हुए मन में विक्षेप नहीं होता, न अहं की वासनाएं उत्पन्न होती हैं। आत्मज्ञानी संत के सामने देवताओं के राजा का स्तर भी सारहीन तिनके के समान है।

जिस प्रकार अंधकार में जो.रस्सी सर्प रूप दीख रही थी, प्रकाश लाने पर रस्सी रूप प्रकाशमान हो जाती है, उसीप्रकार आत्मज्ञान उदय होने पर मिथ्या जगत के अस्तित्व का विचार लुप्त होकर, "ब्रह्म ही केवल सत्य है", यह भाव जागृत हो जाता है।

आत्मज्ञानी पुरुष की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं—समस्त विश्व ही वह ब्रह्मरूप देखता है तो त्याग किस का करेगा; त्यागने के लिए कुछ है ही नहीं। अज्ञानी मनुष्य विश्व के सारे पदार्थों को द्वैत रूप में देखने के कारण कह सकता है कि मैं संसार त्याग रहा हूँ—मैं विरक्त हो गया, आदि आदि। ज्ञान हो जाने पर द्वैत दृष्टि समाप्त होकर सब कुछ ब्रह्म ही दृष्टि आता है और स्वयं भी ब्रह्म का ही रूप है, फिर क्या त्यागे और क्या नहीं।

अज्ञानी समझता है कि सारे कष्ट शरीर से संबंधित हैं। अतएव मृत्यु द्वारा शरीर का अन्त होने पर कष्ट समाप्त हो जाएगा—परन्तु यह विचार भ्रान्ति मात्र है—कष्ट व पीड़ा तो तब समाप्त होगी जब प्रज्ञादृष्टि द्वारा आत्मा का ज्ञान होगा—आत्मा पर शरीर का अध्यास समाप्त होने पर दुखो का अन्त होगा।

आत्मज्ञानी शरीर को नहीं देखता सर्वत्र आत्मा को ही देखता है। इसी प्रकार वह सम्पत्ति विपत्ति को भी मन का प्रेक्षण मानता है। बुद्धि का अनुभव क्षुद्र का अनुभव है—जो संसार तक सीमित है—चेतना का अनुभव विराट का अनुभव है—ज्ञानी पुरुष क्षुद्र से ऊपर उठकर विराट को समग्र को—एक साथ समष्टि रूप में देखता है। ऐसे समग्र द्रष्टा आत्मज्ञानी को न तृष्णा रहती है

न विरक्ति। उसकी दृष्टि शून्य हो जाती है। शून्य दृष्टि में ही पूर्ण का आभास छिपा है। ऐसा ज्ञानी चेष्टा रहित हो जाता है।

"मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ, यह जगत भी ब्रह्म स्वरूप है।" ऐसी पहिचान होने से 'मैं देह रूप हूँ' यह भ्रान्ति दूर होकर ज्ञानी को यह अनुभव होता है कि दुःख-सुख की अनुभूति अज्ञानवस्था के कारण थी। शरीर इंद्रियों की हर क्रिया से ब्रह्म ज्ञानी अपने को अलग रखता है, वह संसार में लिप्त नहीं रहता—और जो लिप्त है, उसे ज्ञान हो नहीं सकता। अष्टावक्र गीता में भी यही भाव है ज्ञानी हर स्थिति में दृष्टा मात्र बनकर आत्म समर्पण भाव से रहता है, यथा प्राप्य में प्रसन्न, कर्तव्य कर्मों को करता हुआ वह ससार के प्रति साक्षीभाव रखता है। चिन्ता एवं वासनाओं से मुक्त हो जाता है।

आत्मज्ञानी पुरुष के लक्षण हैं—

वासना रहित होना, निर्भयता, प्रत्येक अवस्था में मानसिक संतुलन, निष्क्रिय अवस्था में अवस्थिति, प्रज्ञा, ज्ञान, क़ोमलता, मानसिक विक्षेप का अभाव, सबके प्रति मैत्रीभाव, धैर्य, सन्तोष, वाणी का माधुर्य एवं चिन्तनशीलता।

जब ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, तब भिन्न अहकार कहा रहेगा, और अहंकार का अभाव होते ही राग द्वेष, ममता, मोह, मेरा-तेरा आदि सारे मिथ्या विकार समाप्त हो जाते हैं, जैसे स्वप्न से जागते ही स्वप्न का संसार सर्वथा मिट जाता है। इस ज्ञान को प्राप्त हुआ पुरुष जगत में रहता हुआ भी नित्य निरंतर ब्रह्म में ही स्थित रहता है। वह जगत की क्षण भंगुर अवस्था को अपनी प्रशान्त ब्राह्मी स्थिति के भीतर हंसता हुआ देखता है। उसके लिए न कुछ पाना शेष रह जाता है, न करना। वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा स्वरूप ही बन जाता है।

मानव बुद्धि में समझ आने वाले ऊंच नीच भेद तथा भावना में अनुभूत होने वाले राग-द्वेष सुख-दुख, सर्दी-गर्मी आदि विरोधी भाव हमारे मन की सीमितता के कारण मन की शक्ति को विक्षिप्त किए रहते हैं—मनोनाश, इंद्रिय संयम द्वारा चित्तशुद्धि होने पर शास्त्राध्ययन, जप-ध्यान और पुरुषार्थ और गुरुकृपा के बल से प्राप्त ज्ञान से प्रदीप्त मानस में जब स्पष्टतः ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है—प्रज्ञादृष्टि जागृत हो जाती है, फिर वह क्यों कर नाशवान सृष्टि को, नाम रूपों को देखेगा—उसे तो सर्वत्र सारवस्तु ब्रह्म की शक्ति का ही दर्शन होता है।

यही भाव जीवनमुक्त सन्तों की प्रत्यक्ष अनुभूति से झलकता है—जो परम ज्ञानी श्री वसिष्ठ जी ने राजा जनक, प्रहलाद, दैत्यराज बलि, गाधि एवं कई अन्य ज्ञान प्राप्त मुनियों की जीवनगाथा वर्णन करके नर रूपधारी भगवान राम को समझाया है।

राम के निमित्त से हम सामान्य संसारीजनो के लिए भी जो अपने मार्ग से विचलित हुए विषयोपभोगों में तथा दृश्य संसार के प्रपंचों में जीवन नष्ट कर रहे हैं, चेतावनी एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है।

3. जीवन-मुक्त

शरीर में रहते हुए ही जब ज्ञान होने पर मुनष्य शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर देता है अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा में ही रमण करता है, वह जीवन-मुक्त कहलाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जीवन के सारे कर्तव्यों का यथावत् पालन करता हुआ भी कमल पत्रमिव संसार से अलग रहता है—सांसारिक इन्द्रिय सुखों में लिप्त नहीं होता—जीवन की दुख-सुख की विभिन्न परिस्थितियों को दृष्टा बनकर देखता है।

ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि मानव मन में एक के बाद दूसरी इच्छाए वासनाए उत्पन्न होती

रहती है—मन में इच्छाआ का होना बन्धन है और विचारणा द्वारा चिन्तन करके उनसे ऊपर उट जाना अर्थात् हृदय में वासनाओं का न रहना मुक्ति है। इच्छाओं के वश में हुए पुरुष को ससार दृश्यरूप दृष्टि आता है और वह विभिन्न परिस्थितियों में उलझा हुआ दुख-सुखों से संघर्ष करता रहता है—आत्मज्ञानी की दृष्टि में संसार रहता ही नहीं, उसके लिए जगत ब्रह्मरूप बन जाता है। परमात्मानुभूति के फलस्वरूप वह उदासीन की नाई सब कार्य करता है—मानों संसार की ओर से सो रहा है और आत्मा की ओर जागृत है—हृदय से सब का त्याग किया है—बाहर से सब कार्य करता है। वह अपना ही बादशाह बन जाता है, उसे परमात्मानुभूति हो जाती है। उसका वर्णन नही किया जा सकता, न चिन्तन किया जा सकता है, न ही उसे समझा जा सकता है। उसे स्वय को समय, दूरी और कारण से परे—पूर्ण स्वतन्त्रता है—कोई बन्धन नहीं।

वह तीन शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण—से भिन्न है। तीन अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न सुषुप्ति से ऊपर उठा हुआ है।

पंचकोषों से स्वतन्त्र है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय।

वह सभी में आत्मा है—हिरण्यगर्भ सर्वात्म पुरुष से स्वतन्त्र अणुओं तक में वह सत्-चिद्-आनन्द रूप है—पूर्णज्ञान से आलोकित एवं मिथ्या बन्धन से मुक्त जीवन-मुक्त पुरुष अनुभव करता है कि वह सदा से परमसत्ता रहा है तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी वही सत्ता है, अन्य कुछ है ही नहीं।

समाधि द्वारा शुद्ध हुए मन के आत्मा में स्थित होने पर जो सुख अनुभव होता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह सुख अन्तःकरण से ही ग्रहण करने योग्य है।

विद्यारण्य जी ने पंचदशी में ऐसे निर्मुक्त योगी के सुख की उपमा बोझा ढोने वाले श्रमिक (मजदूर) से दी है—

भारवाही शिरो भारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः।
संसार व्याप्तति त्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥125 वां पद
विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासान्ये यथा तथा।
सुख दुःख दशायां च तदानन्दैक तत्परः ॥126 वां पद

अर्थात् जैसे भारवाही शिर से बोझा उतार कर विश्राम पाता है, वैसे ही जीवन्मुक्त योगी ससार के भार से मुक्त होकर विश्राम का अनुभव करता हुआ अपने मानस को ब्रह्मानन्द में स्थिर कर लेता है—दुख-सुख किसी भी स्थिति में हो, आनन्द में मग्न रहता है।

ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अपने चित्त की आनन्दमयी स्थिति का वर्णन करते हुए विद्यारण्य ज कहते हैं—

धन्योऽ हं धन्योऽहम् नित्यं स्वात्मानमनञ्जसा वेद्मि वेद्मि।
धन्योऽ हं धन्योऽहम् ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥
धन्योऽहं धन्योऽहम् दुखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहम् स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥
धन्योऽहं धन्योऽहम् कर्तव्यों मे न विद्यते क्वचित्।
धन्योऽहं धन्योऽहम् प्राप्तव्यं सर्वं सम्पन्नमद्य॥ पंचदशी अध्याय 7-292-294

अर्थात् ज्ञान प्राप्ति पर मनस्तृप्ति का वर्णन करते हुए विद्यारण्य ऋषि कहते हैं—अपनी ही आत्म मे स्थित हुए मुझे ब्रह्मानन्द ही स्पस्ट भास रहा है, सांसारिक दुख दृष्टि ही नहीं आता। मेरा अज्ञा तो भाग गया। मेरा कोई कर्तव्य मानो रहा ही नहीं—आज प्राप्त होने योग्य मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया। सुख ही सुख की वर्षा हो रही है। आदि, गुरु और शास्त्र के प्रति आभार प्रकट कर हैं जिनकी कृपा से यह स्थिति प्राप्त हुई।

इसी प्रकार में राजा जनक के उद्‌गारों का वर्णन है में विचरण कर

हुए उन्हें जो सिद्धों के ज्ञानपरक वचन सुनाई पड़े—तत्पश्चात् वैराग्य उत्पत्ति होने पर चिन्तनशीलता के फलस्वरूप उनके हृदय में ज्ञानोदय हुआ—तब 6 पदों में अपनी अनुभूति को प्रकट किया है।[1]

क्व धर्मः क्व च कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्व चाद्वैतं, स्व महिम्नि स्थितस्य मे॥ 1॥
क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यम् स्व महिम्निस्थितस्य मे॥ 2॥
क्व चात्मा क्व च वा नात्मा, क्व शुभं क्वा शुभ तथा।
क्व चिन्ता क्व चवाचिन्ता, स्व महिम्नि स्थितस्य मे॥ 3॥
क्वस्वप्नः क्व सुषुप्ति वा, क्व जागृत तथा।
क्व तुर्या भयं मयि वापि, स्व महिम्नि स्थितस्य मे॥ 4॥
क्व दूरं कव समीपं वा, बाह्यं क्व वाह्यान्तरं क्व वा।
क्व स्थूल क्व च सूक्ष्म, स्व महिम्नि स्थितस्य मे॥ 5॥
क्व मृत्यु जीवितं वा क्व, लोकः क्वास्य क्वालो किकम्।
क्व लयं क्व समाधिः वा, स्व महिम्नि स्थितस्य मे॥ 6॥

अर्थात्—मेरे अपनी महिमा में स्थित होने के लिए किन्हीं भी विरोधी स्थितियों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—धर्म, अर्थ, काम, विवेक मेरे लिए कुछ नहीं। द्वैत, अद्वैत, भूत, भविष्य व वर्तमान मे भी मेरे लिए कोई भेद नहीं। देश-विदेश, नित्य शुभ-अशुभ सब समान हैं। न चिन्ता न अचिन्ता कहा आत्मा-अनात्मा, क्या स्वप्न क्या निद्रा व जागृति। बाहर, भीतर, समीप, मृत्यु-जीवन, लोक-अलोक, स्थूल-सूक्ष्म सारी स्थितिए मेरे लिए समान हैं। मुझ आत्म स्थित के लिए लय समाधि अथवा तुर्यावस्था भी कुछ नहीं है।

इस प्रकार जीवनमुक्त राजा जनक ने अपने मानस की अवर्णनीय आनन्दमय दशा प्रकट की है।[2]

आनन्दमयी अमर आत्मा में शान्तिपूर्वक स्थित योगी के लिए कहां देह कहां लोक-परलोक और कहां सुख-दुख। उसे तो सर्वत्र ब्रह्म ही दृष्टिगत होता है। न वह काम कर के लाभान्वित होता है, न सो कर खोता है। जय-पराजय, लाभ-हानि, उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखते, क्योंकि वह किसी अवस्था में बह्यिक चेतना रहित नहीं होता।

विवेक चूड़ामणि में आदि शंकराचार्य ने जीवन मुक्त ज्ञानीपुरुष के लक्षण बताए हैं—

अतीताप्तनुसंधानं भविष्यादविचारणम्।
ओदासीन्यपि प्राप्तं जीवनमुक्तस्य लक्षणम्॥
शान्त संसार कर्लनः कलावानपि निष्कला।
यस्य चित्त विनिश्चिन्नं स जीवन्मुक्तः॥[3]

स्वरूपबोध उपनिषद में जीवनमुक्त पुरुष का इस प्रकार चित्रण हुआ है—

"गम्भीरं निद्राणोऽप्यनिद्रः स्वपायमनोऽप्यस्वप्नः।

---

1. राजा जनक के ज्ञान में स्थित होने का पूर्ण विवरण उपशम प्रकरण मे दिया हुआ है।
2. सुप्रीम नौलेज—ब्रह्म विद्यागुरु स्वामी ब्रह्मानन्द—आभार सहित
3. अर्थ भूत काल की खोज से और भविष्य काल के विचारों से उदासीन रहना जीवन मुक्त का लक्षण है। **संसार की हलचल में भी शान्त रहे और होते हुए भी जिस का चित पूर्ण रूपेण शान्त हो गया है वह जीवन मुक्त है**

प्रबुद्धः स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन् अनिर्वचनीया वस्थो जीवन्मुक्त ॥"

अर्थात्—जीवन-मुक्त गाढ़ निद्रा में सोता हुआ भी सोता नहीं, स्वप्न देखता हुआ भी नही देखता, जागता हुआ भी यथार्थ में नहीं जागता। वह सदैव अपने स्वरूप में स्थित विश्राम करता है—उसकी अवस्था अवर्णनीय है।

आत्मचैतन्य के अन्तःकरण मे प्रतिबिम्बित होने पर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाए प्राप्त होती हैं।[1] ज्ञानी इस तत्व को समझता है, अतः वह अपनी आत्मस्थिति की आनन्दमयी महिमा से विचलित नहीं होता।

1."स्वे महिम्नि शाश्वत स्थितिजुषो युक्तस्य मुनेः
क्वस्तः सन्निकर्ष विप्रकर्षो बाह्याभ्यन्तरो जन्मसृतो
काल देशो शुभाशुभे सुख दुःखे महदल्पी" उच्च नीचौच्व ॥2

अर्थात्—अपनी महिमा में स्थित मुनि के लिए समय, दूरी—भीतर-बाहर, ऊंच-नीच, छोटा-बडा अथवा शुभ-अशुभ आदि भेद कोई अर्थ नहीं रखते।

इसीप्रकार का वर्णन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के द्वितीय अध्याय में स्थित प्रज्ञ लक्षण में आया है—

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने॥" अ० 2-69

अर्थात्—जो समस्त प्राणियों के लिए रात्रि है, उसमें संयमी साधु जागता है, क्योंकि वह अपनी आत्मा के प्रकाश में स्थित है।

संसारी जन अज्ञानांधकार में डूबे हुए दिन में संसार को सत्य मानते हुए अनेक प्रपंचो में रत रहते हैं, किन्तु संयमी मुनि संसार के मिथ्यापन को जानता हुआ उसकी हलचल में भाग न लेकर आत्मानन्द में मग्न हुआ ब्रह्मानन्द सुख अनुभव करता है। आत्मज्ञानी पुरुष यथार्थ सत्य को—प्रकाशो के प्रकाश को पहिचानता है। अतएव वह आत्मज्ञान से आलोकित रहता है, उसे रात्रि के समय भौतिक अन्धकार का अनुभव नहीं होता एवं दिन के समय संसार की चहल-पहल का—वह निरन्तर अपनी आत्मा के प्रकाश में स्थित है।

एक तामिल (भारतीय) जीवन्मुक्त ज्ञानी सन्त ने अपनी ईश्वरीय अनुभूति अर्थात् सहज समाधि अवस्था का रोमांचकारी मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। यद्यपि उस अवर्णनीय अनुभूति का यथातथ्य वर्णन सम्भव नहीं, फिर भी उस ज्ञानीपुरुष ने अपनी प्रज्ञाशक्ति के बल से अपनी रोमांचकारी दिव्य अनुभूति की एक झलक अपनी पुस्तक 'कान्दर अनुभूति' के अन्तिम पद में प्रस्तुत की है।

शास्त्रों में ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का विश्लेषण 'नेति नेति' शब्दों से किया जाता है—जीवनमुक्त पुरुष की अनुभूति इसके विपरीत है—वह ब्रह्म को ही सब कुछ मानता है—ब्रह्म के अतिरिक्त उसे कुछ दृष्टि ही नहीं आता—अतएव उसके सारे कृत्य और जगत के व्यवहार ब्रह्मरूप ही होते हैं—पूर्णरूपेण समता का तो वह स्वरूप है ही—अतः तामिल सन्त अरुणगिरि नायर लिखते हैं—

रूप सहित हो या बिना रूप का, अस्तित्व में या बिना अस्तित्व, पुष्प है या उसकी सुगन्धि, हीरा है या उसकी चमक, शरीर है या आत्मा, जड़ या चेतन, मोक्ष है या उसका साधन धर्म—हे प्रभो ! इन सभी को अपनी कृपा प्रदान कर। अर्थात् सामान्य दृष्टि में विभिन्न एवं विरोधी गुणो और भावों वाले माने जाने वाले पदार्थ ज्ञानी की दृष्टि में समान हैं, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त वह कुछ देखता ही नहीं—जो है—वह ब्रह्म है, जो नहीं है, वह भी ब्रह्म है—जल में, थल में, नदी मे,

स्वामी शिवानन्द द्वारा रचित टेन उपनिषद से उद्धृत

समुद्र में, आकाश में, पृथ्वी मे, जड में—चेतन में सूर्य-चन्द्रमा और अग्नि में सर्वत्र जो व्यापक है—तो उस के अतिरिक्त देखे भी क्या।

अज्ञानी के हृदय पर मल-विक्षेप के आवरण ने उसके हृदयस्थित ब्रह्म को ढक दिया है। अतः उसे नाम-रूप मात्र दृष्टि आते हैं। जिस मानव हृदय से उसके पुरुषार्थ और गुरुकृपा-ईशकृपा के बल से वह मल-विक्षेप हट गया, उसे नाशवान मिथ्या दृश्य न दीख कर यथार्थ ब्रह्म प्रकाशमान हो जाता है—यही है स्थिति जीवन मुक्त ज्ञानी पुरुष की। क्योंकि जीवन मुक्त ने अपने आप को परमात्मा से एव सभी से एक रूप कर दिया है, वह सब को ईश्वर रूप अनुभव करता है अथवा वह सब में आप को देखता है और आप में सब को। वह दृश्य में द्रष्टा को देखता है और द्रष्टा मे दृश्य को। वह ईश्वर को सब कुछ और सब कुछ को ईश्वर अनुभव करता है—यह है ब्रह्माकार दृष्टि अथवा आत्मदर्शन का सार।

जीवनमुक्त संत की रोमांचकारी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के ये त्रिविध रूप हैं। यह अभद दृष्टि ईश्वरीय अनुभूति का चरम विन्दु है। उपनिषदो में इनकी स्थिति को सारांश रूप में प्रकट किया है :

"प्रबुद्धस्यैव च पुमांसः शिला जठग्वत् स्थितिः ॥
शान्तो व्यवहर्ताऽपि समनः मुक्तः स उच्यते ॥"

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष की स्थिति शिला के समान है—व्यवहार करते हुए भी जो शान्तचित्त है, वह मुक्त कहलाता है।

सहज समाधि के अनुभव से जागृत होने पर जब ज्ञानी लोकसंग्रह के लिए संसार में व्यवहार करता है तो उसके लिए संसार का वह स्वरूप नहीं रहता, जो हम देखते हैं—उसके लिए विश्व ब्रह्म में रूपान्तरित हो जाता है। वही सच्चिदानंद परमात्मा सारे नामरूपो में, सारे गुणों एव भौतिक तथा सूक्ष्म क्षेत्रों में हर वस्तु में नृत्य करता हुआ परिलक्षित (प्रतीत) होता है। जो कुछ इंद्रियो को अनुभूति होती है, जो बुद्धि सोचती है—वह सब सच्चिदानन्द है, क्योंकि ये सब परमात्म चेतना के जादूयी स्पर्श से रूपान्तरित हो चुके होते हैं।

जीवन्मुक्त ने चित्त की 6 वृत्तियों—इच्छा, क्रोध, काम, भ्रान्ति, अभिमान और ईर्ष्या—रूप शत्रुओं को उखाड़ फेंका है।

मन के छः भाव-जो भवविकार कहे जाते हैं—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश (मृत्यु) ये परिवर्तन उसमें रहे नहीं—वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं, इसलिए वह जीवन मुक्त अथवा विदेह मुक्त कहलाता है।

ज्ञानीपुरुष की प्रकृति ब्रह्ममय बन जाने के कारण वह परमशान्ति का अनुभव करता है—उसकी शान्ति में कोई विघ्न नहीं डाल सकता—सदैव आन्तरिक रूप से ब्रह्मानन्द में मग्न हुआ जगत के सब व्यवहार करता है।

ज्ञानी शुद्ध चैतन्य-चिन्मात्र—में स्थित रहता है। उसका आनन्द वाणी और मन से परे है—उसे किसी का भय नहीं रहता, क्योंकि सब को समान रूप देखता है, संसार की विडम्बनाओं से अलग है, ऊपर उठा हुआ है। ज्ञानी आत्मराज्य का बादशाह है।

वह प्रत्येक वस्तु को शुद्धचैतन्य देखता है, अतः किसी में कोई दोष दृष्टि नहीं आता—प्रत्येक वस्तु सत् स्वरूप है, केवल सत्-चिद् आनन्द स्वरूप फिर ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ दृष्टि नहीं आता, अतएव सदैव उसको मानसिक संतुलन बना रहता है। उसके मानस पर बुराई-भलाई, निंदा, चुगली अथवा मखौल बनाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जीवनमुक्त ज्ञानी की महिमा अवर्णनीय है उसका ज्ञान अनन्त है अद्वैत निष्ठा का पार नहीं—अर्थात् अद्वैत स्थिति मे वह दृढता से स्थित रहता है

जीवनमुक्त महात्मा अपने स्वरूप में स्थित हुआ सदैव आत्मा में रमण करता है—सर्दी गर्मी, दुख सुख आदि द्वन्द्वों से निर्लिप्त है। वह अपने लिए कोई परिग्रह नहीं करता, जो मिल गया वह खा लिया—शरीर का रक्षा मात्र के लिए जो उपलब्ध हुआ, वह पहन लिया। उसका अपना कोई निश्चित धन नहीं—'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी उसका घर परिवार है। जड़भरत, सन्तसुजाता, शुक, वामदेव तथा गुरु दत्तात्रेय ऐसे ही जीवन मुक्त सन्त हुए हैं, जिन्हें अपने शरीर की किंचित् चिन्ता नहीं थी—गुरु दत्तात्रेय ने राजा परीक्षित के पूछने पर अपना मनोहारी परिचय दिया है—

(अवधूत गीता में चित्रित)

भक्त प्रहलाद राजा बनने के बाद एक दिन अपने मंत्रियों के साथ विचर रहे थे। एक पर्वत की तलहटी में कावेरी नदी के तट पर पृथ्वी पर ही पड़े हुए एक मुनि को देख कर उनके चरणो में प्रणाम किया और पूछा कि आप सारे संसार को कर्म में रत देख कर भी इस प्रकार समभाव से पडे हैं, आप का शरीर अति हृष्ट-पुष्ट है और आप निष्काम एवं समर्थ हैं—इसके क्या कारण है ? इस पर दत्तात्रेय जी बोले—दैत्यराज, प्रहलाद जी ! तृष्णा के कारण मनुष्य जन्म मृत्यु के चक्करो मे भटकता है—तृष्णा के कारण न जाने किस किस योनि में भटकने के पश्चात् मुझे मनुष्य योनि मिली है—मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् वास्तविक सुख, जो अपना स्वरूप ही है, उसे भूल कर इस मिथ्या द्वैत को सत्य मानता हुआ भंयकर जन्मों और मृत्यु में भटकता रहता है। अपनी आत्मा से भिन्न वस्तुओं में सुख समझने वाला पुरुष आत्मा को छोड़ कर विषयों मे दौड़ता है। फलस्वरूप वह सर्वदा शारीरिक व मानसिक दुखों से आक्रान्त रहता है।

बुद्धिमान को चाहिए कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध तथा राग-द्वेष आदि का शिकार होना पड़ता है, उस धन और जीवन की स्पृहा को त्याग दे।

इस लोक में मेरे सबसे बड़े गुरु हैं अजगर और मधु मक्खी। उनकी शिक्षा से मुझे वैराग्य और संतोष की प्राप्ति हुई है। मधुमक्खी जैसे मधु इकट्ठा करती है, वैसे ही लोग बड़े कष्ट से धन सचय करते हैं। परन्तु कोई दूसरा ही उस धन के स्वामी को मारकर धन उससे छीन लेता है—इससे मेंने विषय भोगों से विरक्ति की शिक्षा ग्रहण की।

मैं अजगर के समान निश्चेष्ट पडा रहता हूं। दैववश जो कुछ मिल जाता है, उसमें धैर्य धारण कर यों ही पड़ा रहता हूं। कभी स्वादिष्ट भोजन, कभी नीरस, कभी बड़ी श्रद्धा से प्राप्त हुआ, कभी अपमान से। मैं अपने प्रारब्ध के भोग में ही सन्तुष्ट रहता हूं—जैसा भी वस्त्र मिल जाता है, पहन लेता हूं—रेशमी, सूती, वलकल आदि। कभी पृथ्वी, घास-पत्ते, पत्थर आदि पर पड़ा रहता हू तो कभी दूसरों की इच्छा से महलों में पलंग और गद्दों पर सोता हूं।

दैत्यराज ! मैं कभी नहा धोकर शरीर में चन्दन लगा कर सुन्दर वस्त्र, पुष्प हार आदि पहन कर हाथी-घोड़े पर सवार होकर चलता हूं तो कभी पिशाच की भांति नंग-धड़ंग विचरता हूं।

मनुष्यों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः न मैं किसी की निन्दा करता हूं, न स्तुति। मै केवल उनपर परम कल्याण और परमात्मा से एक्यता चाहता हूं।"

यह है जीवनमुक्त पुरुष का स्वयं वर्णित सजीव चित्रण। जो प्राप्त सुख-दुःखों में, हर्ष-शोक के वशीभूत नहीं होता, वह इस लोक में मुक्त कहलाता है। इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष न हो—हर्ष, उमर्ष, भय क्रोध, काम और कायरता से जो रहित है, वह जीवनमुक्त कहलाता है। अहंता-ममता को लेकर ग्रहण त्याग रूप में संकल्प जिसके क्षीण हो गए हैं, वह जीवन मुक्त है परन्तु ज्ञानी पुरुष निष्क्रियता से इस स्थिति को नहीं पहुंचे हैं—बिना बीज बोए फसल नहीं होती—निरन्तर कार्य रत रह कर भी कर्ता भोक्ता के विचार समाप्त हो जाते हैं तब शांति आती है और जब यह शान्ति दृढ हो जाती है तब ही मोक्ष है यह अकर्मभाव उन्हें का अनुभवों से मुक्त करता है

आत्म साक्षात्कार की स्थिति में जन्म जन्मान्तर से आए हुए सारे संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, जो लगभग शरीर की गहराइयों में थे। प्रज्ञा शक्ति की अग्नि संचितकर्मों को भस्म कर देती है। परमसत्ता से अभिन्नता हो जाने के कारण नित्य-प्रति होने वाले कार्यों के नए कर्म बीज उत्पन्न नहीं होते। चित्त में अज्ञानता के अभाव में ज्ञानी के कारण शरीर की भूमि नए कर्मों को जन्म देने के लिए बंजर हो जाती है। इंद्रियों के द्वारा उसे विभिन्न रूपीय जगत दृश्यमान होता है, किन्तु प्रज्ञादृष्टि के स्तर पर वह एकरूपता के समुद्र रूप में प्रतीत होता है। मुक्त योगियों में यह विश्व अतिनिर्मल शान्त एवं पूर्ण ब्रह्म रूप में स्थित रहता है।

ज्ञानी संत संसार के पदार्थों को ऐसी दृष्टि से देखता है जो उनमें यथार्थता नहीं देखती, अतः उसके मन में 'मैं कर्ता हूं' की भ्रांति उत्पन्न नहीं होती। अतएव क्रियमाण कर्म भी उसके मानस पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ते। पूर्व प्रारब्ध कर्मों का फल समाप्त होने तक वह शरीर धारण किए रहता है—पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता।

आत्मा रूपी मणि वासना रूपी तृण से ढका हुआ है—उस वासना रूप तृण के दूर होने पर आत्मा रूपमणि स्पष्ट दीखने लगेगी।

वह आत्मा जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं से परे है—उसे प्राप्त करने पर स्वयं ही अनुभव होगा कि मैं मुक्त हूं। वह ऐसा निर्वाच्य पद है कि उसमें वाणी की पहुंच नहीं।

ऐसे स्वरूप में स्थित होने पर समस्त सांसारिक दुःख-सुख निवृत्त हो जाएंगे—न समाधि में शान्ति का भाव अनुभूत होगा, न चेष्टा में दुःख। दोनों अवस्थाओं में एक रस की अनुभूति बनी रहेगी।

यही वह स्थिति है जिसे श्रीमद्‌भगवद्गीता में भगवान ने स्थितप्रज्ञ, गुणातीत एवं ब्रह्मभूत नामों से विहित किया है—योग वासिष्ठ में इस स्वरूप में स्थित पुरुष को जीवन-मुक्त संज्ञा दी गई है।

जीवन-मुक्त संत ज्ञान के बल से संसार भ्रम से मुक्त हुआ आत्मतत्व में स्थित हो कर संसार में विचरण करता है।

अद्वैतामृत आनन्दमयी आत्मा में शान्तिपूर्वक स्थित मुक्त पुरुष के लिए कहां देह, कहां विश्व, कहां सुख-दुःख, लाभ-हानि और कहां 'मैं', 'मेरा'/सफलता-विफलता एवं जय-पराजय सब कुछ त्याग दिया हो, ऐसा जीवनमुक्त न सोने से कुछ खोता है, न कर्म करने से लाभान्वित होता है। किसी स्थिति का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—सदैव आत्मस्थित हुआ जीवन के सब कार्य करता है।

अवधूत गीता में गुरु दत्तात्रेय लिखते हैं—"महत् तत्व से लेकर अखिल विश्व मेरे भीतर किंचित मात्र भी प्रकाशमान नहीं होता—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है—"यह है पूर्ण ज्ञानावस्था को प्राप्त हुए पुरुष का अनुभव, जो परमोच्च निर्विकल्प समाधि का आनन्द अनुभव करता है। उसके लिए यह विक्षिप्त रूपीय संसार कुन्दन है। केवल चिद रूप आत्मा ही एक यथार्थ सत्य है—यही है मुक्ति की अवस्था।

4 जीवनमुक्त और विदेहमुक्त भेद—(मुनि वीत हव्य के कथानक द्वारा)

दैत्यों के राजा प्रहलाद के समाधिस्थ होने पर भगवान विष्णु प्रकट हुए। उनके शंख की ध्वनि से प्रहलाद जाग गए। उनसे वार्तालाप हुआ—उनके समझाने से वह राज्य का कार्य भार सम्भालने को तैयार हो गये और भगवान ने प्रसन्न होकर उसकी पूजा अर्घ्य आदि स्वीकार की और अन्तर्धान हो गए

तब रामचन्द्र वसिष्ठ जी से पूछते हैं समाधि में स्थित था—फिर शंख ध्वनि सुनकर

जाग क्यो गया ?

इस प्रश्न के उत्तर में वसिष्ठ जी दो प्रकार के मुक्ति प्राप्त योगियों का वर्णन करते हुए कहते है—

हे राम ! मुक्ति दो प्रकार की होती है—एक जीवनमुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जो योगी शुभ-अशुभ कर्मो, दुख-सुख, निन्दा-स्तुति आदि से प्रभावित नहीं होता—राग-द्वेष का शिकार नहीं है—वह जीवन में ही मुक्त है—अर्थात् जीवनमुक्त जब तक उस के प्रारब्ध कर्मों का फल पूरा नहीं हुआ है, जिस के कारण शरीर धारण किया था, तब तक सूक्ष्म वासनाएं उसे अन्तःचेतना के सामान्य रूप में लाने में समर्थ नही होंगी और उसे शरीर धारण करना होगा। इस प्रकार भगवान की शंख ध्वनि के बहाने से वह पुनः चेतना में आ गया।

परन्तु सामान्य चेतना में आने पर भी वह जीवन के सारे कार्य करते हुए अपने यथार्थ स्वरूप आत्मभाव में स्थित रहता है। वह संसार को आत्मा में स्थित भ्रान्ति रूप मानता है।

राजा प्रहलाद इसी प्रकार का जीवन मुक्त ज्ञानी था—भगवान हरि सभी के हृदयों में स्थित हैं—उनकी इच्छा अटल है—उनकी इच्छावशात् प्रह्लाद पूर्ण चेतनावस्था में आ गया—परन्तु उनकी इच्छा और कृपा व्यक्ति के अपने कर्मानुसार बने प्रारब्ध के फलस्वरूप होती है। प्रह्लाद के प्रारब्ध कर्म पूर्ण नहीं हुए थे और उन्हें विधि के विधान अनुसार राज्य का कार्य भार सम्हालना था—अतएव भगवान विष्णु उन्हें पुनः चेतना में ले आए। जिससे वह जीवनमुक्त रूप में राज्य कार्य एवं जीवन के विहित कार्यों को करने के पश्चात् विदेह मुक्ति प्राप्त करें।

स्वामी शिवानन्द ने जीवनमुक्त और विदेहमुक्त का भेद अपनी पुस्तक 'टेन उपनिषद्' मे बताया है—

"जीवन मुक्तेमु मनससः सरूप नाशः, विदेह मुक्तेसु अरूपनाशः" अर्थात् मनोनाश दो प्रकार का है—रूप सहित नाश और बिना रूप नाश। सरूप नाश में रजस् और तमस् नष्ट होकर सतोगुण रहता है, जिसके फलस्वरूप योगी वासना मुक्त होकर राग द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार और आसक्ति आदि दोषों से रहित होता है। सात्विक गुण मैत्री करुणा आदि विद्यमान रहते हैं। विदेह मुक्त में सत्व का भी निराकरण होकर चित्त का अरूप नाश हो जाता है।

जीवनमुक्त चित्त को उसकी मिथ्या प्रकृति के रूप में देखता है और देखते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव आत्मस्थित रहती है। अतः यह कहा जाता है कि उसने मनोनाश कर दिया, और यह चित्त का रूपनाश कहलाता है—विदेह मुक्ति में चित्त का नितान्त अभाव हो जाता है—रूप भी न रहकर केवल आत्मा रहती है। ज्ञानी को व्यक्तिगत अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं रहती—यह अरूप नाश कहलाता है।

जब मुनष्य आत्मा को न देखकर मन को देखता है, तब वासना उत्पन्न होती है—जिस के फलस्वरूप बारम्बार जन्म होते हैं—किन्तु जब चित्त को केवल यथार्थ आत्मा के प्रतिबिम्ब रूप मे देखते है तो वह अत्यन्त आनन्द का स्रोत हो जाता है।

विदेह मुक्त (जिसमें अरूप मन रह गया है) चित्त के सारे विचारों से—संकल्पों से—ऊपर उठ जाता है। न इसमें गुण है, न गुणों से रहित है—इसमें पूर्णतया मानसिक क्रियाओं का अभाव होता है जिससे आशा निराशाओं का जन्म हो अथवा सारी वृत्तियों का उतार चढ़ाव हो। उस महामहिम स्थिति में न कोई वासनाएं हैं, न इच्छा-अनिच्छा—तीन प्रकार के क्लेशों से मुक्त वह योगी सारे कर्तव्य करता हुआ भी गाढ़ निद्रा जैसी आनन्दप्रद स्थिति अनुभव करता है और उसकी आन्तरिक शान्ति कभी विचलित नहीं होती। जीवित रहते जो इस प्रकार ब्रह्म में स्थित रहा है, उसका दैहिक जीवन समाप्त होने पर विदेह मुक्ति कहलाती है

महात्मा वीतहव्य के ज्ञान प्राप्ति का सविस्तार वर्णन करके मुनि वसिष्ठ ने जीवन मुक्त और

विदेहमुक्त का भेद स्पष्ट किया है। बहुत समय पूर्व की बात है—महात्मा वीतहव्य ने संसार को रोग, मृत्यु और दुखों का सागर अनुभव करके विन्ध्य पर्वत के जंगलों में रहने लगा और सांसारिक पदार्थों के प्रति उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। ज्ञानप्राप्ति की आकांक्षा से उसने संन्यास ले लिया और केले के पत्तों की कुटिया बनाकर उसमें रहने लगा। वह मृगछाला पर पद्मासन लगा कर अन्तरात्मा में समाधि लगाकर बैठ गया और चिन्तन करने लगा।

अपने बहिर्मुखी चित्त को अन्तर्मुखी करके चित्त को वासनाओं से मुक्त कर लिया—शुद्ध चित्त में विचारणा आरम्भ हो गई। अनेक प्रकार से अपने चित्त को धिक्कारते हुए कहा कि तुम्हारा स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है, अपने आप को देह, इंद्रिय से एक रूप मत करो—आत्मा से एकाकार होकर इन विचारों और कामनाओं की भ्रांति को समझो।

यह संसार छाया के सिवाय कुछ नहीं है—शुद्ध चैतन्य का प्रकाश ही यथार्थ है। यह जगत आत्मा की महिमा से परिपूर्ण है—तुम अन्य कुछ क्यों सोचते हो। इस प्रकार चिन्तन करते करते वीतहव्य को अनुभव हो गया कि चारों दिशाओं में व्याप्त केवल आत्मा की सत्ता है और मन से कहने लगा कि रेगिस्तान में मृग मरीचिका की भांति यह संसार मिथ्या है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—यह अनुभूति होने पर महात्मा वीतहव्य अपनी इंद्रियों को दुत्कारने लगा कि वासनाओं के साथ मिलकर तुमने बहुत विषयों में फंसा कर सद्गुणों को नष्ट करते हुए दुख के बादलों से मुझे घेर दिया—अब मेरा चित्त निर्मल झील की भांति शुद्ध हो गया है। जिस प्रकार बादलों के हटने से सूर्य प्रकाशमान होता है, ऐसे ही वासनाओं रूपी अविद्या के निराकरण से मेरे चित्त में दर्पण की भांति स्वच्छ होकर दैवी गुणों की गर्जना हो रही है और अब मैं मन, इंद्रिय और प्राणों से ऊपर उठकर परमसत्ता में स्थित हो गया हूं, जहां संसार चक्र का अस्तित्व ही नही रहा।

वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! यह संकल्प करके वीतहव्य सारी वासनाओं के जाल से मुक्त होकर विन्ध्य पर्वत की गुफा में समाधि लगाकर बैठ गया। परमानन्दमय अनुभूति के कारण उसका चित्त लहरों रहित समुद्र की भांति शान्त हो गया और उसका व्यक्तित्व दिव्य सौन्दर्य मे प्रदीप्त हो गया। सिरमर्दन और पीठ सीधे स्थिर होने के कारण पत्थर की मूर्ति जैसा प्रतीत होने लगा।

तीन सौ वर्ष तक समाधि में बैठे रहकर भी उसे आध घंटा सा प्रतीत हुआ। इस बीच तीव्र गर्मी, सर्दी, वर्षा, आंधी-बिजली आदि के प्रकोप से भी समाधि विचलित नहीं हुई—नदी नालों की बाढ और आंधी तूफान, ज्वार-भाटे से योगी का शरीर कीचड़ मिट्टी पानी से ढक गया। फिर उस के प्रारब्ध कर्मों के पूरा होने पर वह समाधि से जागा और समाधि अवस्था में जो कुछ घटित हुआ था, वह सब स्मरण हो आया। 100 वर्ष उस ने कैलास पर्वत पर बिताए, 100 वर्ष विद्याधर एव गन्धर्व फिर इन्द्र बनकर पांच विश्व युगों तक स्वर्गीय शासन किया। शुद्धचैतन्य की अनुभूति के फलस्वरूप वीतहव्य ने जो जो जहां जहां सोचा, उस के शुद्धहृदय में प्रकाशमान हो गया। एक पूरे युग तक उसने शिवजी के गण रूप में सेवा की। इस प्रकार अनेक प्रकार के अनुभव होने के बाद अन्त में आत्मज्ञान हो गया। कर्मों के बीज ज्ञान की अग्नि में भस्म हो चुके थे। जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥" (4-37)

अर्थात् हे अर्जुन ! जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। वीतहव्य को अपनी अन्तर्चेतना में यह ज्ञान हो गया कि उस का शरीर कीचड़ मिट्टी में दबा हुआ है फिर प्रारब्ध द्वारा प्रेरित होकर उसने अपने शरीर को

पुन जागृत करने का निश्चय किया। शरीर कीड़े की भांति मिट्टी घास फूस में दबा हुआ देखकर शिवगण रूप में सूर्य देवता की अनुचर पिंगला के वीतहव्य शरीर मे प्रवेश करने को प्रेरित किया। पिगला शक्ति से वीतहव्य का शरीर इस प्रकार कीचड़ की तहों में से निकल आया जैसे गदली झील से कमल। तत्पश्चात् योगी वीतहव्य अपनी सामान्य स्थिति में आ गया और नदी मे स्नान करके स्वच्छ होने पर सूर्य देवता की आराधना की।

एक दिन रात नदी के तट पर विन्ध्याचल की घाटी में अर्न्तध्यान करने के पश्चात् वह सोचने लगा कि मैं अमरता को प्राप्त हो गया, तुर्या में स्थित हो गया हूं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनो अवस्थाओं से विरत हो गया—इस प्रकार विचार करते करते ज्ञानी पुरुष की भांति अर्थात् जीवनमुक्त होकर समय बिताने लगा। न किसी की प्रशंसा करना, न निन्दा, न ईर्ष्या, न घृणा के भाव रहे—आसक्ति निरासक्ति और राग द्वेष से रहित हुआ वह विचारणा करने लगा—अज्ञानता के कारण जो कर्ता आर भोक्ता के भाव उत्पन्न हो गए थे, समाप्त हो कर अब मैं परम सत्ता से एक रूप अनुभव करने लगा। बाह्य कर्तव्यों का पालन करते हुए भी वह आत्मस्थित हुआ परम आनन्द में मग्न रहता था।

यह थी वीतहव्य की जीवनमुक्ति दशा। यह जान कर कि जिन प्रारब्ध कर्मों के कारण देह धारण की हुई थी, उन की समाप्ति होकर शरीर का अन्त होने वाला है, उसने विदेह मुक्ति के लिए तैयारी की। मन, बुद्धि, अंहकार और प्राणो एवं सब प्रकार की वृत्तियो के आकर्षण—विकर्षण से विदा लेकर कहा कि अब मैं अपनी मूल प्रकृति ब्रह्म में लीन हो रहा हूं—पांचों तत्व अपनी अपनी तन्मात्राओं में प्रवेश कर जायं और ये तन्मात्राएं ब्रह्म में।

विदेह मुक्ति की कामना से उसने 'ऊं' का आश्रय लेकर दीर्घ स्वर में कई बार ऊं की ध्वनि की और उसके भावार्थ पर ध्यान लगाकर 'ब्रह्म' से एकाकार हो गया।

वसिष्ठ मुनि आगे कहते हैं—'हे राम ! विदेह मुक्ति प्राप्त करके वीतहव्य चन्द्रमा के समान प्रकाशमान और लहरों रहित सागर के समान शान्त हो गया। उसने हाड़-मांस का स्थूल शरीर छोड दिया जो धीरे-धीरे भूमि तत्व में मिलाया—प्राण सार्वभौम मन में और अन्ततः ब्रह्म की सत्ता से एकरूप हो गए। अतएव हे राम ! वीतहव्य का मार्ग अपना कर संसार चक्र से मुक्त हो जाओ। यही संसार जो अज्ञानियों को यथार्थ दृष्टि आता है, महात्मा वीतहव्य को मन का विस्तार रूप दृष्टि आने लगा।

इस प्रकार महात्मा वीतहव्य की साधना स्तरों और ज्ञान प्राप्ति द्वारा जीवन मुक्ति एवं विदेह का वर्णन करके वसिष्ठ मुनि राम को कहते हैं—हे राम ! विचार करो, किस प्रकार योगी ने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके काम, कर्म और अविद्या—तीन क्लेशों को नष्ट किया, श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास किया और प्रथम जीवन मुक्त बनकर अन्ततः विदेह मुक्ति में प्रवेश पाया। इस कथानक से जीवनमुक्त और विदेहमुक्त का भेद स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान की चौथी। पाचवीं, छठी भूमिकाओं में ज्ञानी जीवनमुक्त कहलाता है और सातवी भूमिका में विदेह मुक्ति की स्थिति पर पहुंचने लगता है।

जीवन मुक्ति में ज्ञानी आन्तरिक रूप से सांसारिक प्रपंच से मुक्त होते हुए भी प्रकट रूप मे अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण कार्यरत रहता है। अंतिम तीन भूमिकाओं में वह ससर्ग क्रमशः कम होता जाता है—सातवीं भूमिका तक व्यक्तिगत भाव का प्रकट रूप में चिन्ह नहीं रहता। अतएव अन्तिम तीन स्तर विदेह मुक्ति की ओर बढ़ने के हैं।[1]

सप्त भूमिकाओ पर विजय पाना वास्तव में महान् है—उसने मानों जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। ज्ञानी का चित्त ज्ञान से आलोकित होने के फलस्वरूप वह व्यक्तिगत स्वरूप का

ज्ञान की सप्त भूमिकाए त प्रकरण, अध्याय 3

निषेध करके आत्मभाव में स्थित हो जाता है।

5 कर्म-मुक्ति तथा सद्य-मुक्ति—(राजा जनक के दृष्टान्त द्वारा)

जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि सारे काम शुद्ध चेतना के अस्तित्व से ही होते हैं—जिसप्रकार पारदर्शी स्फटिक (क्रिस्टल) के पास जितने पदार्थ रक्खे होते हैं, उनका प्रतिबिम्ब पड़ेगा, इसीप्रकार हमारी चेतना में संसार की क्रियाएं प्रतिबिम्बित होती हैं—इस प्रकार समझने वाला ज्ञानी मुक्त हो जाता है।

वसिष्ठ जी कहते हैं कि मानव जन्म लेकर भी जो व्यक्ति निष्क्रिय बने हुए विषय वासनाओं मे रत रहते हैं, उन्हें अनेक संकट सताते रहते हैं क्योंकि इंद्रिय भोग तो नाशवान हैं—अपने कर्मों का फल भोगने हेतु अनेक योनियों में जन्म लेते रहते हैं। अन्त में मनुष्य योनि पाकर जो व्यक्ति सचेत होकर सत्संग, स्वाध्याय और ध्यान द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते है, वे धन्य हैं—जिन्होंने समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वे उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं।

जिसमें मोक्ष प्राप्ति के लक्षण विकसित हो गए हैं, उसका मानों उसमें स्वतः गुण के साथ रजस् भी मिला रहता है और वह जन्म से लेकर शुभ कर्मों द्वारा चित्त शुद्धि करता हुआ दिव्य गुणों को प्राप्त कर लेता है। मुक्ति की योग्यता प्राप्त योगी का समस्त दैवी गुण इस प्रकार अनुसरण करते हैं, जैसे हंस रूपैले बादलों का। प्रेम, करुणा, उदारता, भलाई से भरपूर वह समुचित व्यवहार करता है और लाभ हानि, सफलता-असफलता, दुःख-सुख से अप्रभावित शान्त चित्त बना हुआ एक ज्ञानी गुरु के चरणों में पहुंचकर मार्ग दर्शन प्राप्त करता है। गुरु उसकी प्रज्ञा को जागृत करता है कि वह वास्तव में अनन्त चेतना है—तब वह निरन्तर अपने आत्म प्रकाश से आलोकित होने लगता है—ऐसा साधक शीघ्र विकास करके पूर्ण स्वच्छ स्थिति पर पहुंच जाता है।

जब व्यक्ति जान लेता है कि द्वैत मिथ्या है, तब ब्रह्म का ज्ञान हुआ समझो—जब व्यक्ति समझता है कि 'यह मैं नहीं हूं' तो मानो अहंभाव का मिथ्यात्व समझ लिया है। इससे वैराग्य की उत्पत्ति होती है—

जब यह ज्ञान हो जाय कि मैं निश्चय ही ब्रह्म हूं, तब व्यक्ति में सत्य की चेतना जागृत हो जाती है और उस चेतना में सब चीजें विलीन हो जाती हैं।

जब 'मैं' और 'तुम' के विचार लुप्त हो जाते हैं, तब सत्य का ज्ञान उत्पन्न हो कर मनुष्य जान लेता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—मैं भी ब्रह्म हूं, अन्य सब भी ब्रह्म ही हैं—ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस परम सत्य का ज्ञान होना ही मोक्ष अथवा मुक्ति है।

वसिष्ठ जी कहते हैं कि यह ज्ञान विकास की सामान्य प्रक्रिया है। परन्तु हे राम ! इस स्थिति पर पहुंचे हुए योगी को मोक्ष प्राप्ति की दो सम्भावनाएं बतायी हैं—एक क्रमिक मुक्ति और दूसरी सद्य मुक्ति।

ऊपर वर्णित रूप में जब साधक गुरु द्वारा बताए मार्ग पर चलकर धीरे-धीरे आत्म साक्षात्कार प्राप्ति पर पहुंचकर मोक्ष का अधिकारी बनता है—वह क्रमिक मुक्ति कहलाता है—दूसरा है कि किसी विशेष घटना अथवा परमोच्च कोटि संतों के संसर्ग से पूर्व जन्मों में की हुई दीर्घ एवं प्रबल साधकों के फलस्वरूप संस्कार उदय होकर आत्मज्ञान मानों योगी की गोदी में आ पड़ा हो, यह है सद्य मुक्ति क्रमिक विकास।

हे राम ! अधिकतर साधक क्रमिक विकास प्राप्त करते हैं—उच्च धार्मिक कुल में जन्म लेकर आध्यात्मिक साधना हेतु उत्साह होना, दैवी गुणों की उत्पत्ति, शुभ कर्म की प्रेरणा, चित्त शुद्धि के प्रयत्न तथा आत्म चिन्तन द्वारा

योगवसिष्ठ में गाधि, उद्दालक, शिखिध्वज-चूडाला, सुरघ-परघ और वीतहव्य आदि जीवन मुक्त सन्तों के अनेक क्रमिक मुक्ति के उदाहरण हैं जिन्होंने साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और प्रारब्ध कर्म पूरे होने तक शरीर धारण किए हुए मुक्त रूप में जीवन के कर्तव्य कर्म सम्पादन करते रहे।

सद्य मुक्ति के प्रसंग में वसिष्ठ जी ने राजा जनक का दृश्यटान्त दिया है—जो 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हैं, अर्थात् देह रहते हुए भी देह रहित की भांति जीवन यापन करना।

राजा जनक के वन विहार के लिए निकलने पर शाल्मली वृक्ष के नीचे बैठे हुए अदृश्य रूप में कुछ सिद्धों के ज्ञानपरक वचन सुने—ध्यानपूर्वक उनकी वाणी सुनने का आकर्षण हुआ, जिससे जनक के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होकर वैराग्य विकसित हो गया—और वह जीवन मुक्त की भांति रहने लगे—यह है सद्य मुक्ति।[1] वह सारा राज्य का कार्य सम्हालते हुए कर्तव्य कर्म करते थे परन्तु हृदय से निर्लेप भाव बना रहा।

वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! आत्म स्वरूप को पहिचानना ही मुक्ति है और पहिचानने के पश्चात् सारे सांसारिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते हुए भी देह के साथ अपने पन का नाता अथवा अहं भाव नहीं रहता।

अष्टावर्क, मुनि ने भी मुक्ति की परिभाषा की है—

"तदा मुक्ति यदा चित्तं न वांछति न शोचति।
न मु चति न गृहणति न हृष्यति न कुप्यति॥"

अर्थात्-जब मन में न इच्छा है, न सोचता है—न कुछ त्यागता है, न ग्रहण करता है और न वांछित स्थिति में प्रसन्न होता है, न प्रतिकूल स्थिति में रुष्ट—तब मुक्ति है।

भौतिक जगत से मानों मर कर चित्त की शान्त अवस्था में पहुंचने पर न वहां वासना है, न इच्छा, न विचार। यही चैतन्य की शुद्धतम अवस्था है—निज स्वभाव है—इसे उपलब्ध होना ही मुक्ति है।

6. राजा जनक का ज्ञान में स्थित होना

वसिष्ठ जी कहते हैं—आत्म स्वरूप को पहिचानने के पश्चात् सारे सांसारिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते हुए भी देह के साथ अपनेपन का नाता—अहंभाव नहीं रहता। हे राम ! विदर्भ राज्य में एक जनक[2] नाम का राजा समस्त प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करता था। मित्रों के लिए अत्यन्त हित चिन्तक था। जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है, उसी प्रकार उसे देखकर मित्र वर्ग खिल उठते थे—प्रसन्न हो जाते थे। राज्य में प्रचुर धन समृद्धियां थीं—राजा के शौर्य के सामने शत्रु भी सिर नहीं उठा पाते थे। राजा भी पूर्ण ऐश्वर्य के साथ आनन्द उपभोग पूर्वक रहता था।

एक दिन जब राजा जनक अपने उद्यान में भ्रमण के लिए निकले तो सहचरों व सेवकों आदि से अलग जा कर प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए कुछ सिद्धों[3] का वार्तालाप सुना जो संगीत जैसा श्रुतिमधुर प्रतीत हुआ। सिद्ध लोग अत्यन्त ज्ञानपरक बातें बोल रहे थे। उन्हें सुनने का राजा को आकर्षण हुआ और ध्यानपूर्वक सुनने लगे।

सिद्ध गा रहे थे कि हम उस सत्ता से एक रूप हैं जो केवल ज्ञान और आनन्द का प्रतिरूप

---

1. राजा जनक का ज्ञानोदय का विवरण अलग अध्याय में दिया गया है।
2. रामायण में राम-सीता की कथा द्वारा सीता जी के पिता मिथिलाधीश जनक प्रसिद्ध हैं।
3. सिद्ध लोग सूक्ष्म रूप में अदृश्य आत्माए हैं जो प्राप्त करके त्रिपुटी से मुक्त हो चुकी—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भे' जिनकी दृष्टि में लुप्त हो गया हो

है—वही बहिर्मुखी वृत्ति वाले मन में प्रतिबिम्बित होकर दुख-सुख आदि की अनुभूति कराता है। वही दृश्य जगत के पीछे सार है—इस भ्रमात्मक त्रिपुटी द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को त्याग कर उसके भीतर निहित आत्मा में ही हम आश्रय लेते हैं।

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं से ऊपर जो आत्मा है, हम उसी की वन्दना करते हैं, उसी का ध्यान करते हैं जो सौ ज्योतियों की ज्योति है और अस्तित्व एवं अनस्तित्व के विचारों से रहित है। हम उस परम सत्य का आश्रय लेते हैं, जिसमें सबका वास है और जो सब कुछ है।

हम उस सर्वगत सत्ता का चिन्तन करते हैं, जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है और जो सबका आधार है, सब कुछ जिसका है और 'अ' से 'ह' तक सम्पूर्ण भाषा जिसमें निहित है और जो अनुस्वार 'म्' से जोड़ा जाता है।[1]

मनुष्य को ज्ञान रूपी शलाका से सारी वासना को काटकर शान्ति से प्रवाहित होने वाले परमानन्द का लाभ उठाना चाहिए। जिसका मन पूर्णरूपेण नियन्त्रित है, वह मानो शान्ति में स्थित है और शान्ति में स्थित होने पर तुरन्त शुद्ध आत्मिक आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—सिद्धों के ज्ञानपरक दिव्य संगीत को सुनकर राजा जनक चिन्तन में पड़ गए। जिस प्रकार कायर व्यक्ति युद्ध का समाचार पाकर भयभीत हो जाता है, उसी प्रकार राजा जनक विश्व के घोष से डरने लगा। वह तुरन्त अपने महल की ओर चल पड़ा। महल के ऊपरी कक्ष में एकान्त वास में पड़कर वह सिद्धों के वचनों के अर्थ पर मनन करने लगा।

"संकल्प अथवा विचार ही इस संसार का कारण है—मैंने इसके कारण सब प्रकार के सुख-दुखों का अनुभव कर लिया—अब मैं ज्ञान का हरण करने वाले मन रूपी चोर को नष्ट करके शान्तिपूर्वक रहूंगा। सिद्धों के द्वारा भली प्रकार उपदेश मिल चुका है, अब मैं आत्म ज्ञान प्राप्त करूंगा।"

देर तक इस प्रकार विचार में मग्न देखकर राजा के अंगरक्षक ने सम्मानपूर्वक कहा, "महाराज। राज्य के कार्य सम्हालने का समय हो गया है—स्नान के लिए सुगन्धित जल आदि तैयार है—चारण वेद मंत्रोच्चारण हेतु आपके आगमन की प्रतीक्षा में हैं" आदि आदि।

परन्तु राजा जनक ने उसके वचनों की उपेक्षा करते हुए अपना चिन्तन चालू रक्खा, "मुझे राज्य के कामों से क्या मतलब—मुझे आत्मानन्द में स्थित होना है।" यह देखकर अंगरक्षक चुप हो गया।

राजा जनक अनुभव करने लगे कि "जिस प्रकार सूर्य की धूप से ओस के कण गल जाते है—उसी प्रकार मेरा मन यथार्थ ज्ञान द्वारा ब्रह्म तत्व के नित्य निरन्तर स्थिति प्राप्त करने को शीघ्र प्राप्त होगा। सिद्ध पुरुषों ने नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा मुझे भली प्रकार बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्द स्वरूप परमात्मा में प्रवेश कर रहा हूं। परमात्म रूप मणि को लाकर एकान्त में उसी को देखता हुआ अन्य सारी कामनाओं को शान्त करके सुखपूर्वक स्थित होऊंगा।"

"यह देह मैं हूं, यह विस्तृत धन राज्य आदि मेरा है" इस प्रकार के भाव अन्तःकरण में स्फुरित हुए असत्य रूप को नष्ट करके यथार्थ ज्ञान के द्वारा अत्यन्त बलशाली मन रूपी शत्रु को ध्यान के अभ्यास से मारकर मैं अतिशय शान्ति को प्राप्त हो रहा हूं.

इस प्रकार ज्ञानोदय होने पर राजा जनक राज्य के कार्य में लग गए। निर्लिप्त चित्त एवं पूर्ण मनोबल से सारे कार्य करने लगे न उसके मन में विक्षेप था न राज्य के ऐश्वर्यों का कोई प्रभाव क्रियाशील रहते हुए भी आन्तरिक रूप से मानो सुषुप्ति में थे उनके हृदय में की ज्योति

प्रकाशित हो गई, नाम मात्र को भी मन में मल अथवा क्लेश नहीं था। आत्म ज्योति से सम्पन्न वह ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को चित् शक्ति असीम चेतना में स्थित वह सारे कार्य करते हुए भी अकर्ता अर्थात् अकर्म की स्थिति अनुभव करने लगे।

अपने वक्तव्य का समाहार करते हुए वसिष्ठ जी कहते हैं—जनक ने निजी विचारणा द्वारा आत्मज्ञान की स्थिति प्राप्त की थी। आत्मज्ञान केवल धर्म शास्त्रों के पढ़ने अथवा गुरु प्रदत्त ज्ञान से प्राप्त नहीं होता—ज्ञानी पुरुष की प्रेरणा से चिन्तनशीलता द्वारा प्राप्त होता है। जब यह ज्ञान प्रकाशमान रहता है, तब तमोगुण के अंधकार का प्रभाव नहीं पड़ता। निष्काम भाव, निर्भयता, निरीहता, स्थिरता, समता, सौम्य भाव, धैर्य, मैत्री, मननशीलता, मृदुता, संतोष और मधुर भाषिता आदि दैवी गुण हेय और उपादेय से रहित ज्ञानी पुरुष के हृदय मे प्रकृत रूप में ही रहते हैं—उसे प्रयत्न नही करना पड़ता है। अतएव हे राम ! उत्तम विवेक का आश्रय लेकर अपनी आत्मा का अपने ही द्वारा अनुभव करके परम वैराग्य से पुष्ट हुई पवित्र सूक्ष्म बुद्धि रूप नौका द्वारा संसार सागर को पार करना चाहिए।

राजा जनक को ज्ञानोदय होना सद्यमुक्ति का उदाहरण है। इसी कारण उन्हें जीवन रहते भी 'विदेह' की उपाधि मिली हुई थी—'विदेह' नाम से विख्यात हैं।

7. दैत्यराज बलि की विरक्ति और ज्ञानोदय

महर्षि वसिष्ठ आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए श्री राम को दैत्यराज बलि का कथानक सुनाते है। जिसमें अपने पिता के दिए हुए ज्ञान का स्मरण करके वैराग्य विकसित हुआ और धीरे-धीरे आत्म चिन्तन करते करते संसार के मिथ्यात्व एवं विषय-सुखों की निरर्थकता का अनुभव करके अपने आध्यात्मिक गुरु श्री शुक्राचार्य का आह्वान किया।

शुक्राचार्य जी आत्मस्वरूप से एक रूप होने के कारण अपने शिष्य की भावना को पहिचान कर राजा बलि के सम्मुख उपस्थित हो गए।

बलि राजा विरोचन का उत्तराधिकारी पुत्र दैत्यों का राजा बना था। किन्तु उसने अपने पराक्रम से देवताओं पर भी विजय पाकर तीन लोक का स्वामी बन गया। उसने चिरकाल तक देवता, राक्षस एव अन्य प्राणियों पर राज्य करते हुए प्रचुर ऐश्वर्य भोगा। धीरे-धीरे उसके मन में उन भोगो के प्रति विरक्ति उत्पन्न होने लगी, और वह संसार की असारता, विषयों के विषैलेपन तथा मन की चचलता से उत्पन्न सांसारिक दुखो का चिन्तन करने लगा।

एक दिन एकान्त में बैठे चिन्तनशीलता के क्षणों में उसे अपने पिता विरोचन द्वारा दिया ज्ञान स्मरण हो आया। वह सोचने लगा कि मैंने अपने पिता से पूछा था कि "पिता जी ! मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये जिससे हृदय में अनन्त शान्ति और पूर्ण सुख प्राप्त हो। ये सब इन्द्रिय सुख क्षणिक हैं—मृगमरीचिका की भांति भ्रामक।"

तब पिता जी ने एक राजा और उसके मंत्री की कहानी द्वारा बताया था कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है मोक्ष प्राप्ति। सारे नाम रूपों के पीछे जो शक्ति है—आत्मा—वही राजा है, और मन है उसका मंत्री, जो राजा को जैसे चाहता है, चलाता है—आत्मा रूपी राजा अपनी प्रकृति—सर्पोपरि शक्ति को भूल गई है, इसलिए मन रूपी मंत्री के कृत्यों से दुख पाती है। यदि मन को जीत लो तो सब कुछ जीत कर आत्मा अपने सत् चिद् आनन्द स्वरूप को प्राप्त कर सकती है।

वासना रहित होकर मन को जीता जा सकता है—यद्यपि वासना को रोकना, मन पर नियन्त्रण आदि अत्यन्त कठिन है परन्तु अभ्यास और वैराग्य से जीतना दुर्लभ नहीं। पुरुषार्थ एवं निरन्तर चिन्तन के द्वारा मन पर विजय पाकर आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है।

विरोचन ने साधना क्रम पर प्रकाश डालते हुए बताया था—"हे पुत्र प्रारम्भ में जब तक चित्त

दुर्बल रहे, मनुष्य को शारीरिक आवश्यकता-पूर्ति में आधा दिवस लगाकर चतुर्थ भाग गुरु सेवा और चतुर्थ भाग स्वाध्याय में लगाया जाना चाहिए। फिर चित्त के संतुलित और शुद्ध होने पर केवल चतुर्थ भाग शारीरिक सुखों में, दो भाग गुरु सेवा में और चतुर्थ अंश शास्त्रीय शिक्षा चिन्तन में लगाना चाहिए; और चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाय तो आधा दिन शास्त्रीय ज्ञान चिन्तन द्वारा वैराग्य विकसित करने में व्यय करना चाहिए एवं शेष दो भाग गुरु सेवा एवं ध्यानाभ्यास में लगाने चाहिएं।' 1

"जिस प्रकार श्वेत वस्त्र पर रंग सरलता से चढ़ता है, उसी प्रकार शुद्ध चित्त पर शास्त्रीय ज्ञान का प्रभाव शीघ्र होता है। इस प्रकार जब आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाती है, तब वासनाक्षय होने लगता है। ज्यों ज्यों निरवासना बढ़ती है, त्यों त्यों आत्मज्ञान वर्धमान चन्द्रमा के समान बढ़ने लगता है।"

"यज्ञ, दान, तीर्थ और विभिन्न प्रकार के तप आदि, साधनाओं का साफल्य इस दृष्टि को विकसित करने में ही है कि सांसारिक पदार्थों से प्राप्त सुख वस्तुतः आत्मा से ही अनुभूत होता है, पदार्थों में सुख का लेश भी नहीं है। अतः जब चित्त पदार्थों की ओर से निरासक्त हो जाय तब पूर्णता से दिव्य सुख प्रकट होता है।"

इस प्रकार पिता विरोचन द्वारा प्रदत्त उपदेशों का स्मरण करके राजा बलि चिन्तन करने लगा—"मेरे ज्ञानी पिता द्वारा दिया ज्ञान मेरी स्मृति में आ रहा है—मैंने व्यर्थ ही इतना समय अज्ञानतावश भ्रान्तिपूर्ण ऐश्वर्यों में नष्ट कर दिया।"

"अब मुझे समझ में आया कि संसार में इन्द्रिय संस्पर्श से प्राप्त सुख सब खोखले हैं—अत मैं सारी इच्छा आकांक्षाओं को त्याग कर अपनी आत्मा में स्थित होता हूं। तीनों लोकों का सम्राट बनने के लिए मैं व्यर्थ ही दीर्घ संताप के अतिरिक्त कुछ नहीं.." आदि आदि ग्लानिपूर्ण विचार बलि को क्षुब्ध करने लगे।

फिर सोचा कि पुरानी भूलों पर चिन्तन करने से भी क्या लाभ—मैं अपने गुरु शुक्राचार्य से मार्ग दर्शन लेकर अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए।

वसिष्ठ जी कहते हैं कि इस प्रकार चिन्तन करके बलि ने अपने गुरु की उपस्थिति का आह्वान किया। गुरु शुक्राचार्य ब्रह्मलीन थे ही, उन्हें अपने शिष्य के भावों का आभास मिल गया और वे आकाश मार्ग से आकर राजा बलि के समक्ष उपस्थित होगए। राजा बलि ने सांसारिक ऐश्वर्यों के प्रति बढ़ते हुए वैराग्य एवं आत्मज्ञान के लिए प्रबल आकांक्षा का हाल अपने गुरु को वर्णन किया और उनका आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन मांगा।

तब ऋषि शुक्राचार्य बोले, "राजन्! मैं एक दिव्य कार्य से स्वर्ग की ओर जा रहा था—क्योंकि शरीर धारण करने तक ज्ञानी पुरुष को भी सांसारिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। फिर भी मैं तुम्हें आध्यात्मिक ज्ञान सारांश रूप में देता हूं।"

"यह संसार मूलतः शुद्ध चैतन्य है। जब चित्त शुद्ध चैतन्य में स्थित हो जाता है तो आत्म साक्षात्कार होने तक निरन्तर आनन्द की अनुभूति बढ़ती जाती है। अतएव तुम अपनी अन्तर प्रकृति पर चिन्तन करके दृढ़ विश्वास जमाओ कि 'मैं नाशवान् शरीर नहीं हूं। मैं अमर आत्मा हूं—संसार के भ्रामक नाम रूपों के पीछे यथार्थ सत्य।"

"अज्ञानता के कारण आत्मा मन की विस्तृत भ्रान्तियों से एक रूप होकर बन्धन में पड़ जाती है, अन्यथा मानसिक विचारों की उलझन में शुद्ध चैतन्य कैसे फंस सकता है।" हे राजन्! अपने हृदय की गहराइयों में डूब कर इस रहस्य को समझो कि विचार तरंगों में लहराते हुए 'अहं' नहीं

1 योगवासिष्ठ भाग 3 (स्वामी ज्योतिर्मयानन्द)

हो बल्कि तुम वह परम सत्ता हो जहा मन अपनी उपाधियों सहित डूब कर विलीन हो जाता है। निरन्तर इस आध्यात्मिक सत्य का विकास करो कि 'मैं यह शरीर नहीं, आत्मा हूं।' तुम निश्चय ही आत्म साक्षात्कार करोगे।

यह कहकर शुक्राचार्य जी राजा बलि के सामने से अदृश्य होकर देवलोक को प्रस्थान कर गए। क्योंकि शुक्राचार्य जी देव और दानव दोनों के पूज्य हैं।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! शुक्राचार्य जी का संदेश सुनकर बलि सोचने लगा कि 'मेरे आध्यात्मिक गुरु ने सत्य ही कहा है। मैं शुद्ध चैतन्य हूं—संसार के सारे पदार्थ भी शुद्ध चैतन्य हैं और तीनों लोक अनन्त चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। विश्व में जो कुछ भी है उसमें यह शुद्ध चैतन्य व्याप्त है।"

"जब चित्त और विचार की लहरें मुझ में हैं ही नहीं तो राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं ? मैं तो सर्वव्यापक आत्मा हूं, जो सदा आनन्द रूप है, द्वैत रहित और मन की उपाधियों से मुक्त। मैं वही आनन्द रूप ब्रह्म हूं जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त किए हुए है। मैं आकाश से भी अधिक विस्तृत और अणु से भी छोटा—यह दुख सुखों से पूर्ण जगत मुझे कैसे प्रभावित कर सकता है ? मैं ब्रह्म हूं, ब्रह्म से भिन्न संसार में न कभी कुछ हुआ, न होगा—अतः मैं आपकी यथार्थ प्रकृति आत्मा मे स्थित होता हूं।

इस प्रकार आत्म प्रकृति पर चिन्तन करके राजा बलि ने ॐ के सहारे से ब्रह्म में ध्यान लगाया और अन्तःकरण की तीनों अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—से ऊपर उठकर चौथी अवस्था तुर्या मे पहुंच गया जो भावातीत स्थिति है। फलस्वरूप उसे समाधि लग गई—अब वह न समय और दूरी की दुनिया पर निर्भर रहा, न द्रष्टा, दृष्ट और दर्शन में—उसके लिए कोई भेद या विभाजन नही रहा। पूर्णरूपेण विचार स्पन्दन शान्त हो गया और वह चित्तलिखित जैसा आत्मस्वरूप में स्थित हो गया।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! राजा बलि के समाधिस्थ होने का समाचार पाकर राक्षसो के समूह महल की ओर दौड़ने लगे और गहन ध्यान में स्थित उसे चारों ओर से घेर लिया—उनमे देवता, यम, कुबेर और इन्द्र आदि भी थे। उस रहस्य को न समझने के कारण उन्होंने गुरुदेव शुक्राचार्य का स्मरण किया—तत्क्षण शुक्राचार्य समक्ष उपस्थित हो गए। उन्होंने अपने शिष्य बलि को भावातीत अवस्था में स्थित देखकर आनन्द प्रकट करते हुए कहा—हे दैत्यो। यह अति आनन्द की बात है कि राजा बलि ने निजी संकल्पमय चिन्तन के बल से ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त कर ली है। सांसारिक विचारों को उत्पन्न करने वाला मन; स्पन्दन इसमें बन्द हो गया है—अतः उससे बात मत करो। अज्ञानता की अंधेरी रात्रि का अन्त होने पर आत्मज्ञान रूपी सूर्य उदय होता है। वह अब ऐसी ही स्थिति में है।

सांसारिक विचार अब उसकी चेतना में अंकुरित होना आरम्भ हुआ है। आप लोग पहले की भांति अपने अपने निर्धारित कार्यों में लगे रहो। राजा बलि अब से एक हजार वर्षों के बाद सांसारिक चेतना में आएगा।[1] शुक्राचार्य जी के ये वचन सुनकर सब लोग अपने अपने स्थानों को लौट कर अपने अपने कार्यों में लग गए और राज्य का कार्य भार सम्हालने लगे। एक हजार वर्षों के बाद बलि को गाजे बाजों के साथ देव पुरुषों द्वारा जगाया गया। उसके दिव्य व्यक्तित्व से प्रकाशमान दिव्य ज्योति ने सम्पूर्ण नगर को आलोकित कर दिया। दैत्य लोगों के दुबारा पहुंचने से पूर्व ही राजा बलि चिन्तन करने लगा कि "क्या ही अद्भुत आश्चर्यजनक स्थिति थी जिसमे मैं क्षण भर [2] के लिए रहा। अब मुझे संसार से और राज्य से क्या प्रयोजन ? मेरे अपने हृदय मे

---

1 सुप्रीम योग स्वामी
समाधि अवस्था मे सहस्र वर्षों का समय भी पल भर के समान प्रतीत होता है

परम शान्ति का राज्य है।

इतने में उसके समस्त अनुचर आ पहुंचे—उन्हें देखकर भी बलि इस प्रकार सोचता रहा, "मैं अनन्त चैतन्य मात्र हूं, मेरा कुछ नहीं है, न मैं किसी से संबंधित हूं—तो बंधन ही क्या जिससे मोक्ष की कामना करूं ? 'मैं' कहलाने वाले मेरे द्वारा करने को कुछ भी नहीं है, फिर क्यों न जो स्वाभाविक कर्म हैं, उन्हें करता रहूं।"

ऐसा विचार करके राजा बलि ने वहां एकत्रित दैत्यों पर अपनी दिव्य दृष्टि डाली, मानो सूर्य का प्रकाश कमल पर पड़ा हो।

वसिष्ठ जी कहते हैं, "हे राम ! तत्पश्चात् बलि राज्य का कार्यभार स्वाभाविक रूप से सम्हालने लगा—ब्राह्मणों, देवताओं एवं संत जनों का सम्मान करता, मित्र संबंधियों एवं प्रजाओ के साथ समदृष्टि से कल्याण कृत्य करता तथा प्रचुर दान दक्षिणा देकर अपने सेवक वृन्द को भी संतुष्ट रखता था—उनकी आवश्यकताओं को सदैव पूर्ण करता था।

हे राम ! बलि ने करोड़ों वर्षों तक राज्य किया। विष्णु भगवान ने उसे पाताल भेज दिया था—परन्तु वह फिर से इन्द्र रूप में तीनों लोकों पर शासन करेगा। किन्तु उसे बिलकुल अभिमान या प्रमाद नहीं हुआ—जो कुछ भी बिना चाहे आता है, उसे सहर्ष स्वीकार करके शान्त चित्त से रहता था। उसके शासन में दैत्यों का राज्य अत्यन्त समृद्ध हो गया। तब देवता गण अपनी सहायता के लिए भगवान विष्णु के पास पहुचे। भगवान ने दोनों को प्रसन्न करने का उपाय सोचा[1] वामन अवतार लेकर बलि के यज्ञ में विघ्न डाला जिससे दानवों का एकछत्र राज्य न हो पावे, और राजा बलि को मुक्ति प्रदान की।

वसिष्ठ जी कहते हैं, "हे राम ! तुम शुद्ध चैतन्य की ज्योति हो, तुम में संसार स्थित है, तुम असीम सत्ता हो—बलि जैसे भाव को अपनाकर परम आनन्द को प्राप्त करो। आध्यात्मिक विचारणा के जागृत होने पर आत्मज्ञान रूपी सूर्य उदय होना है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा विवेक-वैराग्य को जागृत कर बलि की भांति आत्म स्थित हो जाओ।"

४ भक्त प्रह्लाद की समाधि तथा विष्णु भगवान का प्राकट्य

पाताल में हिरण्यकशिपु नाम का अत्यन्त बली राक्षस राजा था। उसने इन्द्र से लड़कर तीनों लोकों पर आधिपत्य जमा लिया था। उसके कई पुत्र थे। उनमें एक प्रह्लाद[2] नामक पुत्र प्रसिद्ध भगवद् भक्त था जो सारे राक्षस समूह में मोतियों में हीरे के समान प्रकाशमान होता था।

हिरण्यकशिपु के आतंकपूर्ण शासन से दुखी होकर देवताओं ने भगवान विष्णु की प्रार्थना की कि उसके दबदबे से हमें मुक्त करने का उपाय सोचें। तब भगवान ने नृसिंह रूप मे (आधा मानव देह और मुख सिंह के सा) अवतार लेकर हिरण्यकशिपु का दमन किया। नृसिंह भगवान का

---

1 वामन अवतार की पौराणिक कथा सर्वविदित है—राक्षसों की बढ़ती हुई महिमा को देख कर देवताओं को भय होने लगा—एक बार बलि ने महान यज्ञ किया जिसमें देवता, ऋषि और समस्त ज्ञानी जन विद्यमान थे। इस यज्ञ में भगवान विष्णु ने बौने ब्राह्मण का रूप धारण करके वामन अवतार लिया और उससे तीन पग भूमि का दान मांगा। तीन कदम में उन्होंने सार्वभौम रूप धारण करके तीनों लोक नाप लिए और बलि के पास कुछ शेष नहीं रहा। भगवान के इस कृत्य से देवता प्रसन्न हो गए और राजा बलि मुक्तावस्था में था, उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा—बल्कि भगवान के पदार्पण से अपने को कृतकृत्य माना। भगवान विष्णु की इच्छानुसार वह पाताल में चिरकाल तक रहा।

विस्तृत कथा देखिए—महापुराण भागवत में।

2. प्रह्लाद और उस के पिता हिरण्यकशिपु की कथा देखिए परिशिष्ट में।

आकार इतना विशाल और तेज इतना विकराल था कि सारे राक्षस डर कर भाग गए। प्रह्लाद ही शेष था जो युद्ध में नष्ट हुए उनके प्रह्लाद ने अन्त्येष्टि संस्कार कर दिए, जो जख्मी थे उनका इलाज करवाया। अब प्रहलाद हवाश हुआ चिन्तन करने लगा। भगवान हरि ने राक्षस परिवारों के बीज ही नष्ट कर दिए। अब कौन हमारी सहायता करेगा।

यह सोचने लगा कि "भगवान हरि ही सारी सृष्टि की रक्षा और पालन करते हैं। संसार मे वही सारे प्राणियों का आश्रय है। अतएव हमें उन्हीं की शरण में जाना चाहिए और कोई रास्ता ही नही है। मैं भी भगवान हरि की भक्ति करुंगा मानों उनकी उपस्थिति से ओतप्रोत हूं। भगवान हरि का मंत्र "ऊं नमो नारायणाय" सत्र अर्थों को सिद्ध करने वाला है। यह भक्त को सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करता है, ईश्वर करे, यह मंत्र मेरे हृदय से, कभी दूर न हो।"

इस मंत्र का जप ध्यान करते हुए हमारे हृदय में हरि स्फुरित होगा। वह सबका आत्मा है। पृथ्वी हरि है, यह सब जगत हरि है, मैं भी हरि हूं, आकाश भी हरि है और सबका आत्मा भी हरि है।

फिर प्रह्लाद कहता है कि "विष्णु बनकर ही उनका मंत्र जपना लाभप्रद होता है—बिना विष्णु बने नहीं—प्रह्लाद नाम से जाना जाने वाला मैं विष्णु ही हूं, अन्य कुछ नहीं—भगवान हरि में द्वैत भाव नहीं हैं। मैं भी अद्वैत हूं। श्री विष्णु की सम्पूर्ण दिव्य ज्योति ने मुझे आच्छादित कर दिया है—मैं सर्वात्म रूप से विष्णु हूँ। कौन मेरा शत्रु हो सकता है, कौन मित्र ? मेरा विष्णु जैसा ही नीलवर्ण है, मैं विष्णु जैसे ही पीले वस्त्र धारण किए हुए हूॅ। मेरे सामने खड़े हुए ये राक्षस मुझ से विकीर्ण होती हुई प्रचण्ड दिव्य ज्योति को सहन नहीं कर पाएंगे और देवगण मेरा यश-गान कर रहे हैं क्योंकि मैं विष्णु हूॅं।"

"मैं समस्त द्वैत भाव से ऊपर उठ गया हूँ। मैं सर्वव्यापक आत्मा हूँ। भगवान विष्णु की माया, जिसने सारी सृष्टि को रचा है, वह मेरे नियन्त्रण में है, क्योंकि मैं विष्णु हूं।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, इस प्रकार चिन्तन करते हुए प्रह्लाद ने नारायण स्वरूप करके ध्यान किया। विष्णु की ही मूर्ति रूप में अपने आप को रूपांतरित करके "अहंग्रह उपासना"[1] पद्धति से मानसिक उपासना करने लगा। तत्पश्चात् उसने शास्त्रीय विधि विधान से पुष्प-पत्र-गन्ध-दीप आदि से भी भगवान विष्णु की पूजा की और अत्यन्त आनन्दित हुआ।

राज्य भर के राक्षस और दैत्यगण भी राजा को इस प्रकार पूजन करते हुए देखकर विष्णु के कट्टर भक्त हो गए और उन्होंने अपनी दानव वृत्ति और आचरण त्याग दिए। यह वार्ता अग्नि की भाति देव लोक तक में फैल गई कि दैत्य-दानव विष्णु के भक्त हो गए। स्वर्ग लोक में देवता चकरा गए कि ऐसा कौन कैसे सम्भव हो सकता है कि दैत्य अपनी राक्षसी वृत्तियों एवं दुष्टता को छोड कर भगवान विष्णु के भक्त हो जायें—वे दौड़ कर विष्णु लोक में पहुंचे और भगवान से इस रहस्य को स्पष्ट करवाया।

देवताओं की बात सुनकर कि प्रह्लाद एवं समस्त दैत्य समूह मेरे भक्त हो गए हैं, भगवान विष्णु गम्भीर वाणी मे बोले, "हे देवताओं ! प्रह्लाद और समस्त दैत्य गण मेरे भक्त हो गए हैं, यह तुम्हारे लिए चिन्ता का विषय नहीं है। यह मत समझो की मेरे भक्त बनकर वे अधिक शक्तिशाली-अंहकारी—बनकर तुम्हें सताएंगे। मेरी भक्ति सब प्रकार के मंगल की विधायिनी है। इससे विरोध का अंत और पारस्परिक प्रेम का, सामंजस्य का विकास होता है। यदि कोई अच्छा व्यक्ति दुर्वृत्ति का हो जाय तो अवश्य दुख की बात है किन्तु दुर्वृत्ति जनों का शुभ वृत्ति वाला होना तो है

"हे देवताओं ! तुम संशय मत करो। प्रह्लाद मेरा भक्त हो गया है, यह उसका अन्तिम जन्म है और अब उसे मुक्ति मिलने वाली है—आगे जन्म नहीं लेगा—क्योंकि उसके अज्ञानता के बीज भस्म हो चुके हैं। प्रह्लाद का परिवर्तन तुम्हारे कल्याण के लिए ही है।"

वसिष्ठ जी कहते हैं—इस प्रकार देवताओं को आश्वस्त करके भगवान विष्णु अन्तर्ध्यान हो गए और देवता लोग भी अपने अपने स्थानों को चले गए—अब वे प्रह्लाद के साथ मित्रता करने लगे।

प्रह्लाद प्रतिदिन मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान विष्णु की उपासना करने लगा—फलस्वरूप ज्ञान एवं वैराग्य आदि गुण उत्तरोत्तर उसके हृदय में बढ़ते गए—इन्द्रिय सुखों एवं भोगों के भाव उसके मन में आते ही नहीं थे। परन्तु अभी तक प्रह्लाद का चित्त आत्मा में स्थित नहीं हुआ था। अतः उसका मन छ स्थितियों में डावांडोल हो रहा था। एक ओर सांसारिक ऐश्वर्यों के खोखलेपन की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई देहात्म चेतना, दूसरी ओर रहस्यात्मक चैतन्य, जो उसे मोक्ष प्राप्ति की ओर प्रेरित कर रहा था।

उसकी स्थिति को जानकर अपने भक्त पर कृपा की वर्षा करने के लिए भगवान विष्णु उसके समक्ष प्रकट हुए। प्रह्लाद ने अत्यन्त आनन्दित होकर भगवान की स्तुति की—'हे भगवान हरि ! मै आप की वन्दना करता हूं। आप अन्दर बाहर सब प्रकार के अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने वाले—ज्योतियो की ज्योति हो। तुम सारे प्राणियों के आश्रय-सर्वशक्तिमान् देवाधिदेव हो। आप विष्णु-ब्रह्मा-महेश-त्रिमूर्ति रूप में प्रकट होते हो। मैं अपने हृत्कमल में आपकी उपासना करता हू।"

"आप जाज्वल्यमान प्रचण्ड प्रकाश हो। आप तीनों लोकों के रक्षक और दीन दुखी, अनाथ, असहाय के एक ही आश्रय हो, मैं आप की शरण में आता हूं, जो त्रिलोकी रूपी कमल के लिए सूर्य के समान हो, अज्ञानता रूपी अंधकार को मिटाने के लिए दीपक (लैम्प) हो और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवों का दुःख हरण करने वाले हो एवं अनन्त चैतन्य की प्रकृति हो।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, इस प्रकार प्रह्लाद के भक्ति विभोर होकर स्तुति करने के पश्चात् भगवान विष्णु बोले, "हे प्रह्लाद तुम शुभ गुणों के सागर हो और वस्तुतः तुम दैत्य वंश की मणि हो। मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ, तुम कोई भी वर मांगो जो तुम्हें जन्म के दुखों का अन्त करने वाला हो, मैं वही दूंगा।"

प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "भगवन् ! आप सब जीवों के अन्तर्यामी हो, आप कृपा करके ऐसा वर दीजिए जो अनन्त और असीम हो—शाश्वत।"

भगवान बोले, "अनन्त ब्रह्म में लीन होने तक तुम विचारणा में संलग्न रहो (मैं कौन हू आदि) जिससे तुम्हारी भ्रान्ति दूर होकर सर्वोच्च फल की प्राप्ति हो।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, इतना कहकर भगवान विष्णु अन्तर्धान हो गये, प्रह्लाद भगवान हरि का स्तवन समाप्त करके चिन्तन करने लगा—"भगवान ने मुझे निरन्तर विचारणा और चिन्तन करने का आदेश दिया है अतएव मैं आत्म चिन्तन करूंगा, मैं कौन हूं जो बोलता है, चलता-फिरता है और इस संसार कहलाने वाले रंगमंच पर सारी क्रियाएं करता है।" मैं यह भौतिक देह नहीं, मैं सारे नाम रूपों के पीछे अमर आत्मा हूं। मैं स्वयं प्रकाशवान, शुद्ध, अविभाज्य एवं शाश्वत आत्मा हूँ।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम, प्रह्लाद इसी प्रकार आत्म प्रकृति पर चिन्तन करते करते समाधिस्थ हो गया। निर्विकल्प समाधि में लीन वह चित्र-लिखित सी स्थिति में दीर्घ काल तक रहा। दैत्यों ने उसे जगाने के भरसक प्रयत्न किए, पर व्यर्थ गये। दिन, महीने और वर्ष करके हजार वर्ष बीत गए। राक्षसों ने समझा कि राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया। राजा की अनुपस्थिति में राज्य में अराजकता फैलने लगी शक्तिवान् दुर्बलों को सताने लगे शत्रुओं ने नगरों को नष्ट भ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया तथा ऊंचे ऊंचे महल खण्डहर होने लगे

क्षीर सागर में शेष नाग की शय्या पर शयन करते हुए भगवान विष्णु विचारने लगे—

"यदि राजा प्रह्लाद को समाधि से नहीं जगाया जाता है तो संसार को अत्यन्त संकट सहना पडेगा। उत्तरोत्तर कुव्यवस्था और पारस्परिक फूट बढ़ेगी। राक्षसों के सहयोग से विश्व की शक्तियों मे सतुलन बना हुआ है—उनके नष्ट होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संतुलन प्रभावित होगा।"

"नेताविहीन दैत्यों की शक्ति का अन्त हो जाएगा, फिर देवताओं के लिए भय अथवा द्वेष का कोई साधन नहीं रहेगा। अतः वे शीघ्र ही भावात्मक स्थिति को प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी बन जाएगें। फिर जनता धार्मिक कृत्य करना बंद कर देगी। उस स्थिति में अपनी प्रकृत प्रलय से पूर्व ही इस ब्रह्माण्ड का अन्त हो जाएगा। मैं इसमें कोई भलाई नहीं देखता। अतएव, मैं सोचता हूं कि दैत्यो को दैत्य रूप में ही रहना चाहिए। यदि राक्षस देवताओं के शत्रु बने रहें तो पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य-कर्मकाण्ड आदि होते रहेंगे और इस प्रकार यह सृष्टि बनी रहेगी, अन्यथा नहीं।"

यह चिन्तन करके विष्णु भगवान ने सोचा कि "मैं पाताल मे जाकर समुचित व्यवस्था करूंगा। यदि प्रह्लाद को राज्य के शासन में रुचि न हो तो मैं किसी अन्य को उसकी जगह नियुक्त कर दूगा। निश्चय ही यह प्रह्लाद का अन्तिम जन्म है और वह इस सृष्टि काल के अन्त तक रहेगा—अत मे उसे जीवनमुक्त रूप में शासन करने हेतु प्रेरित करुंगा।"

वसिष्ठ जी कहते हैं कि इस प्रकार निश्चय करके भगवान विष्णु पाताल में पहुंचे। उसकी जाज्वल्यमान ज्योति से राक्षसों में नवीन शक्ति और स्फूरणा उत्पन्न हो गई, परन्तु उन के दिव्य आलोक को सहने में असमर्थ होकर वे इधर उधर भाग गए। विष्णु भगवान् ने अपना शंख बजाकर प्रह्लाद को जगाया—शंखध्वनि सुनकर राक्षस गण गिर पड़े और देवता आनंदित हुए। प्रह्लाद के सहस्रार में प्राणों का स्पन्दन हुआ और सम्पूर्ण देह में स्पन्दन होने लगा—इंद्रियों में शक्ति जागृत हुई—वे अपनी अपनी तन्मात्राओं की ओर आकर्षित होने लगी और मन भी क्रियाशील हो गया। प्रह्लाद पूर्णरूपेण अपने चतुर्दिक वातावरण के प्रति जागरूक हो गया और भगवान की ओर दृष्टि फेरी।

भगवान विष्णु ने प्रह्लाद को कहा—

"हे प्रह्लाद ! याद रक्खो, तुम्हारी वर्तमान स्थिति और पाताल के राजा का रूप एक ही है—न कुछ प्राप्त करने को है, न त्यागने को। तुम्हें इस सृष्टि चक्र के अन्त तक इस शरीर में रहना है, यह अवश्यम्भावी है, क्योंकि मैं संसार क्रम के नियम को जानता हूँ। अतएव तुम्हें अभी तुरन्त एक जीवन मुक्त सन्त की भांति इस राज्य का शासन सम्हालना है।"

"अभी प्रलय का समय नहीं आया है। तुम व्यर्थ ही देह त्यागना चाहते हो। अज्ञानान्धकार और दुख में डूबे हुए, आशा निराशा और वासनाओं से जकड़े हुए देह में आसक्ति रखने एव शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से पीड़ित जीवों का मृत्यु को प्राप्त होना अपेक्षित है। परन्तु ऐसे व्यक्तियों का तो जीवित रहना उचित है जिन्होंने आत्मज्ञान से अपने मन पर नियंत्रण कर लिया हो, जो राग-द्वेष एवं अहंकार रहित हो—चित्त शान्त हो, जिसके मन में वासनाएं न उद्भूत होती हों और भीतरी व बाहरी घटनाओं एवं परिस्थितियों से विचलित न हों। जिस से बात करके अथवा जिसके विचारों को सुनकर लोग आनन्दित हों, ऐसे व्यक्ति का जीवित रहना ही उचित है, मरना नहीं।"

"प्रह्लाद ! तुम्हारे लिए क्या मृत्यु और क्या जीवन। तुम न जीवित हो, न मृतक। शरीर मे रहते हुए भी तुम देह रहित हो। तुम भावात्मक बुद्धि रूप में द्रष्टा हो, जैसे वायु वातावरण में रहती है, किन्तु स्थान नहीं घेरती। इसलिए वह स्थान संबंधी सीमाओं से रहित है। फिर बोलने के लिए तुम शरीर हो क्योंकि तुम शरीर के माध्यम से अनुभूति करते हो

तुम ज्ञानी हो शुद्ध चेतन्य की परम ज्योति हो तुम्हार लिए देह और देहात्मक्ता क्या है ?

परम सत्ता देह में शरीर के मरने पर मरता नहीं और शरीर बदलने पर बदलता नहीं। ज्ञानीजन कर्मों मे संलग्न रहते हुए भी वस्तुतः कर्म नहीं करते—यही अकर्तापन का भाव उन्हें मुक्त करता है।

हे प्रह्लाद ! तुम विष्णु लोक पहुंच चुके हो—संसार के एक युग पर्यन्त तुम पाताल का शासन करो, जो सृष्टि रचयिता ब्रह्मा के जीवन में एक दिन है।"

प्रह्लाद बोला, "भगवन् ! मैं थक गया था और अब मैंने थोड़ा विश्राम कर लिया है। आप की कृपा से मुझे यह ज्ञान हो गया है कि चिन्तन करने और न करने में कोई भेद नहीं है। मैं आप को चिरकाल तक अन्तर, हृदय में देखता रहा था। अब सौभाग्य से साक्षात् अपने समक्ष देख रहा हूँ। मैंने असीम चेतना का सत्य अन्तरात्मा में अनुभव कर लिया है, जिसमें न कोई दुख है, न भ्रान्ति, न अनासक्ति से कोई मतलब। न शरीर को त्यागने की कामनाहीन इस दृश्य जगत का भय।

केवल अज्ञानी के हृदय में यह भाव उठते हैं, यह दुख है, यह सुख है—यह है, यह नहीं है—यह प्राप्त करने योग्य है, यह त्यागने योग्य—अज्ञानी का चित्त इस प्रकार की स्थितियों में झूला करता है। भगवन् जब प्रत्येक वस्तु में आप व्याप्त हों तो क्या त्यागें, क्या ग्रहण करें। सारा ब्रह्माण्ड ही एक अनन्त चेतना से परिपूर्ण है। मैंने अब आत्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और आप जैसा चाहें, मै वही करूंगा—कृपया मेरे विनयपूर्ण अभिवादन स्वीकार करें।"

वसिष्ठ जी कहते हैं—प्रह्लाद की वन्दना स्वीकार करके विष्णु भगवान ने कहा—उठो प्रह्लाद। मैं तुम्हें पाताल लोक का स्वामी नियुक्त करूंगा, जहां देवता एवं सन्तगण जो यहां हैं, तुम्हारा यशगान करते हैं। प्रह्लाद को राजतिलक करते हुए कहा—जब तक सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित रहें तब तक तुम पाताल लोक में शासक रहो। इच्छा-आकांक्षा और राग-द्वेष से रहित बने रहकर राज्य की रक्षा करो और सब प्रकार के ऐश्वर्य भोगो। परन्तु इस प्रकार कर्म करो जो देव लोक में देवतागण एव पृथ्वी पर पितृगण दुखी न हों। विचार और कर्मों में अहंकार रक्खे बिना कार्य में संलग्न रहो तो तुम्हें कर्मो का बन्धन नहीं होगा। अब से देवता और दैत्य मित्रता से रहेंगे एवं देवियां और राक्षसियां मिल-जुल कर। हे राजन् ! दीर्घ काल तक इस विश्व का शासन करते हुए अज्ञान को अत्यन्त दूर रखकर ज्योतिर्मय जीवनयापन करो।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, इतना कहकर विष्णु भगवान ने पाताल लोक से प्रस्थान किया। भगवान की कृपा से स्वर्ग में देवता, पाताल में राक्षस एवं भूलोक में मानव सम्प्रदाय निर्भय होकर आनन्द पूर्वक रहे।

---

* यदि मन सत्त्व गुण से परिपूर्ण है तो दूसरे दो गुण (रजस् और तमस्) स्वयं ही नाश को प्राप्त हो जाएँगे, मन अति सूक्ष्म एव वायु रहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की भाँति स्थित हो जायेगा।

■

□ **आत्म स्वरूप पर चिन्तन करने वाला और जो बाहरी आन्तरिक आसक्तियो से मुक्त है वह संसार के दुखों से प्रभावित नहीं होता, वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता है।**

6

निर्वाण प्रकरण

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अनाद्यानन्त ब्रह्माहम्।
अमृता विनाशि ब्रह्माहम्। अधिठानापरिच्छन्न ब्रह्माहम्।।*

—ब्रह्मानुभवोपनिषद्

1.राजा शिखिध्वज-चूडाला आख्यान (यथार्थ त्याग का रहस्य)

कथा के भीतर कथा का समावेश संस्कृत साहित्य की अनुपम पद्धति को अपनाते हुए महर्षि वसिष्ठ ने इस मोक्ष प्रदायक ग्रन्थ को विशिष्ट मनोरंजक तथा बुद्धिगम्य बना दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने बताया है—'काम्याना कर्मणां त्यागः सन्यासः'।

वसिष्ठ जी ने यथार्थ त्याग का रहस्य समझाने हेतु रानी चूडाला का आख्यान प्रस्तुत करते हुए उसी तथ्य को स्पष्ट किया है कि भौतिक वस्तुओं अथवा घर बार का त्याग सच्चा त्याग नही, सकल्पों के त्याग से ही चित्त स्थिर होकर शुद्ध चैतन्यरुप ब्रह्म की अनुभूति होती है। मन की उपाधि के कारण शुद्ध चैतन्य में स्पन्दन होने से संसार दृश्यमान होता है। मन की स्फुरणा के त्याग से केवल ब्रह्म दीखता है। इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आख्यान इस प्रकार है—मालवा राज्य में शिखि-ध्वज नाम का राजा था। उसकी छोटी अवस्था में ही पिता का निधन हो जाने से वह योग्य मंत्रियों के संरक्षण एवं मार्ग दर्शन में कुशलतापूर्वक राज्य चलाता रहा। विवाह योग्य अवस्था होने पर मंत्रियों ने सौराष्ट्र राज्य की राजकुमारी चुडाला से शिखिध्वज का विवाह सम्पन्न करा दिया।

शिखिध्वज और चूडाला एक दूसरे के प्रति हार्दिक भाव से समर्पित थे—दोनों की रुचि और विचार पर्याप्त रुप में समान थे। दोनों एक दूसरे से ज्ञान का आदान प्रदान करते हुए सात्विक जीवनयापन करते थे। कुछ समय बाद उनके मन में जिज्ञासा जागृत हुई कि इस संसार में ऐसी कौन् वस्तु है जिससे मन में दुःख न हो। वे इस निर्णय पर पहुँचे कि आत्मज्ञान से ही दुःख पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तब उन्होंने आध्यात्मिक साहित्य और धर्म ग्रन्थ पढ़ना आरम्भ किया; संत महात्माओं का सत्संग करने लगे।

चिन्तन करते करते विचारणा द्वारा रानी चूड़ाला ने जान लिया कि शरीर और इंद्रियां जड हैं—केवल चेतन शक्ति ही सब कुछ है—ब्रह्मन्, परम सत्ता आदि इसी के नाम हैं। मन भी जड है क्योंकि इंद्रियों की क्रियाशीलता मन पर निर्भर है। चित्त सोचता है, इसमें विचार उठते हैं, किन्तु वह बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है। बुद्धि भी जड़ है, क्योंकि वह अहंकार से प्रोत्साहित होती है। अतएव जीव शुद्ध चैतन्य मात्र ही है जो प्राण से आवृत हृदय में स्थित है।

इस प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करके चुड़ाला अति प्रसन्न हुई—सोचने लगी कि मैं सारी भ्राति से मुक्त होकर शान्त हूँ। वह आत्मा के प्रकाश से आलोकित होने लगी। राजा शिखिध्वज ने चुडाला में परिवर्तन देखा, किन्तु वह उसका कारण नहीं समझ पाया और उसकी विरक्ति की बातें सुनकर खीझकर शयनागार से बाहर निकल गया।

चूडाला में सिद्धियां उत्पन्न हो गई और वह पति के संसर्ग में रहते हुए भी सूक्ष्म शरीर से

दैविक शक्तियों तथा जीवनमुक्त पुरुषों के साथ विचरने लगी। अनेक प्रकार से राजा को ज्ञान देने के प्रयत्न किए, परन्तु केवल गुरु के उपदेश से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जब तक स्वयं मनुष्य में चेतना जागृत न हो।

अन्ततोगत्वा बहुत सोच—विचार करके राजा ने कहा,'प्रिय' हमने दीर्घ काल तक ऐश्वर्यपूर्ण जीवन भोग लिया। अब मैं वन में जाकर तपस्या करना चाहता हूँ। वहाँ मेरा हृदय ऐसा ही आनन्दित होगा जैसे तुम्हारे साथ में—अतः मुझे जाने की अनुमति दो।

रानी ने बहुत समझाया कि अभी वन जाने की अवस्था नहीं है, राज-काज सम्भालते रहो—परन्तु एक दिन रात्रि में चूड़ाला को सोते हुए छोड़कर वह चुपचाप महल से निकल गया और मन्दार पहाड़ के एक घने जंगल में जाकर झोंपडी बनाकर रहने लगा।

रानी चूड़ाला ने प्रातः उठकर देखा कि शिखिध्वज चला गया—उसे दुःख हुआ, किन्तु यौगिक शक्ति से वह सब समझ गई। उसने राज्य के अधिकारी वर्ग को घोषणा कर दी कि राजा कार्यवश कहीं गया है। उसकी अनुपस्थिति में वह राजकाज संचालन करेगी। अठारह वर्ष तक वह राज्य संचालन करती रही। फिर सोचा कि अब राजा का चित्त परिपक्व होकर ज्ञान प्राप्ति योग्य हो गया होगा—मुझे मदद करनी चाहिए।

वह सूक्ष्म शरीर द्वारा खिडकी में से निकल कर राजा के मार्ग का अनुसरण करती हुई वहाँ पहुँच गई जहाँ शिखिध्वज साधना कर रहा था। मार्ग में वह दिव्य पुरुषों, देवताओं आदि से मिली—पति से मिलने को अति उत्सुक थी—आकाश से ही पति को भिन्न रूप में देख कर उदास हुई, परन्तु मन पर नियन्त्रण करके विवेकशीलता से विचार किया कि मुझे वेष बदल कर जाना चाहिए—अतः कुम्भा मुनि के रूप में वह नीचे उतरकर उसकी कुटिया में पहुँची।

शिखिध्वज संन्यासी युवक को देख कर प्रसन्न हुआ, उसकी पूजा अर्चना की। चूड़ाला ने उसके तप साधन और चित्त शान्ति की प्रशंसा की और कहा कि तुमने राज—पाट छोड़कर तलवार की धार पर चलने का मार्ग अपनाया है। कृपया मुझे बतायें कि आप कौन हैं।

शिखिध्वज ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मेरी अति सुन्दर सुशील पत्नी है जो कुछ अंशों में आप जैसी प्रतीत होती है और अपनी तपश्चर्या का उद्देश्य बताकर पुष्पों से अर्चना की और कहा कि मैं बड़ा पुण्यवान हूँ, आप जैसों का दर्शन पाकर कृतार्थ हुआ। कृपया बतावें आप कौन हैं और किस कारण से मुझे दर्शन देने की अनुकम्पा की।

साधु वेशधारी रानी चूड़ाला ने कल्पित कहानी बनाकर बताया कि नारद मुनि गंगा तट पर पर्वत की गुफा में ध्यानावस्थित थे। गंगा जी में जल क्रीड़ा करती हुई हजारों अप्सराओं की कंकण ध्वनि सुनकर वह आकर्षित हुए और उठ खड़े हुए। उनका वीर्य स्खलित हो गया जो उन्होंने कुम्भ (घडे) में सुरक्षित रख दिया और उसमें अपनी विचार शक्ति से उत्पन्न दूध भर दिया। कालान्तर में उससे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे समयानुसार उच्चज्ञान प्रदान किया। नारद जी उस बच्चे को अपने पिता ब्रह्मा जी के पास ले गए—उसका नाम कुम्भा रक्खा—ब्रह्मा जी ने उसे सर्वोच्च ज्ञान का आशीर्वाद दिया—वह कुम्भा मैं हूँ। मैं इधर उधर स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण करता हूँ।

तत्पश्चात् कुम्भा के पूछने पर शिखिध्वज ने अपना परिचय दिया कि वह राजा था और सब छोड़ छाड़ कर यहाँ आ गया। फिर भी चित्त में शाँति नहीं है—संसार चक्र से छूटने का उपाय नही मिला। मैंने सम्पूर्ण क्रिया योग का अभ्यास कर लिया—मैं यहाँ अकेला निर्लिप्त रह रहा हूँ, फिर भी मैं शुष्क और दुःख मे डूबा हुआ हूँ।

चूड़ाला बोली—एक बार मैंने अपने दादा (ब्रह्मा जी) से पूछा कि क्रिया और ज्ञान में कौन श्रेष्ठ है तब वे बोले कि ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही यथार्थ सत्य को प्राप्त किया जा सकता है अज्ञानी जन सीमित वासनाओं के कारण क्रियाओं से चिपके रहते हैं वासना और

अहकार ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति म बाधक हैं। आत्मा का ज्ञान होने पर पुन: जन्म नहीं होता। तुम व्यर्थ मे तुच्छ तपस्या में समय नष्ट कर रहे हो—ज्ञानी जनों के सत्संग और उनके मार्ग दर्शन में विचारणा करने से कि 'मैं कौन हूँ', यह 'संसार क्या है' आदि आदि आत्मज्ञान होता है। बन्धन और मोक्ष की प्रकृति को समझने से आत्मज्ञान की स्थिति पर पहुँचोगे।

यह सब सुनकर शिखिध्वज की मानों आंखें खुलीं—उसने अत्यन्त कृतज्ञता प्रकाशन करते हुए अपने भाग्य को सराहा और कहा कि हे महात्मन्। मेरी मूढ़ता दूर हो गई। आप मेरे गुरु हो, कृपया आप मुझे ऐसा ज्ञान दें जिससे पाकर दु:ख का अन्त हो।

तत्पश्चात् ब्राह्मण वेषधारी चूड़ाला ने कहा, 'तुम्हें मेरी बात में विश्वास है तो मैं तुम्हें ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान देता हूँ तुम्हारी बुद्धि को प्रकाशित करने के लिए। उस पर विचार कर देखना।' चूडाला ने चिन्तामणि और हाथी के मनोरंजक कहानियों द्वारा बताया कि सारे दु:खों का मूल अज्ञानता है—अज्ञानांधकार में डूबा हुआ व्यक्ति अवसर मिलने पर भी लाभ न उठा कर दु:ख पाता है। हे राजन्। पूर्ण त्याग का मार्ग अपनाने की अपेक्षा तुम व्यर्थ तपस्या के झंझटों में पड़ गए। इस पर राजा बोला—'मैंने राज-पाट, धन-सम्पत्ति, घर-बार, पत्नी, सम्बन्धी—सब कुछ त्याग दिया। और क्या त्यागूँ?'

उत्तर मिला कि घर-बार, सम्पत्ति व परिवार आदि तुम्हारे नहीं थे—यह अहं भाव है—त्यागा नही। तब राजा ने अपने जीवन निर्वाह की जो थोड़ी सी चीजें थीं, वस्त्र, मृगछाला और कमण्डल आदि फेंक कर झोंपड़ी में आग लगा दी और सन्तोष की श्वास ली—'आह। अब मेरा त्याग पूरा हो गया। अब मैं कर्म की दुनिया से ऊपर उठ गया हूँ। यह सब चीजें बन्धन का कारण थीं, अब मै पूर्ण त्याग की स्थिति पर पहुँच गया।'

चूड़ाला यह सब देखती रही। फिर बोली—राजन्। यह सोच कर अपने को भ्रम में मत रक्खो कि तुम पूर्ण त्यागी हो गए—अभी कुछ और है जो तुम्हारा अपना है, उसे तो त्यागा ही नही। शिखिध्वज ने सोचा—मेरा शरीर और रह गया है—पत्थर की चट्टान की ओर जाने लगा। कहा कि इसका भी अन्त किए देता हूँ। तब कुम्भा मुनि ने रोका—कहा कि इस शरीर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो इसे गहन गड्ढे में फेंकना चाहते हो ? यह शरीर तो जड़ है, निर्जीव है। जिस प्रकार तुम्हारे भीतर शरीर को चलायमान करने वाली जो वस्तु है उसे त्यागो। शरीर को नष्ट करने से तो ज्ञान प्राप्ति के साधन जप तप आदि करना बन्द हो जाएगा। शरीर को संचालित करने वाली शक्ति है चित्त। उस पापी शत्रु को त्यागने से तुम्हारा सर्वोच्च त्याग पूर्ण होगा।

कुम्भा मुनि ने राजा को समझाया कि चित्त के त्यागने से धन-सम्पत्ति आदि संसार के सब पदार्थो का त्याग हो जायेगा, क्योंकि यह चित्त ही सांसारिक पदार्थों का बीज है—संसार चक्र की मुसीबतों को बुनने वाला यही चित्त है। जिसप्रकार वायु वृक्ष में कम्पन पैदा करती है, या ज्वारभाटा पर्वत को हिला देता है, उसी प्रकार यह चित्त शरीर में स्पन्दन करता रहता है।

शरीर को चित्त का ही विस्तार समझो।

हे राजन्। जिन्होंने मन का त्याग नहीं किया है, उन्हीं लोगों के लिए मन विपत्तियाँ खड़ी करता रहता है, परन्तु जिन्होंने मन का त्याग कर दिया है अर्थात् जो लोग हृदय में ज्ञानोदय होने से सब कुछ ब्रह्म रुप देखने लगते हैं, उनके लिए संसार के पदार्थ आनन्द का विषय बन जाते हैं, क्योंकि वे सब उसे ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं।

सर्वप्रथम तुम मन से पदार्थों को त्यागो, फिर मन को भी त्याग दो। अन्त में त्याग का विचार ही त्याग दो कि 'मैंने सब कुछ त्याग दिया', इस प्रकार इसी जीवन में मुक्त हो जाओगे।

शिखिध्वज के पूछने पर कि किसप्रकार इस आकाश में उड़ने वाले पक्षी के समान निर्द्वन्द चित्त को त्यागा जा सकता है कुम्भा मुनि समझाता है कि चित्त में सूक्ष्म वासनाए निहित रहती

है—वासनाओं के मिथ्यापन को समझने से मन का त्याग सरल होगा—फिर भी उसकी बुद्धि में चित्त को त्यागना स्पष्ट नहीं हुआ—देर तक प्रश्नोत्तर के पश्चात् यह निश्चय हो गया कि संसार के सब पदार्थ झूठे हैं—शुद्ध अन्तःकरण के सिवाय कुछ नहीं है—ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कुछ नहीं—ब्रह्म के सत्य को स्वीकारने के बाद चिन्ता व दुःख का स्थान ही नहीं रहता। फिर राजा ने स्पष्टीकरण चाहा कि मन नहीं है, यह कैसे मानें। तब कुम्भा रूप चूड़ाला ने अनेक प्रकार से समझा दिया कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तो मन कहाँ से आ गया—अज्ञानता के कारण सारे पदार्थ संसार यथार्थ दृष्टि आने लगते हैं—मन इस प्रकार के विचारों का बण्डल मात्र है और कुछ नहीं—यह सब पसारा अविभाज्य, असीम एवं नाम रूप रहित ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब मात्र है। यह ब्रह्म ही है जो क्षण भर के लिए अपने को ब्रह्माण्ड मान कर इस रूप में प्रकट हो जाता है—मन तो है ही नहीं।

अब शिखिध्वज सन्तुष्ट हो गया। बोला,'आपकी कृपा से मेरी भ्रांति दूर हो गई—मेरा चित्त शान्त है,"मैं"'मेरा' से रहित शुद्ध ज्ञान, कोई वासना नहीं।

इस प्रकार कुम्भा मुनि ने राजा के हृदय में ज्ञान जागृत करके कर्म—काण्ड तपः आदि की निरर्थकता पर प्रकाश डाला कि सकाम कर्मों से स्थायी सुख नहीं मिल सकता—स्थायी सुख और परम शान्ति अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान होने पर ही मिलती है कि मैं ब्रह्म हूँऔर सम्पूर्ण जगत भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य के सारे प्रयत्नों में सफलता प्राप्त होती जाती है—वह बोली कि अब तुम सत्व में स्थापित हो गए हो—बिना ज्ञान के मनुष्य का सारा पुरुषार्थ अहंभाव की अभिव्यक्ति मात्र है। अब तुम सीमित पदार्थों की कामना त्याग कर असीम आनन्द सागर की खोज करो। इस संसार में सारे दुःख मन के विक्षेप के कारण होते हैं—शान्त स्थिर और क्षोभ रहित चित्त वालों को आत्मा का अनन्त राज्य प्राप्त होता है। हे राजन्! तुमने आदि, मध्य, अन्त रहित मोक्ष की स्थिति प्राप्त करके सारे दुःखों से ऊपर उठ गए हो। कुम्भा मुनि से ज्ञानोपदेश सुनकर राजा मौन हो गया—निर्विकल्प समाधि लग गई।

वसिष्ठ जी कहते हैं—राजा को ज्ञान में स्थित करके कुम्भा मुनि राजा की आँखों से ओझल हो गई और उड़कर राज्य कार्य सम्हालने अपने सही रानी के वेष में चली गई।

तीन दिन बाद लौटी। तब तक राजा को उसी स्थिति में ध्यानावस्थित देखकर प्रसन्न हुई—सोचा कि अब उसे सांसारिक चेतना में लाना चाहिए। योगाभ्यास द्वारा जगाने का प्रयत्न किया—शेर की भाँति दहाड़ी, पर नहीं जागा। फिर उसके शरीर का परीक्षण करने पर पाया कि उसमें थोड़ा सत्व का अंश शेष है—जिससे जीव चेतना में आने की क्षमता है।

जैसे बीज के अन्दर और फल सूक्ष्म रुप से वर्तमान रहते हैं, वैसे ही किसी भी ध्यानशाली पुरुष के हृदय में प्रबोध का कारण भूत सत्व शेष—वासना रहित अन्तःकरण सूक्ष्म रुप में विद्यमान रहता ही है। जिस ध्यानी के अन्तःकरण की गति सम हो गयी है, उसमें रागादि दोषों का उद्भव नहीं होता। हे राम! जिस शरीर में न तो चित्त विद्यमान है, न सत्व ही, वह शरीर मरण द्वारा वैसे ही पंच तत्वों में विलीन हो जाता है,जैसे गर्मी में बर्फ गलकर अपने असली रुप जल में परिणत हो जाती है—परन्तु राजा शिखिध्वज का वह शरीर यद्यपि चित्त शून्य था,तथापि उसमें पर्याप्त गर्मी विद्यमान थी और वह सत्वांश अर्थात् वासना रहित अन्तःकरण से संयुक्त था,इसी कारण पंच-तत्वों में विलीन नहीं हुआ था। यह देख कर चूड़ाला ने उसे जगाने का विचार किया। उसने राजा के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर सत्व सम्पन्न चेतना को स्पन्दित कर दिया।

तीन दिन तक पत्थर पर अंकित मूर्ति के समान रहने के पश्चात् उसने नेत्र खोले। तब कुम्भा मुनि वेश धारी चूड़ाला ने पूछा कि क्या तुमने वह योगियों द्वारा वांछनीय ज्योतिर्मय स्थिति प्राप्त करली जिसे मोक्ष कहते हैं राजा ने उत्तर दिया—हे दिव्य मूर्ति तुम्हारी कृपा से मैंने शुद्ध चैतन्य

आत्मा का दर्शन कर लिया है—मैं इस समय और दूरी के संसार से ऊपर उठकर सार्वभौम चित्त के क्षेत्र में पहुँच गया। सत्संग की महिमा अपरम्पार है—ज्ञानियों के संग से ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

उस स्थान पर एक दिन रहने के पश्चात् वे दोनों ज्ञानी मित्रों की भाँति आठ दिन तक जंगलो मे, परिजात वन में, मन्दार पर्वतों की गुफा में, भ्रमण करते रहे। फिर भी कुम्भा रुप चूड़ाला ने अपनी योग शक्तियों द्वारा कई परिस्थितियाँ उत्पन्न कर करके अनेक प्रकार से शिखिध्वज की मनोभूमि का परीक्षण किया कि उसमें अहं अथवा वासना आदि का लेश न हो।

देवताओं का राजा इन्द्र बनकर स्वर्गीय ऐश्वर्यों का प्रलोभन दिया। वह ठुकरा दिया, मदनिका वेष से भी वह विचलित नहीं हुआ। क्रोध, अहंकार, घृणा, द्वेष आदि दोषों से उसे मुक्त पाया तथा विभिन्न सिद्धियों को भी ठुकरा दिया। तब चूड़ाला ने सोचा—अब मेरा पति ज्ञान के उच्च शिखर पर पहुँच गया है—यह उपयुक्त समय है जब मुझे अपना मदनिका का बनावटी रुप त्याग कर चूडाला रानी के असली स्वरुप मे प्रकट होऊँ। यह निश्चय करके वह मदनिका की देह से इस प्रकार प्रकट हुई जैसे बक्से से मणि निकल रही हो।

राजा शिखिध्वज ने आश्चर्य चकित होकर अपने सामने चूड़ाला (रानी) को खड़े देखा और बोला, 'हे सुन्दरी'। तुम कौन हो ? तुम यहाँ क्यों आई हो और यहाँ कब से हो ? तुम मेरी पत्नी से बहुत मिलती हो।' इस पर चूड़ाला बोली,'मैं चूड़ाला ही हूँ। मैंने ही कुम्भा मुनि के तथा अन्य रुप धारण किए थे तुम्हारी भावना जागृत करने के लिए। मैंने ही इस उद्यानों आदि से पूर्ण छोटे से भ्रामक संसार का रुप बनाया जो तुम देख रहे हो।'

"जब तुम नासमझी से राज्य छोड़कर निकल गए और यहाँ वन में आकर तपस्या करने लगे थे, तभी से तुम्हारे भीतर यथार्थ आध्यात्मिक जागरण लाने के प्रयत्न कर रही हूँ। मैंने ही तुम्हें कुम्भा रुप में ज्ञान दिया—अब तुमने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है।"

वसिष्ठ जी कहते हैं—शिखिध्वज गहन ध्यान में प्रवेश कर गया और जो कुछ घर छोड़ने के बाद से घटित हुआ था, सब कुछ उसने ध्यानावस्था में अपनी प्रज्ञा शक्ति द्वारा अन्तर दृष्टि से देख लिया और देह चेतना में आने पर अत्यन्त हर्षित हुआ—शिखिध्वज ने अत्यन्त आनन्दित होकर चूडाला का गाढ़ आलिंगन किया एवं उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगा। दोनों के हृदय एक दूसरे के लिए प्रेमाधिक्य से भाव विभोर हो गए।

फिर शिखिध्वज ने कहा," तुमने मुझे अज्ञानता के भयंकर समुद्र से निकाल कर ज्ञान के प्रकाश में लाने के लिए कितने युक्तिपूर्वक अथक प्रयास किए हैं—मैं किस प्रकार बदला चुका सकता हूँ। तुमने मेरे लिए कितने कष्ट सहे हैं। वास्तव में ज्ञानी प्रियतमा का हार्दिक प्रेम अमृत से भी अधिक मधुर होता है। संसार में अनेकों महान स्त्रियां हुई हैं जो आदर्श बनी हुई हैं, परन्तु हे स्नेहमयी प्रिय चूड़ाला, तुम उन सबसे बढ़कर हो। स्त्री अपने पति के लिए सब कुछ है—मित्र, साथी, गुरु, घर-सम्पत्ति, शास्त्र और आश्रय। ऐसी पत्नी की हर दिशा में और हर प्रकार से पूजा करनी चाहिए। यह सब कहकर शिखिध्वज ने फिर प्रेमावेश में उसका गाढ़ आलिंगन किया। चूडाला कहने लगी,'जब मैंने तुम्हें व्यर्थ की तपस्या करते देखा तो मेरा हृदय अत्यन्त दुःखी हुआ। अपने आप को दुःख से मुक्त करने हेतु ही यह सब किया और तुम्हारे यहाँ आने एवं अज्ञान की निन्द्रा से जागने पर मुझे ही अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ है—अतएव यह प्रशंसा की बात नहीं है।'

शिखिध्वज बोला,'अच्छा। ईश्वर करे, अब से सभी पत्नियां तुम्हारी तरह अपने पतियों को जगाकर अपने स्वार्थ सिद्ध करें।'

चूडाला बोली,'अब तुममें किंचित् वासना, विचार अथवा भावना नहीं है जो कई वर्ष पूर्व था ने उत्तर दिया मैंने वह स्थिति प्राप्त कर ली है जो देवताओं के लिए दुर्लभ है

मुझमें न आसक्ति है, न विभाजन। मैं असीम, अविभाज्य आत्मा हूँ। मैं समस्त वासनाओं से मुक्त हुआ अन्तर सत्ता में स्थित हूँ। हे प्रिय ! तुम मेरी गुरु हो। मेरे लिए शब्दों में वर्णन करना कठिन है।' मैं शान्ति और सुख की मूर्ति हूँ और अनन्त आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ—संसार की समस्त सीमितता से ऊपर विस्तृत आकाश की भाँति सर्व- व्यापी होकर तुम्हारे सामने खड़ा हूँ।"

चूड़ाला ने पूछा—यदि ऐसा ही है तो बताओ अब तुम क्या करना चाहते हो ? सूक्ष्म वार्तालाप के पश्चात् दोनों ने निर्णय किया कि हम दोनों मुक्तावस्था में स्थित हो गए हैं—होने न होने, लाभ-हानि—किसी बात की कामना नहीं है—बिना चाहे हुए जो प्रकृत अवस्था सामने आवे, वही अपना लेनी चाहिए। शिखिध्वज ने कहा, जो तुम उचित समझो, वही मुझे स्वीकार है।

चूड़ाला बोली, हम दोनों ज्ञान प्राप्त करके आत्मस्थित हो गए हैं—क्यों न हम राजा-रानी के रुप मे अपने कर्त्तव्यों को अपनावें। प्रारब्ध कर्म पूरा होने तक हम राज्य का शासन करें। प्रारब्ध कर्म पूरे होने पर विदेह मुक्त हो जायं। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति से पूर्व हम प्रशासक थे, अब हमारा अज्ञानता का पर्दा हट चुका है। अतः भ्रान्ति को त्याग कर निर्लेप भाव से कर्तव्य पालन करेंगे। इसलिए हमें राजधानी में जाकर एक सुयोग्य शासक प्रदान करना चाहिए।

वसिष्ठ जी बोले—वह रात्रि दोनों ज्ञानी दम्पति ने आनन्दपूर्वक विभिन्न विषयों पर बातचीत करते हुए व्यतीत की। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर प्रातःकालीन उपासना—संध्या वन्दना आदि करने के पश्चात् चूड़ाला ने अपनी विचार शक्ति द्वारा सात समुद्रों के जल से पूर्ण स्वर्ण-कलश उत्पन्न कर दिया और उससे राजा को स्नान करा कर उसका राजतिलक सम्पन्न किया। और अपनी इच्छा शक्ति से सोने का आसन उत्पन्न करके उसपर बिठाते हुए मंगल कामना की कि 'तुम ब्रह्माण्ड के आठ दिव्य लोकपालों की ज्योति प्राप्त करो।'

फिर राजा ने चूड़ाला को रानी रुप में प्रतिष्ठित करके कहा कि वह अपनी योग शक्ति से एक सुसज्जित सेना उत्पन्न करे। उसने वैसा ही किया, फिर राजा-रानी एक अत्यन्त शानदार हाथी पर सवार हुए और पीछे पीछे सारी सेना के जलूस ने राजधानी में प्रवेश किया—वहाँ नागरिकों के द्वारा उनका भव्य स्वागत हुआ। फिर दोनों ने निर्वाण प्राप्त किया। दीर्घ काल तक आनन्दपूर्वक रहने के पश्चात् वह परम पद को प्राप्त हुए। हे राम !, तुम भी राजा शिखिध्वज की भाँति अपने आप को स्वतः प्रेरित एव प्रकृत कृत्यों में बिना खेद के संलग्न कर दो। उठो ! संसार के सुखों को भोगो और मोक्ष पाओ। हे राम। मैंने तुम्हें शिखिध्वज का आख्यान सुना दिया है, उसके मार्ग का अनुसरण करके तुम्हें कभी दुख नहीं होगा।

ज्ञान की स्थिति में योगी के लिए हर दशा समाधि है—चाहे वह समाधि लगा कर बैठे, चाहे निरासक्त और घृणाहीन चित्त से कार्यरत रहे। ज्ञानी सन्त सदा आत्मस्थित रहता है—जो सहज समाधि है।

इस आख्यान में महामुनि वसिष्ठ जी ने योगवासिष्ठ में सन्निहित ज्ञान के लगभग समस्त मुख्य विषयों का सूक्ष्म रुप से समावेश कर दिया है—राजा शिखिध्वज का वैराग्य और रानी चूड़ाला की विवेकशीलता ने चरम सीमा पर पहुँचकर ब्रह्म का स्वरूप, शुद्ध चैतन्य की ही यथार्थता, संसार की निस्सारता और मन की अनन्त शक्ति एवं सहज समाधि पर प्रकाश डालते हुए जीवन मुक्त सन्त का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यह आख्यान आध्यात्मिक क्षेत्र का उच्चतम आदर्श माना जा सकता है।

2 कुछ अन्य ज्ञानी पुरुषों का परिचय

(क) गाधि

भगवान की माया की शक्ति और भ्रम निवारण के साधन बताने के लिए गुरु वसिष्ठ ने

गाधि ब्राह्मण की कथा सुनाई है।

कौशल प्रदेश में गाधि नाम का एक ब्राह्मण रहता था जो बड़ा विद्वान और धर्मात्मा था। वह बालकपन से ही विवेक एवं वैराग्य प्रकृति का था। ब्राह्मण कठोर तपस्या करने के लिए अपने सगे संबंधियों को त्याग कर जंगल में चला गया। अनेक प्रकार की साधनाओं के पश्चात् भगवान विष्णु के दर्शनों की उत्कंठा से वह एक नदी मे प्रवेश करके गले तक जल में खड़ा हो गया और विविध मंत्रों का जप करने लगा। उसने भगवान विष्णु के प्रकट होने तक जल में रहने का संकल्प लिया। मंत्र जप आदि साधनाओं से उसका चित पूर्णतया शुद्ध हो गया।

आठ महीने पश्चात् विष्णु भगवान ने वहां प्रकट होकर कहा, "अपना वांछित वर मांगो।" ब्राह्मण बोला, 'भगवन् ! मैं आपकी ही माया शक्ति देखना चाहता हूं, जो सारे प्राणियों को भ्रान्त किऐ हुए है और उन्हें अज्ञान में रखती है।'

भगवान विष्णु बोले, 'तथास्तु ! तुम मेरी माया को देखोगे और फिर तुम आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए सांसारिक पदार्थों को त्याग दोगे।'

इतना कहकर भगवान विष्णु अर्न्तध्यान हो गए। गाधि ब्राह्मण जल से बाहर निकला। वह अति आनन्दित, मग्न और समर्पित रूप से जप, तप आदि साधनामय जीवन बीताने लगा। विष्णु भगवान के दर्शन के फलस्वरूप उत्पन्न दिव्य भाव से उसका हृदय निरन्तर आनन्दविभोर रहता था।

एक दिन भगवान विष्णु के वरदान का स्मरण करके वह नदी में स्नान के लिए उतरा जल में डुबकी लगाने पर उसके अन्तःकरण में एक स्वप्नावस्था जैसा दृश्य प्रकट हुआ जो इस प्रकार था - उसने अपने को मृतक देखा और यह कि चारों ओर से रोते चिल्लाते व्यक्तियों से घिरा हुआ हूं और यह कि शीघ्र ही उसे शमशान घाट पर ले गए - चिता में शरीर को भस्म करके अन्त्येष्टि संस्कार किए गए।

वसिष्ठ जी कहते हैं, 'हे राम ! नदी के जल में निमग्न रहते हुए ही गाधि ने अनुभव किया कि वह भूत मण्डल में था और एक जंगली जाति चाण्डाल स्त्री के गर्भ में रहकर एक शिकारी लड़के के रूप में उत्पन्न हुआ - वह अपने माता पिता की तरह काले रंग का था। धीरे धीरे बडा होकर एक जंगली लड़की से विवाह हो गया - कई बच्चों का बाप बन गया। बड़ा परिवार और मित्र बन्धु थे - पर एक एक करके सब मृत्यु को प्राप्त हो गए। वह वृद्ध हो गया - अकेला होकर वह दूर देश चला गया। वहां भ्रमण करता शिकारियों का जीवन व्यतीत करता था। घूमता फिरता अपने लक्ष्यहीन देशाटन के बीच एक जगह पहुंचा, एक सजा धजा हाथी देखा - उस देश का राजा बिना उत्तराधिकारी के मर चुका था - अतएव वहां की परम्परा के अनुसार उपयुक्त राजा ढूंढने के लिए वह हाथी छोड़ा गया था।'

हाथी ने इस चाण्डाल रूप गाधि को अपनी सूंड पर उठाकर बिठा लिया - वह राजा बन गया। वहां खूब खुशियां मनाई गयीं - उसे सुगंधित जल से स्नान कराकर मूल्यवान वस्त्राभूषण पहनाए गए - उसी हाथी पर सवार करके उसका राजतिलक हुआ - इस प्रकार वह चाण्डाल रूप ब्राह्मण कीरपुरा देश का राजा बन गया। उसे सब प्रकार के शाही अधिकार और ऐश्वर्य प्राप्त हुए। धीरे धीरे वह शासन के विधि विधान सीख कर एक श्रेष्ठ शासक गवाला बन गया।

वसिष्ठ जी कहते हैं—वह गवाला राजा महल के दास दासियों एवं मंत्रीमण्डल की श्रृद्धा-प्रेम का पात्र बना हुआ कुशलतापूर्वक प्रेम एवं न्याय गर्भित राज्य संचालन करता रहा। आठ वर्ष पश्चात् एक दिन वह महल के पास उद्यान में घूम रहा था। पास में चाण्डाल जाति की एक मण्डली को नाचते गाते निकलते हुए देखकर वह भी सामान्य वेश में जाकर उनमें सम्मिलित हो गया - नाचने गाने लगा - तब एक वृद्ध पुरुष ने उसे पहिचान लिया और अलग जाकर बातचीत करने लगा

इससे राजमहल के कर्मचारियों तथा महिलाओं को अति विस्मय हुआ कि वह चाण्डाल जाति का था जिसे छूना भी पाप माना जाता था। सारे [illegible] में कहकहा मच गया। चर्चा होने लगी। कुछ लोगों ने इस बात की उपेक्षा की, परन्तु अधिकतर जनता उससे घृणा करने लगी।

समाज के नेताओं ने मीटिंग करके निश्चय किया कि हम अपवित्र हो गए - एक बड़ी सी चिता तैयार करके बुजुर्ग लोग अपनी आत्मा की पवित्रता के लिए एक एक करके चिता में भस्म होने लगे। राज्य में दुर्व्यवस्था फैल गई। राज्य में मंत्रीगण एव महल की रानियां एवं कर्मचारी गण उसके हेय समझने लगे।

गवाला राजा (गाधि) ने ऐसी अपमानजनक स्थिति में रहने की अपेक्षा अपने प्राण छोड़ना श्रेष्ठ समझा - अतः वह अग्नि में कूद पड़ा। ज्यों ही अग्नि उसके अंगों को जलाने लगी, जल में डुबकी लगाता हुआ गाधि चेतना में आ गया।

इतने मे संध्या हो गई - वह जल से बाहर निकल कर सोचने लगा - यह सब क्या था। निश्चय ही मैंने जो यह सब देखा वह माया का चक्र था। वास्तव में हुआ कुछ नहीं। गाधि बारम्बार इस विषय पर चिन्तन करता हुआ अपनी कुटिया में रहने लगा - मैं कौन हूं ? मैंने क्या देखा और कैसे देखा - क्या हुआ आदि। फिर परिणाम निकाला कि मैं थका हुआ था। मेरे मन में चक्कर आए होंगे। फिर भी उसके मन में कौतूहल बना रहा।

एक दिन किरा देश से कोई ब्राह्मण घूमता फिरता आया। उसने वह घटना सुनाई। वह सत्य निकला कि वह वहां जाकर राजा बना था और पहिचाना जाने पर अग्नि में भस्म हो गया। फिर उसे जिज्ञासा हुई कि मैं भ्रमित अवस्था मे, जिस भूतमण्डल जंगल में दीर्घ काल बिताया, वहा जाकर देखूं।

वसिष्ठ जी कहते हैं, उच्च चेतना प्राप्त व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से प्राप्त अन्तर्दृष्टि द्वारा उन दृश्यों को साक्षात् देखने की क्षमता रखते हैं जो मानसिक दृश्य रूप में अनुभव हुई हो। गाधि तुरन्त भूतमण्डल गांव पहुंचा और वहां वह सब कुछ यथार्थ पाया जो स्वप्नवत् दृश्य में देखा था। गाव के लोगों से पूछा कि उस (इंगित) में रहने वालों को तुम जानते हो - उन्होंने सब बातें ठीक ठीक बतायीं।

इसी प्रकार किरा देश जाकर लोगों से वहीं कहानियां सुनने को मिलीं जो उसने स्वप्नवत् दृश्य में देखी थीं। इस सब परिस्थिति पर वह आश्चर्यचकित हुआ चिन्तन करते करते उसे स्मरण हुआ कि भगवान विष्णु ने मुझे अपनी माया का चमत्कार दिखाने का वर दिया था। वस्तुतः वह वही माया है। वह तुरन्त पास में किसी पहाड़ में जाकर गहन तपस्या करने लगा।

शीघ्र ही भगवान विष्णु ने प्रकट होकर पूछा—'मांगो, क्या चाहते हो।' गाधि बोला, 'जो अनहोनी घटनाएं मैंने स्वप्नवत् अवस्था में देखीं, वे जागृत अवस्था में भी सत्य निकलीं - यह क्यों कर हुआ ?'

भगवान ने उत्तर दिया, 'यह जो तुम अब देखते हो, यह भ्रांति मात्र है, यह आत्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त बाहर कुछ नहीं है। जिस प्रकार वृक्ष बीज में निहित है, यह सब कुछ मन के भीतर है, मन उसे बाहर की भांति देखता है। यह मन है जो इस सब को अब देखता है, इसे भविष्य के लिए मन में कल्पना करता है और भूत में हुआ वैसा स्मृति में लाता है। यह मन ही है जो स्वप्न देखता है, भ्रांति अथवा रोगादि का अनुभव करता है।'

जिस प्रकार जड़ से उखाड़ने पर वृक्ष में पुष्प नहीं लगते, इसी प्रकार मन के संकल्प विकल्प रहित होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

मन में हजारों विचार उत्पन्न होते रहते हैं - तुम्हारे मन में जो भी विचार थे, वही दृश्य तुमने देखे हैं - जो कुछ तुमने अनुभव किया, वह सब मन की भ्रांति थी। न तुम्हारे पास कोई ब्राह्मण

आया, न तुम कहीं गए। हे पवित्र आत्मन् ! तुमने दोनों प्रकार की भ्रांतियां देख लीं - एक वह जो तुमने स्वयं मिथ्या समझा था और दूसरा वह जो तुमने यथार्थ समझा। दोनों वस्तुतः मानसिक उद्भावनाएं हैं। तुम यथार्थ में भूतमण्डल में नहीं गए, न किरा देश में गए, जहां तुम्हें पुराना देखा हाल बताया हो।

हे महात्मन् ! उठो और उचित कार्यों में लगो, क्योंकि बिना क्रियाशीलता के इस जीवन मे प्राप्त करने योग्य उपलब्ध नहीं हो सकता।

गाधि एक बार फिर भूतमण्डल आदि स्थानों में मन में निश्चय करने के लिए गया - वहा फिर लोगों से वहीं कहानियां सुनी - और फिर भगवान विष्णु का आह्वान किया तो उन्होंने प्रकट होकर इन मानसिक विचारों का रहस्य समझाया—बोले, हो सकता है जो कुछ तुम ने देखा, यथार्थ मे किसी समाज में हुआ हो - वे विचार तुम्हारे अन्तःकरण (subconscious mind) में अंकित है। जसे मन कभी कभी अनुभव की हुई बातो को भूल जाता है, ऐसे ही कभी बिना अनुभव की हुई सोचने लगता है। यह सब माया का चमत्कार है। यद्यपि कुतन्जा बहुत वर्षों पूर्व हुआ हो, परन्तु तुम्हारी अन्तर चेतना में वह वर्तमान में प्रतीत हुआ। ज्ञानी के हृदय मे इस प्रकार के विचार उत्पन्न होकर उसे सताते नहीं, क्योंकि वह समझता है सब कुछ ब्रह्म है - माया के चक्र में फसकर दुख-सुख की अनुभूति अज्ञानी को ही होती है।

'हे ब्राह्मण ! तुम्हें अभी पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, इसलिए तुम्हारे मन में भ्रान्ति है। यह माया चारों और फैली हुई है, जो व्यक्ति केन्द्रस्थित हो जाता है, वह भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है। उठो ! तुम दस वर्ष तक गहन ध्यान करो।'

तत्पश्चात् गाधि ब्राह्मण ऋष्यमूक पर्वत जाकर अत्यन्त प्रबल ध्यान और चिन्तन में संलग्न हो गया और आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया। विवेक जागृत होने पर वह सारी आसक्तियों से मुक्त होकर हृदय में दिव्य आनन्द की अनुभूति करता हुआ जीवन मुक्त की भांति रहने लगा। संसार मे रहते हुए भी वह आत्मानन्द में स्थित था।

(ख) संत उद्दालक

मन की प्रबल शक्ति का वर्णन करते हुए वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! यह मन शरीर रूपी जगल में वृक्ष की भांति दृढ़ता से जमा हुआ है - जो वासनाओं और विषयानन्दों से सुसज्जित है। आशा-आकांक्षाएं इसकी शाखाएं हैं। इस विश्व के विविध आकर्षणों से और पूर्वजन्मों की सूक्ष्म वासनाओं के प्रभाव से मन अति सूक्ष्म और भ्रामक हो गया है। यह समाधि के आनन्द अनुभव के लिए बाधा बना हुआ है। जब तक इस भयंकर विषैले वृक्ष को विवेकशीलता से काटकर फेंका नही जाएगा, तबतक अज्ञानता का नाश कर हृदय में ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। अतः विचारणा रूपी कुल्हाड़ी से मन को नष्ट कर डालो।

इस प्रसंग में राम के द्वारा उपाय पूछने पर मुनिवर संत उद्दालक का कथानक सुनाते हैं—हे राम ! गन्धमादन पर्वत की घाटियों में जहां ऊंचे ऊंचे वृक्ष हैं और पृथ्वी सुन्दर पुष्पों से आवृत है - वहां एक उद्दालक नाम का युवक सन्यासी रहता था। छोटी अवस्था में ही उसके चित्त में उच्च आत्मज्ञान प्राप्ति का भाव जागृत हो गया था। तपस्या के प्रभाव से उसका चित्त शुद्ध हो गया और उसने संसार के चक्र के दुखों से मुक्ति पाने का दृढ़ संकल्प ले लिया।

उद्दालक मन में सोचने लगा—'मनुष्य के सारे कर्मों का लक्ष्य क्या है - संसार चक्र के दुखों से मुक्त होने का क्या उपाय है और किस प्रकार बारम्बार जन्म मरण से मुक्ति मिले। कब मेरा मन सांसारिक विचारों और कामनाओं से अनासक्त होगा और कब मैं विवेक रूपी नौका की सहायता से इच्छा ओं के प्रवाह को पार करूगा ?

कब मैं शारीरिक चेतना से ऊपर उठकर विशाल ब्रह्माण्ड से अभिन्नता अनुभव करूंगा ?

यदि मन विरामित हो जाय तो विना शक्ति के स्पंदन में शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है। यह स्पष्ट है कि मैं शरीर नहीं हूं - मन के नष्ट होने पर मांस और अस्थि से बना शरीर रहे या न रहे मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता - मृतक लाश जीवन संचालन नहीं करती - जीवन तो अमर आत्मा है।

जहां आत्मज्ञान है, वहा न मन है न इन्द्रियां, न वृत्तियां न विचार। मैंने यह निर्वाण की स्थिति प्राप्त कर ली है। मेरे लिए मन इंद्रियां और देह क्रीड़ा की वस्तु रह गयी हैं। परिशुद्ध, निष्कामता, निर्भयता, शान्ति, सत्य, ज्ञान, मैत्री, वाणी का माधुर्य, सार्वभौमिक एकता एवं चित्त की एकाग्रता आदि मेरे सतत् साथी रह गए हैं। सारी भ्रांति समाप्त हो गई, दुर्विचार नष्ट हो गए, चित्त रहा नहीं - अब मैं शान्तिपूर्वक आत्मस्थित हूं।

पर्वत कन्दराओं में रहते हुए इस प्रकार बारम्बार चिन्तन करते करते उद्दालक ध्यानाभ्यास में सलग्न हो गया, परन्तु उसका चित्त विक्षेप बन्द नहीं हुआ। ध्यानाभ्यास के बीच कभी उसे सात्विक भावों की आनन्दमय अनुभूति होती, कभी राजसिक वृतियों में भटकने लगता। समय समय पर उसे चिदाकाश में सूर्य का प्रकाश उदय होता - परन्तु फिर अज्ञानान्धकार में डूब जाता।

वसिष्ठ जी कहते हैं—इस प्रकार चढ़ाव-उतार आते आते उद्दालक पहाड़ की गुफा में जाकर गम्भीर ध्यान के लिए बैठ गया - जहां आकर्षक प्राकृतिक सौरभ था और मंद मंद सुगन्धित वायु चल रही थी - और वन - देवियों के निवास स्थान के समान अत्यन्त शान्तिपूर्ण सुरम्य वातावरण था। हे राम ! मानो मधुमक्खी अमृत प्राप्ति के लिए कमल में प्रवेश करती हो - ऐसे ही मुनि उद्दालक ने आत्मिक प्राप्ति हेतु गुफा में प्रवेश किया।

अब सन्त उद्दालक आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्राप्त करने के लिए मृगछाला बिछाकर सिद्धासन बैठ गया। संसार के पदार्थों के त्याग से उसका चित्त आत्मा के विशद आकाश में विस्तार पाने हेतु शरद-ऋतु के बादलों जैसा निर्मल हो गया था। श्री उद्दालक अपने मन को इसप्रकार धिक्कारने लगा - हे चित्त ! सांसारिक पदार्थों में रमकर तुझे क्या मिलेगा ? ये पदार्थ कष्टों के घर हैं, ज्ञानीजन इनमें नहीं रमते। सांसारिक पदार्थों की इच्छा - आकांक्षाओं से तुम मुझे अनेक प्रकार के कष्ट दे सकते हो - परन्तु अब तुमने सांसारिक ऐश्वर्यों को त्याग दिया है, इसलिए दुखों के स्थान पर अब तुम्हें अनन्त आनन्द देना चाहिए।

हे चित्त ! अब तुम मोक्ष का असीम आनन्द देने वाली समाधि में प्रवेश करने की चेष्टा क्यो नहीं करते ? तुम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर आकर्षित होकर पांचों इन्द्रियों के प्रभाव में आकर आपत्ति मोल लेते हो।

हे मूर्ख अज्ञानी चित्त ! जिसप्रकार रेशम का कीड़ा स्वयं अपने लिए बन्धन तैयार कर लेता है, इसी प्रकार तुमने अपने बन्धन के लिए वासनाओं का जाल बुन लिया है। सर्वप्रथम तुम्हें निष्काम कर्मों के द्वारा चित्त शुद्धि करके गहन ध्यान करना चाहिए, फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन में सलग्न हो जाना चाहिए, जब तक ज्ञान रूपी सूर्य का जाज्वल्यमान प्रकाश तुम्हारे हृदय को आच्छादित न कर ले। अभी तक मैं अज्ञानता की चालाकियों से घिरा रहकर कष्ट पाता रहा - अब सौभाग्य से मैंने ज्ञान के अमूल्य कोष को चुराने वाले चोर को पकड लिया है - वह चोर है मन ! मन का आत्मा से कोई सम्बन्ध नही। आत्मा शरीर में रहता है, सर्वव्यापी, शाश्वत और अद्वैत है। मन में उठने वाले अहंभाव के विचार 'मैं'- मेरा, 'तू - मेरा' सब मिथ्या हैं। जब यह अनुभूति हो जाय कि ब्रह्म ही एक सार्वभौम सत्ता है, अन्य कोई विभाजन नहीं, तब मन की यह चालाकी पकड में आ जाने से मन रूक जाता है। अहंभाव की भ्रांति नील गगन के समान है - इसे त्यागना ही श्रेयस्कर है। अहंभाव जो संसार के अस्तित्व की जड़ है, उसे त्याग कर मैं शान्तिपूर्ण आत्मा में स्थित हूं।[1]

1 सुप्रीम योग —स्वामी वेंकटेशानन्द, पृ० 287

मन स मेरा काई सम्बन्ध नही रहा जो अपनी इच्छा पूर्ति के लिए देह को चाहता है मै तो शरीर और मन से ऊपर परम सत्ता हूं। जिस प्रकार दूध बिलो कर मक्खन ऊपर आ जाता है, उसका छाछ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही अब शरीर, मन और इन्द्रियों से मेरा कोई नाता नहीं रहा। फिर भी मेरे पूर्व कर्म फलों की पूर्ति होने तक ये (शरीर, मन, इंद्रियां) मेरे साथ भल पडौसियों की भांति मेरे साथ रहेंगे।

वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! संत उद्दालक अपनी बुद्धि के पूर्ण रूपेण शुद्ध होने से विश्वस्त होने पर पद्मासन लगा कर नेत्र बंद कर के ऊं पर ध्यानावस्थित हो कर बैठ गया।

ऊं में तीन अक्षर होते हैं - 'अ उ म' एवं 'अर्धाक्षर'ँ। सर्वप्रथम 'अ' पर ध्यान लगाकर रेचक (श्वास बाहर निकालना) किया। अपनी मानसिक दृष्टि से उसने देखा कि उसका शरीर प्राणो से रिक्त हो गया है, ऊं के 'उ' पक्ष पर ध्यान लगा कर 'कुम्भक' (श्वास रोकना) का अभ्यास किया इस अवस्था में प्राण न भीतर थे, न ऊपर - नीचे कहीं, बल्कि लहरों रहित समुद्र की भांति स्थित रहे।

तत्पश्चात् उसने ऊं के 'म्' अंश पर ध्यान लगाया - पूरक का अभ्यास करते समय कल्पना की मानो अपनी आत्मा की गहराइयों में अमृत भर दिया हो, और इस प्रकार वह बर्फ से ढके हुए पर्वत की भांति ठंडा और शान्त हो गया।

फिर संत उद्दालक ने ऊं के अर्ध अक्षर म् पर चित्त स्थित करके भावातीत स्थिति की प्रक्रिया आरम्भ की। उसने इन्द्रियो का प्रत्याहार करके ध्यान स्थिति में स्थित होकर बैठगया - तब वह निर्विकल्प समाधि के लिए चित्तशुद्धि में रत हो गया। चित्तशुद्धि के उत्तरोतर बढ़ते बढ़ते उसे प्रज्ञा-ज्ञान की उपलब्धि होने लगी। अब वह संसार चक्र के विक्षेपों से मुक्त होकर विश्व के आधार परमसत्ता में स्थित हो गया।[1]

शरीर से अपने आप को अलग करके वह संत अवर्णनीय अवस्था दिव्यत्व - से एक रूप हो गया जो शुद्ध, शाश्वत एवं परमानन्द का सागर है। वह वायु रहित दीपक की लौ के समान स्थित अथवा लहरों रहित समुद्र के समान शान्त हो गया। महात्मा उद्दालक दीर्घकाल तक समाधि में लीन रहा इस अवधि में उसे सिद्ध गण और स्वर्ग के देवता आदि दिखे - छः महीने इस अवस्था मे रहने के फलस्वरूप उसने जीवन मुक्त का स्वरूप प्राप्त कर लिया।

देवगण, सिद्ध और अपने गणो सहित शिवजी आदि ने उसके सम्मुख प्रकट होकर अपनी अपनी शक्ति के वरदान प्रस्तुत किए किन्तु उद्दालक किसी प्रलोभन में नहीं आया। वसिष्ठ जी कहते हैं कि स्वर्गीय आनन्द की झलक मिलने के पश्चात् मनुष्य इस पृथ्वी के भोगों से आकर्षित नही होता। वह पर्वत की घाटी में सुहावने प्राकृतिक वातावरण में विचरण करता रहा - बीच बीच में दिन, महीने, अथवा वर्ष भर के लिए समाधि का सुख अनुभव करता रहा।

धीरे धीरे वह महात्मा सत्ता सामान्य की स्थिति को प्राप्त करके जो कुछ अस्तित्व है, सब का सार बन गया। संसार के सूक्ष्म संस्कार भी उसके हृदय से धीरे धीरे निकलने लगे। विक्षेपो के समुद्र को पार करके, कर्मों की बेड़ियों को तोडकर, भ्रांति के आवरण को चीरकर सन्त उद्दालक ने संसार चक्र को स्मृति से निकाल लिया और ब्रह्म से एक रूप हो गया। जैसे कछुआ अपने अगों को शरीर में समेट लेता है, ऐसे ही सन्त ने विश्व को अपनी आत्मा में निहित कर लिया। अन्ततोगत्वा ज्ञान की छटी सातवीं भूमिकाओं पदार्थ भावना और तुर्या को प्राप्त करके प्रारब्ध कर्मों के पूर्ण रूपेण समाप्त होने की प्रतीक्षा में जीवन यापन करता रहा।

---

1 योगवासिष्ठ तृतीय भाग, पृ० 154 - स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा

दीर्घ काल के पश्चात् उसने विदेह मुक्त होने अर्थात् स्थूल शरीर से मुक्त होने का निश्चय किया। वह प्राणों का निरोध करके शरीर मन और इंद्रियों के स्पन्दनों को बंदकर दिया और आत्मा पर ध्यान लगाकर मन के समस्त विचारों को विलीन कर दिया। आत्मानन्द का किंचित् भी अनुभव करने के पश्चात् चित्त उस में लीन हो जाता है। इस प्रकार संत उद्दालक विदेह मुक्ति को प्राप्त हुआ - उसका मुख आनन्द से चमकने लगा और वह सर्वात्मा बन गया।

संत उद्दालक का निर्जीव शरीर छः महीने उसी स्थान पर पड़ा रहा - सूर्य की किरणों से सूखकर कर्कश हो गया था - उसके अस्थिपंजर में हवा चलने पर संगीतात्मक ध्वनि होती थी।

एक रात्रि को चौमण्डा देवी अपने अनुचरों सहित वहां आई और उद्दालक के मृतक शरीर को श्रृंगार रूप में मुकुट की भांति अपने सिर पर रख लिया। इस प्रकार संत के मृतक देह को भी देवी के द्वारा परमोच्च मान दिया गया। मुक्ति की अवस्था निश्चय ही अत्यन्त गौरवमयी होती है।[1]

महर्षि वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! आत्म चिन्तन, अनासक्ति और समाधि के अभ्यास में संलग्न होकर शनैः शनैः आत्मज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ो, जब तक तुम शान्तिपूर्वक आत्मस्थित न हो जाओ।

(ग) राजा भागीरथ

राम को सत्य का ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाभाविक मार्ग पर दृढ़ रहने हेतु प्रेरित करते हुए वसिष्ठ जी राजा भागीरथ का कथानक सुनाते हैं।[2]

राजा भागीरथ बड़ा धर्मात्मा था - संत जनों को देखकर उसका हृदय आनन्दित होता था - वह भले लोगों को उदारपर्वूक दान देता था और दुष्टों को दण्ड - वह अपने राज्य से दीनता दूर करने को कटिबद्ध था। छोटी अवस्था से ही उसमें विवेक और वैराग्य दृश्यमान थे। हे राम ! एक दिन वह संसार की अनित्यता और जन्म मरण के चक्र पर चिन्तन करने लगा कि यह सांसारिक जीवन सारहीन है । मैं तो वह स्थिति चाहता हूं जिसके आगे और प्राप्त करने को कुछ न रहे। वह अपने राजगुरू त्रिताल के पास गया, बोला भगवान ! मुझे वह उपाय बतावें, जिससे संसार के दुखों, वृद्धावस्था और मृत्यु से छुटकारा हो। गुरु ने बताया, दीर्घ काल तक आत्मा के समभाव में स्थित होने पर दुख का अन्त हो जाता है, बन्धन से मुक्ति और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। ज्ञातव्य के ज्ञान से विविधता की दृष्टि का अन्त हो कर पूर्णता का अनुभव होता है, वह है शुद्ध चैतन्य आत्मा, जो सर्वव्यापी और शाश्वत है।

भागीरथ के पूछने पर गुरु स्पष्टीकरण करते हैं कि - बौद्धिक ज्ञान ज्ञान नहीं है - घर, पत्नी-परिवार में अनासक्ति दुख-सुख में समान भाव, एकान्त वास और आत्मज्ञान में स्थित होना यह ज्ञान है और सब अज्ञान है। फिर भागीरथ ने पूछा कि शरीर में अहंभाव दृढ़ता से जमा हुआ है - यह कैसे हटे ?

इसपर त्रिताल कहते हैं - श्रवण, मनन, निदिध्यासन से और दृढ़ संकल्प द्वारा इन्द्रिय विषयों से मुंह मोड़कर यह सब त्यागने से अहं का लोप होगा और तुम्हें अनुभूति होगी कि तुम परम सत्ता हो।

गुरु मुख से यह ज्ञान सुनकर राजा भागीरथ ने संसार का पूर्ण त्याग हेतु अग्निष्टाम यज्ञ करने का निश्चय कर लिया और तीन दिन में सारा धन सम्पत्ति ब्राह्मणों एवं निजी संबंधियों को

---

1. योगवासिष्ठ, भाग तृतीय - स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा।
2. राजा भागीरथ की कथा पुराणों में वर्णित है कि अपनी तपस्या के बल से चित्त शुद्धि द्वारा अपने पितरों का तर्पण करने हेतु वह गंगा जी को पृथ्वी पर लाए थे

दान कर दी और राज्य की सीमा के दूसरी ओर बसे हुए शत्रुओं को दे दिया। स्वयं कोपीन पहिन कर अज्ञात देशों व जंगलों में भ्रमण करने लगा। शीघ्र ही उसे पूर्ण शान्ति की स्थिति प्राप्त हो गई।

घूमता घूमता अनजाने में एक बार अपने राज्य में आ गया। लोगों ने अनुनय-विनय की कि अपना राज्य सम्हालो - पर वह भिक्षा के अतिरिक्त कुछ नहीं लेता था। वह फिर अपने गुरु से मिला। दोनों जने साथ साथ भ्रमण करते हुए ज्ञान चर्चा करते रहते थे। एक बार सोचा कि इस स्थूल शरीर का बोझा क्यों ढोवे - फिर सोचा, चलो जब तक चले चलने दें। हर स्थिति में एक रस रहते जीवन व्यतीत करते रहे। कोई देवता या सन्त महात्मा भी धन दौलत अथवा सिद्धिया प्रदान करते तो उन्हें स्वीकार नहीं था।

किसी राज्य में एक राजा बिना उत्तराधिकारी के संसार से कूच कर गया - वहां के लोगों ने राजा भागीरथ को सब प्रकार से योग्य जानकर राजा बनाना चाहा और उसने स्वीकार कर लिया - इतने में उसके पुराने राज्य के लोगों को पता पड़ा - उन्होंने अनुरोध किया कि वह अपने राज्य को भी सम्हाल ले - उसने वह भी स्वीकार कर लिया और जीवन मुक्त की भांति एकछत्र राजा बन गया। वह दया भाव और समझदारी से राज्य करता था। न अभिमान था, न ईर्ष्या द्वेषभाव। सब प्रकार की आसक्तियों से रहित था।

अब उसे अपने पूर्वजों की कहानी याद आई जो कपिल मुनि के क्रोध के शिकार बन कर नष्ट हो गए थे - उनकी आत्माओं की मुक्ति के लिए भागीरथ ने गंगा जी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने के लिए घोर तपस्या की। उसने हजार वर्षों तक ब्रह्मा, शिवजी, जह्नु ऋषि पर ध्यान लगाया। अपनी तपस्या से उन दैविक शक्तियों को प्रसन्न करके भागीरथ गंगा जी को हिमालय पर्वत से पृथ्वी पर ला सके। आज भी गंगा का प्रवाह भागीरथ की महिमा गाता है और गंगा जी के नाम भागीरथी और जान्ह्वी पड़े।[1]

(घ) बृहस्पति पुत्र कच

एक बार बृहस्पति पुत्र कच आध्यात्मिक ज्ञान की ऊंचाइयों पर पहुंच गया। निरन्तर श्रवण मनन और ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप उसे विश्वास हो गया कि केवल आत्म स्वरूप ही यथार्थ सत्य है और विश्व मिथ्या भ्रांति मात्र है। उसनें अपने पिता से आत्मज्ञान की इच्छा प्रकट की और त्याग द्वारा परम शक्ति का मार्ग अपनाया।

कच ने पिता के निर्देशानुसार सर्व प्रथम सब कुछ त्याग कर आठ वर्ष तक एकान्त में जाकर तपस्या की - पुनः आकर पूछा तो पिता ने कहा कि मन के त्याग से पूर्ण त्याग होगा। मन क्या है ? यह समझने के लिए कि 'अहंभाव' ही मन है, जो अज्ञानता के कारण प्रकट होता है, बताया कि अपनी परिमितता जो मानसिक आवरण है, उसे त्याग दो - तुम समय और काल की सीमाओं से परे असीम हो। इस प्रकार कच ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थित हो गया। वसिष्ठ जी कहते है, हे राम ! अज्ञानावस्था में ही विश्व दृष्टि आता है, वस्तुतः तुम स्वयं भी शुद्ध अन्तःकरण हो और जगत भी शुद्ध चैतन्य के प्रति रिक्त शुद्धि (?) नहीं, ज्ञानी पुरुष सब कुछ ब्रह्म रूप ही देखता है। उसको ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ दृष्टि नहीं आता। आत्मा शुद्ध अन्तःकरण है। अत्यन्त सूक्ष्म भावात्मक मात्र - ब्रह्म ही जगत् रूप में प्रकाशमान है।

बृहस्पति पुत्र कच ने ज्ञान में स्थित होने पर जो गीत गाया उसके हृदयोद्‌गार आत्मज्ञानी की उक्त स्थिति का यथार्थ चित्रण वसिष्ठ जी राम को सुनाते हैं। कच कहता है—

मैं क्या करूंगा, कहां जाऊंगा, क्या त्यागूंगा - यह सम्पूर्ण संसार उस एक ही आत्मा से

---

1 का तात्विक अर्थ देखिए योगवासिष्ठ चतुर्थ भाग, स्वामी ज्योतिर्मयानन्द पृ० 238

ओतप्रोत है। दुख व रंज वही आत्मा है और सुख भी वही है। सारी कामनाएं खोखली शून्यवत है। यह ज्ञान होने पर कि सब कुछ आत्मा - मैं - ही हूं मैं सब के झंझटों से मुक्त हो गया है। शरीर के भीतर - बाहर, ऊपर नीचे - यहां वहां - सर्वत्र आत्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। मै ही ये सब हू - मैं पूर्णता हूं, मैं आत्मानन्द हूं - सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सार्वभौम सागर के समान मैं ही व्याप्त हूं।

इस प्रकार आत्मा की महिमा गाकर ऊं कार शब्द करता हुआ उसकी गूंज मे एक रूप हो गया।

कच ने मेरू पर्वत के जंगलों में ध्यानावस्था में बैठे हुए आत्मा की महिमा का गान किया और ऊं पर ध्यान का अभ्यास करके भौतिक चेतना को मानसिक चेतना में विलीन कर दिया और मानसिक चेतना को सार्वभौम आत्मा में। तब वह जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति - तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर परम सत्ता से एकरूप हो गया। वह उस आकाश के समान निर्मल हो गया, जिनसे बादलों का आवरण ज्ञान रूपी प्रबल आंधी के द्वारा छिन्न-भिन्न हो गया हो। [1]

3 ध्यान और विचारणा

निरन्तर ब्रह्म विचार से चित का समस्त मल दूर होकर चित शुद्धि होती है - यह सोचना कि 'मैं कौन हूं', 'जन्म-मरण क्या है', 'यह ब्रह्माण्ड क्या है, कहां से आया', 'मुक्ति क्या है, बन्धन क्या है' इस प्रकार की विचारणा से हृदय में ज्ञान की उत्पत्ति होती है - विचारणा से बाह्य पदार्थों के प्रति आशा आकांक्षा नष्ट होगी - ज्यों ज्यों पदार्थों के लिए आकांक्षा नष्ट होगी, त्यों त्यों ब्रह्म का प्रकाश अनुभूत होगा। ब्रह्मज्ञान से हृदय की तीन ग्रन्थियां अविद्या, काम और कर्म नष्ट होती हैं।

ब्रह्म विचार को निरन्तर अपना स्वभाव बनाने से मन पर नियन्त्रण होगा और ब्रह्माकार वृति बनेगी।

इन्द्रियों पर संयम करो, उमड़ते हुए विचारों को शान्त करो और आशा-आकांक्षाओं को त्यागो, वाणी पर संयम करो, श्रवण - मनन और निदिध्यासन द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करो - फिर आत्मस्थित होकर ध्यान करो, तब आत्मसाक्षात्कार होगा। [2]

समाधि अवस्था में महर्षि वसिष्ठ को शिवजी का दर्शन होने पर वसिष्ठ जी ने प्रश्न किया, भगवन् ! शाश्वत असीम आत्मा में अनादि काल से विविधता आ रही है - वह क्यों उत्पन्न हुई और कैसे दूर होगी। इस पर शिव जी समझाते हैं : मुनिवर ! ब्रह्म तो सदैव सत् चिद् आनन्दरूप ही रहा है - वही मानव का यथार्थ है - सत् चित रूप अज्ञानता के कारण आंख से ओझल रहता है। अज्ञानी को भ्रांतिवश विविध रूपीय दृष्टि आता है - ज्ञानी को एक ही सत् चित् रूप ब्रह्म दृष्टि आता है। अज्ञानता के कारण ये भेदभाव प्रतीत होते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा अद्वितीय ब्रह्म को सत् स्वरूप की चेतना जागृत होकर विविध रूपता विलीन हो जाएगी।

जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, किन्तु समुद्र के अतिरिक्त है कुछ नहीं, जैसे पुष्प, पत्तियों, कलियों और फलों में भिन्नता है, उसी प्रकार एक शुद्ध चैतन्य अनेक रूपों में प्रकट होता है - 'मेरा तेरा, मैं - तू आदि विभिन्नता अज्ञानतावश प्रतीत होती है। मनुष्य में अन्तरतम आत्मा ही सारे नाम रूपों के पीछे उस का यथार्थ है।

इस तथ्य पर चिन्तन करके संकल्पों को दूर करने से यथार्थ सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। शिव जी कहते हैं कि वासना रूपी सूर्य के फंदे से बुद्धि मुक्ति हुए बिना कोई आत्म प्रकृति

---

1. योगवासिष्ठ, चतुर्थ भाग - स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा, पृ० 243
2. स्वामी शिवानन्द

का प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं कि आत्मा सूक्ष्म वासनाओं के तूफान में भटक रही है - विचार द्वारा विवेक बुद्धि रूपी पर्वत से उस तूफान को रोककर आत्मा को अपने प्रकृत रूप में प्रकट होने का मार्ग प्रशस्त करो। यह विश्व मन की कल्पना मात्र है - आत्म चिन्तन द्वारा अपनी यथार्थ प्रकृति को समझ कर सब मानसिक कल्पनाओं, संकल्पों को त्यागने पर प्रज्ञा शक्ति द्वारा विश्व ब्रह्म रूप दृष्टि आने लगता है।

समस्त प्राणियों की आत्मा अपने हित - अहित का उपदेशक गुरु है - आत्म चिन्तन द्वारा यथार्थ सत्य को पहिचानने की दृष्टि प्राप्त होती है। वस्तुतः हम सत्य से संबंधित हैं - सत्य से यथार्थ संबंध को न समझने के कारण दुख होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को ज्ञान देते हुए कहा है—संसार के सारी बातें उस सत्य के माध्यम से हैं - पति-पत्नी, सन्तान तथा अन्य सब जीव उनके लिए प्यारे नहीं है - हमारी आत्मा उनकी आत्मा से संबंधित है, इसलिए उनसे प्रेम है। हमें आत्मा प्रिय है, अतः उससे संबंधित पदार्थ भी प्रिय हैं। आन्तरिक भाव यथार्थ से हमारा संबंध कराता है। अन्तर्मुखी होकर अमृतत्व से स्पर्श करना अमरता की कुंजी है। बाह्य रूपो को यदि आत्म स्थित मानें तो यथार्थ संबंध की अनुभूति होगी। सत्य से सम्बन्ध विच्छेद होने के कारण बाह्य रूपों से मोह का नाता बन जाता है, जो दुख का कारण है।

बाह्य रूपों का आधार आन्तरिक सता है। ध्यान द्वारा स्पर्श करके आत्मिक आधार मिलेगा तब सारी सृष्टि का अविभाज्य एकरूप देखने की दृष्टि मिलेगी।

मन में निरन्तर जो चिन्तन किया जाता है, वही हो जाता है, यही ध्यान की महत्ता है।

देह की उपेक्षा करके मन और इंद्रियों पर नियन्त्रण करके शान्त होकर बैठ जाओ और ध्यान करो कि मैं शरीर, मन, इंद्रिय बुद्धि - अहंकार नहीं - मैं सत् चिद् आनन्द स्वरूप स्वयं प्रकाशवान ब्रह्म हूं - वह ब्रह्म जो पंच कोषों का और सम्पूर्ण विश्व का आधार है। इसी भाव को चलते-फिरते, उठते बैठते निरंतर बनाए रक्खो - शीघ्र ही ब्रह्मज्ञान जागृत होगा।

ज्यों ज्यो विचारणा प्रक्रिया से वासना रूपी बादल मन से छिन्न-भिन्न होते हैं, त्यो त्यों आत्मा का प्रकाश अपनी अनन्त महिमा के साथ प्रकट होता है। आत्मा का प्रकाश ही योगी में विचारणा की प्रक्रिया में योग देता है।

विचारणा द्वारा मन का विक्षेप समाप्त होकर दैवी गुणों की उत्पत्ति होती है और आत्म ज्ञान की उत्पत्ति के कारण पदार्थ भावना छूट जाती है, सर्वत्र आत्मा की प्रतीति होती है। मन पर अनासक्ति छा जाती है, अत. योगी सुख दुःख के प्रति निरपेक्ष हो जाता है।

जैसे दूध से मथकर मक्खन निकाला जाता है, वैसे ही आत्म विचार से आत्मा को ध्यान द्वारा मथकर आत्मतत्व प्राप्त होता है।

जैसे दीपक के प्रकाश से पदार्थ पाया जाता है, वैसे ही संतों के संग और आध्यात्म शास्त्र के विचार से जो दृश्य भाव को त्याग कर आत्म तत्व में स्थित होता है, वह परम पद पाता है।

आत्मज्ञानी संतों का कथन है कि चित को सारे विक्षेपों रहित काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि विकारों से रहित - करके स्वच्छ वेत्ताओं, दृश्य पदार्थों से संबंधित विच्छेद करके वासना रूपी झाडी को नष्ट करो और तृष्णा को उखाड़ कर ब्रह्म का ध्यान करो - तब शीघ्र ही शाश्वत ज्योतिर्मय ब्रह्मपद प्राप्त होगा।

आत्म चिन्तन (विचारणा) के द्वारा अज्ञान (अविद्या) नष्ट होने पर ही ब्रह्म पर ध्यान स्थिर होगा।

मनुष्य के चिन्तन का रूप ही उसकी अन्तर्चेतना को जीव, ईश्वर, मनुष्य, देवता अथवा सार्वभौम आत्मा का रूप देता है। यदि हम अन्तर्चेतना में विचारते हैं कि हम शरीर हैं तो सीमित देह रूप रह जाते हैं - यदि अपने को सार्वभौमिक शुद्ध चैतन्य अथवा ईश्वर रूप में चिन्तन करें

ता निश्चय ही वह बन जाएंगे इसलिए कहा जाता है मन यु । कि सा यु विकम जैसा सोचते हो वैसा ही हो जाते हो

जीवात्मा यथार्थ में सार्वभौमिक सत्ता सच्चिदानंद आत्मा में सबध है, शरीर में नही। अविद्या के कारण उसकी सार्वभौमिक प्रकृति ने एक भिन्न अस्तित्व बना लिया है, अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर 'अहं' नाम से अपने को स्वतन्त्र अस्तित्व जतलाता है। फलस्वरूप उस अहं से संबंधित पदार्थों से मोह और दूसरों से द्वेष आदि के नाते बन जाते हैं - जो दुख देने वाले हैं।

अब पुनः अपने सार्वभौमिक स्वरूप को प्राप्त करने का सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय है परमसत्ता ब्रह्म का चिन्तन - ध्यान। आत्मा पर ध्यान करने से बाह्य पदार्थों और उनके संबंधों को भूलकर चित्त ब्रह्माण्ड से एक रूप हो जाता है।

ध्यानावस्था में समय, दूरी - भूत, वर्तमान आदि की सीमाएं नहीं रहतीं सारी मानसिक उपाधियों के शान्त होने पर ही आत्मा पर ध्यान स्थिर होता है, जब मात्र यह चेतना रहती है कि शाश्वत 'अब' में 'मैं हूं' यथार्थ 'मैं' ध्यान के अभ्यास से द्वैतभाव विलीन होकर चित्त भावातीत अवस्था - समाधि - में चला जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने शिष्यों को बताया है, 'अन्तरम् स्थित आत्मा को ध्यान द्वारा स्पर्श किया जा सकता है और जब ध्यान स्थिर हो जाता है तो माया अर्थात् दृश्य जगत का लोप हो जाता है।' आगे कहते हैं, 'वह आत्मा सब में समान है, जितना अधिक अभ्यास करोगे, उतना जल्दी अनुभूति होगी।'

श्री स्वामी विद्यारण्य ने अपनी पंचदशी में ध्यान की महत्ता बताते हुए लिखा है कि सच्चे मुमुक्षु साधक में गम्भीर विवेक और वैराग्य है तो उसके लिए ब्रह्म को प्राप्त करना कठिन नही विचारणा के द्वारा शास्त्रो मे पढ़े अनुसार उसे दृढ़ विश्वास हो जाय कि वह स्वयं ही ब्रह्म हो तो जो कुछ पढ़ा और गुरु से सुना है, उसकी स्वयं अनुभूति गहन ध्यान के द्वारा हो सकती है।

महर्षि वसिष्ठ राजा सुरघ का प्राचीन कथानक प्रस्तुत करके राम को कहते हैं, हे राम! तुम भी राजा सुरघ की भांति आत्मज्ञान प्राप्त करके अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए संसार में रहो। कैलास पर्वत की घाटी में हेमजात नाम के जंगली लोग रहते थे। उनका राजा सुरघ बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानवान था। न्याय पूर्वक शुभ कृत्यों सहित राज्य करता था - कुछ समय पश्चात् उसके मन मे वैराग्य उत्पन्न होने लगा और सोचने लगा कि मैं क्यों प्रजा पर शासन करता हूं, क्यों उन्हें दण्ड देता हूं - वे भी तो मेरी भांति मानव आत्माएं हैं - आदि आदि।

एक दिन माण्डव्य ऋषि सुरघ के महल में आए। वह कृत-कृत्य हो गया। उनका स्वागत सम्मान करने के बाद उनसे अनुरोध किया कि कृपया मुझे आध्यात्मिक ज्ञान दें। मुझे ऐसा उपाय बतावें जो मेरी समदृष्टि बन जाय। माण्डव्य ऋषि बोले, 'राजन्! जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से कोहरा दूर हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा चित्त की भ्रांति दूर हो जाती है। तुम प्रयत्नपूर्वक अपने भीतर विवेक, वैराग्य और आत्मसंयम उत्पन्न करो। फिर शास्त्रों के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (ध्यान-चिन्तन) द्वारा तुम्हारी बुद्धि प्रज्ञा शक्ति में परिणत होगी। इस सब से तुम्हारा मन संसार के दुःखों के प्रति निरपेक्ष हो जाएगा।'

ऋषि बोले, जिसप्रकार शरद ऋतु के आने पर आकाश में बादल छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, उसी प्रकार विचारणा द्वारा मन के संशय दूर होकर चित रूपी आकाश दुखों के ताप से मुक्त हो जाता है।

चिन्तन का स्वरूप बताते हुए माण्डव्य ऋषि बोले - चित्त के दुख-चिन्ता और भ्रमों से मुक्त होने पर तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी और तुम आत्म स्वराज्य के सम्राट बन जाओगे।

हे राजन्! प्रज्ञा ज्ञान द्वारा अज्ञानता का आवरण दूर करके अपनी यथार्थ प्रकृति सत् चिद्

आनन्द स्वरूप प्राप्त करा ऋषि माण्डव्य के चले जाने पर राजा सुरघ एकान्त स्थान मे जाकर चिन्तन करने लगा—

न ये पहाड मैं हूं न मेरे है, न पृथ्वी या किरातों की बस्ती मैं हूं न यह मेरे हैं। इसी प्रकार नगर, नगरवासी, सेना शाही अधिकारी आदि कुछ भी मेरा नहीं है - मेरे मन की कल्पना मात्र है कि मैं अपने को इनका बादशाह मानता हूं - मन संसार के दुखों का कारण है - बुद्धि और अहकार भी जड़ हैं जो अन्तःकरण के प्रकाश बिना कुछ नहीं कर सकते - आदि आदि विचारों के द्वारा राजा सुरघ को आत्म चेतना जागृत हो गई - चित्त की भ्रांति से मुक्त होकर अपनी यथार्थ प्रकृति सत्‌चिद् आनन्द स्वरूप को प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् वह शान्त भाव से बिना परेशानियों के अपना राज्य कार्य करने लगा। दीर्घ काल तक राज्य करने के पश्चात् राजा सुरघ विदेह मुक्त हो गया और प्रारब्ध कर्म पूरे होने पर शरीर त्याग दिया। मानसिक प्रक्रिया के बादलों से रहित वह विस्तृत आकाश जैसा हो गया और जैसे नदी समुद्र में डूब जाती है, या किरण प्रकाशवान सूर्य में लौट जाती है, वह इसी प्रकार ब्रह्म में लीन हो गया।

कथानक आगे बढ़ता है। उसका मित्र राजा परघ भी आत्मज्ञान प्राप्त करके चिरकाल के बाद संयोगवश मिल जाता है। दोनों में आध्यात्मिक वार्तालाप होता है जो जिज्ञासु साधकों के लिए आकर्षण का विषय है। वसिष्ठ जी कहते हैं कि वे यथार्थ में सच्चे मित्र हैं जो मनुष्य के हृदय में वैराग्य की उत्पत्ति करें और वे सच्चे शास्त्र हैं जो मनुष्य को आत्म प्रकृति पर विचारणा हेतु प्रेरित करे।

महर्षि पातंजलि के अनुसार ध्यान का अर्थ है अपने इष्ट लक्ष्य की ओर चित्तवृति को निरन्तर प्रवाहित रखने की प्रक्रिया। इस उद्देश्य से उन्होंने अष्टांग योग बताया है—

"यम नियमासन प्राणायाम पत्याहार धारणाध्यान समाध्यो ष्टाङ्गानि।"

योग के इन आठ अंगों द्वारा ध्यान साधना और समाधि प्राप्त की जा सकती है।[1]

वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक श्री शंकराचार्य ने अपने अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में, जो कि उन की ईश्वरानुभूति प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण है (ट्रीटाइज) लिखा है कि ध्यान चित की वह अवस्था है जिसमें चित्त बिना किसी अवलम्बन के उस परमोच्च भाव में स्थित हो जाता है कि "मै परम आनन्द प्रदान करने वाला ब्रह्म ही हूं।" और इस ध्यान से चित्त की वृतियों में पूर्ण परिवर्तन होकर अन्य सारे विजातीय विचार समाप्त हो जाते हैं। इससे ब्रह्म से एक्यता प्राप्त हो जाती है, जिसे समाधि कहते हैं।[2]

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द ने ध्यान द्वारा अहं का लोप होकर ब्रह्मानुभूति का प्रभावशाली वर्णन एक संस्कृत पद के उद्धरण द्वारा किया है- जिसका भाव है कि जिसका मन क्षण भर के लिए भी ब्रह्म में स्थिर हो जाय तो शास्त्रों में मोक्ष हेतु बताए हुए जप, तप, यज्ञ, दान, पुण्य, तीर्थ आदि कर लेने के समान हैं[3]—

स्नानं तेन समस्त तीर्थ निचयः, दत्तं महिमण्डलम्।
विप्रेभ्यः पितृदेवताः सुरगणाः सवेऽपि सन्तर्पिताः ॥
जपते मंत्र सहस्त्र कोटिरमुना, तपश्च तीव्र तपः।
यस्य ब्रह्म विचारणे क्षणमपि प्राप्नोति स्थैर्य मनः ॥

अर्थात्—जिस का मन क्षण भर भी (ब्रह्म में) स्थिर हो जाय तो मानो उसने सारे तीर्थ कर लिए, समस्त पृथ्वी मण्डल दान में दे दिया, सारे ब्राह्मण, पितृ और देवता गण तृप्त कर लिए, करोडों

---

1. विस्तृत विवरण उनकी पुस्तक राजयोग में दिया हुआ है।
2 3 महाविद्या गुरु श्री स्वामी जी द्वारा रचित सुप्रीम नौलेज से साभार

मन्त्रजप कर लिया और कठोर तपस्या कर ली

यह है महिमा ध्यान और विचारणा की।

मुण्डक उपनिषद् में ध्यान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने हेतु सुन्दर रूपक दिया है। ऋषि कहते हैं—बुद्धि, मन और इंद्रियों को प्रकाशित करने वाला ब्रह्म इनके द्वारा नहीं देखा जा सकता - ब्रह्म के प्रकाश से इंद्रियां, मन, बुद्धि काम करते हैं - ब्रह्म का लक्ष्य करके ॐ रूपी धनुष में शुद्ध की हुई जीवात्मा का तीर रक्खो और गहन ध्यान द्वारा उसे तीक्ष्ण कर के परमसत्ता ब्रह्म रूपी लक्ष्य को भेदो। इसप्रकार ॐ पर अथवा किसी भी इष्टदेव पर ध्यान केन्द्रित करना लक्ष्य बनाओ। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चेतना से ऊपर उठकर जीवात्मा अपनी यथार्थ सत्ता भावात्मक प्रकृति को प्राप्त करे। जैसे बाण अपने लक्ष्य पर पहुंचकर उसमें खो जाता है, ऐसे ही व्यक्तिगत आत्मा अहम् की चेतना खोकर अपने लक्ष्य ब्रह्म से एकरूप हो जाती है।

ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य निरन्तर मन में रक्खे हुए आत्मा को अपने विचारों को उस ओर प्रवाहित रक्खो - यह चित्त की एकाग्रता होगी कि निशाना चूक न जाय।

आधुनिक युग के महर्षि स्वामी शिवानन्द कहते हैं कि अपने लक्ष्य के सर्वोपरि विचार पर चित को केन्द्रित करना ध्यान है। इस प्रकार ध्यान द्वैत भाव से आरम्भ हो कर ब्रह्म रूपी महिमा मयी अन्तर्चेतना के साथ जीवन की एकरूपता में समाप्त होता है।

आत्मज्ञानी साधकों तथा संतजनों ने अपने अपने अनुभव के आधार पर विविध रूपों में ध्यान और विचारणा का रूप और प्रक्रिया वर्णन की है - सबका लक्ष्य और सार यही है कि व्यक्तिगत आत्मा सार्वभौमिक आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है - वह स्वयं ब्रह्म है - सतत् चिन्तन द्वारा विवेक और वैराग्य की उत्पत्ति होने पर चित को येनकेन प्रकारेण आत्मा पर स्थिर करके अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्मत्व को पहिचाने। अपनी अपनी रूचि और परिस्थितियों के अनुसार चित्त को निरन्तर एक लक्ष्य पर लगाने की प्रक्रिया ध्यान है।

इस प्रक्रिया के लिए अनुशासित जीवन शुद्ध और संतुलित आहार और चित्त शुद्धि आधारभूत आवश्यकता है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय मे 11वें से 27वें श्लोक तक ध्यान विधि विस्तारपूर्वक समझाई गई है।

सात्विक भाव, सद्‌गुण विकास और वैराग्य ध्यान में सहायक होता है और ध्यान सत्व गुणों (प्रेम, करूणा, धैर्य, क्षमा, शान्ति) की वृद्धि करता है।

निरन्तर सत्य के चिन्तन से चित्त शुद्धि होती है। ध्यानावस्था में संकल्प विकल्परहित शुद्ध चैतन्य ही रहता है। ध्यान और विचारणा के द्वारा जिसके अन्तःकरण में यह ज्ञान हो गया कि 'मैं ब्रह्म हूं' उसका आश्रय 'शुद्ध ब्रह्म' ही है।

4 मौन की शक्ति —चार प्रकार के मौन

जबतक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं शुद्ध चैतन्य हूं, शरीर मन बुद्धि अहंकार को ही यथार्थ मानता है, तब तक चित्त में विविध रूपीय विश्व के सम्बन्ध में, नित्यप्रति के जीवन में अनेकों विचार मन को आन्दोलित करते रहते हैं, जिनके कारण चितसत् स्वरूप आत्मा पर स्थिर नही हो पाता। ज्ञान होने पर विचार शान्त हो जाते हैं और तभी मन के आत्म पर स्थिर होने की स्थिति बनती है - यह अवस्था मौन कहलाती है। फिर मन में संकल्प विकल्प नहीं उठते - न द्वैत रहता है, न अद्वैत - दोनों दशाएं मन की कल्पना मात्र हैं - सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने कई प्रकार की मौन साधना बताई है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—हे राम ! आत्म स्थित होकर अपने अन्तर में आत्मा की पूर्णता को पहिचानो; जो आत्मा जाज्वल्यमान यथार्थ रूप में प्रकाशवान है, और बाहर सारे नाम रूपों में भी

उसी को देखो

बहिर्मुखी वृतियों के कारण मनुष्य की शक्ति वाह्य पदार्थों में क्षीण होती रहती है, अत मन की चंचलता वश चित्त स्थिर नहीं हो पाता। भगवद्गीता में अर्जुन कहता है—

चंचलं हि मनोकृष्ण प्रमाधिवलवद्दढम्।
तस्याहं निगुहं मन्येलावोखिसुदुष्करम्॥ 6-34

अर्थात्—हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल है, जबरदस्ती खींचता है। मन को वश में करना हवा के समान दुर्लभ है।

भगवान् कहते हैं—

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण चगृह्यते॥ 6-35

अर्थात्—हे महाबाहो अर्जुन ! निस्सन्देह मन अत्यन्त चंचल एवं कठिनाई से निग्रह करने योग्य है, किन्तु अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है।

विचारों पर नियन्त्रण करना अभ्यास है। इंद्रियों पर नियंत्रण करना इंद्रिय मौन है - इंद्रिया काम करना, रिपोर्ट देना बंद करें तभी मन शान्त होवे - मन का मौन - मनोमौन - होने पर विचार स्पन्दन बंद हो - इस प्रकार के अभ्यास सामान्यतया चित्त को स्थिर करने के लिए किए जाते है। वसिष्ठ जी ने कई प्रकार के मौन पर प्रकाश डाल कर राम को समझाया है।

वह कहते हैं—हे राम ! तुम सुषुप्ति मौन धारण करो। मन के विचारों से मुक्त होकर और कल्पना द्वारा उद्भूत मलिनताओं से छूटकारा पाकर ब्रह्म के परम पद में स्थित हो जाओ। इसपर राम ने पूछा, भगवन् ! मैं वाड् मौन, इंद्रिय मौन तथा काष्ठ मौन के विषय में तो जानता हूं, परन्तु यह सुषुप्ति मौन क्या है ? कृपया इस महिमामय सुषुप्ति मौन पर प्रकाश डालिए।

तब वसिष्ठ ने बताया कि संसार में दो प्रकार के योगी होते हैं—एक तो कठोर तपस्या करने वाले, दूसरे वे जो जीवन में ही मुक्त होकर मुक्त आत्माओ की भांति रहते हैं जो जीवनमुक्त कहलाते हैं।

तीसरे प्रकार के योगी वे हैं जो आन्तरिक ध्यान में चित्त को स्थिर करने में समर्थ नही है और इंद्रियों एवं मन पर नियंत्रण करने के लिए कठोर तप करते हैं - ये काष्ठ तपस्वी कहलाते है।

वाणी पर संयम रखना वाड् मौन कहलाता है और इद्रियों का नियन्त्रण इंद्रिय मौन। सब प्रकार की चेष्टाओं को रोककर एक मूर्ति की तरह रहना काष्ठ मौन कहलाता है। इन सब प्रकार के मौन में चित्त का निर्वेद (स्पन्दन रहित) होना तो रहता ही है, मन का पूर्णतया स्वाभाविक मौन अचेतनावस्था, गाढ़ निद्रा अथवा मृत्यु में होता है- अतएव मनोमौन अलग नहीं रक्खा गया है।

वाड् मौन, इंद्रिय मौन तथा काष्ठ मौन में मन बहिर्मुखी रहता है, केवल दृष्टि की क्रियाशीलता को चित्त के विस्तार द्वारा रोक दिया गया है - दृश्य जगत की सच्चाई के विषय में भीतरी विश्वास जो अज्ञानता के कारण बना हुआ है, वह दूर नहीं होता है। इसलिए इन तीन प्रकार के मौन रखने में अत्यधिक प्रयत्न आवश्यक है - और इस प्रकार का श्रम साध्य अभ्यास अनिश्चित एवं अस्थायी होता है।

वसिष्ठ जी कहते हैं- चौथा सुषुप्ति अभ्यास है जो -एक जीवन मुक्त योगी साधना है जो

यागी आत्मा के सत्य का समझ गया ह और महाभोक्ता महाकर्ता एव महात्यागी[3] बना हुआ जीवनयापन कर रहा ह वह जागृत अवस्था म ही सार कर्तव्य कर्म करता हुआ सुषुप्ति का आनन्द अनुभव करता है - यह सुषुप्ति मौन कहलाता है।

सुषुप्ति मौन में आत्मा की प्रज्ञा दृष्टि विकसित करके मिथ्या संसार का निषेध कर दिया जाता है। जब चित्त आत्मा पर गहन चिन्तन के संस्कारों से परिपूर्ण हो जाता है, तो धीरे धीरे अहंकारिक चेतना पर आधारित संस्कार नष्ट होकर शुद्ध संस्कार उमड़ने लगते हैं। परिणामस्वरूप योगी अपार आन्तरिक आनन्द अनुभव करता है। फिर वह अपने सुख-शान्ति के लिए बाह्य जगत के पदार्थों पर निर्भर नहीं करता।

सामान्य सुप्तावस्था मे मनुष्य कुछ समय के लिए मन और उसकी विविध समस्याओं से मुक्त रहता है, परन्तु ज्ञान प्राप्त साधक मन इंद्रियों से ऊपर उठा हुआ निद्रा रहित नींद के कारण स्थायी रूप से आत्मस्थित रहता है। जागृत अवस्था में भी शाश्वत आत्मशान्ति में मग्न रहता है यह है सुषुप्ति मौन।

आत्म साक्षात्कार की स्थिति को बनाए रखने के लिए बारम्बार अभ्यास की आवश्यकता नहीं, न वह द्वैतभाव की चेतना में ढले हुए मन पर आधारित है। आत्मज्ञानी सन्त सदैव सुषुप्ति मौन में स्थित रहता है।

जिस अवस्था में 'मैं' और 'मेरापन' का त्याग हो जावे और मानसिक संकल्पों से अतीत हो जावे, वह मौन की सर्वोपरि दशा है - वह निद्रा रहित नींद है।[4]

इसी को समाधि अवस्था कहते हैं। किसी भी नाम से इंगित करें चित्त की विक्षेप रहित स्थिति ही मौन है। उस परम दशा तक पहुंचने के लिए वाङ् मौन, इंद्रिय मौन अथवा काष्ठ मौन आदि साधनाएं अपनायी जाती हैं - इन सब साधनाओं से जिज्ञासु का मानो प्रशिक्षण अथवा अभ्यास होता है जिसकी समाप्ति सुषुप्ति मौन में होकर जीवन के परम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होता है।

यथार्थ सत्य पूर्ण मौन से प्रकट होता है - ऐसा सत्य जो बौद्धिक विचारणा और मानसिक स्पन्दनों से रहित है, वह परम उच्च स्थिति है। इसमें योगी दृश्य संसार को नकारने की दशा में स्थित हो जाता है। यह स्थिति तुर्या कहलाती है। वस्तुतः यही सुषुप्ति मौन है जब कि योगी अहभाव से उत्पन्न सारे संस्कारों से मुक्त हो जाता है - न वह देह को देखता है, न संसार को - ये सब गाढ़ निद्रा के परम मौन में मानो डूब जाते हैं, जिसे प्रतीक रूप में निद्रा कहते हैं - इस अवस्था में योगी चेतनातीत स्थिति का अनुभव करता है, जबकि उसे संसार से किसी प्रकार के सहारे की अपेक्षा नहीं रहती।

---

1. महाभोक्ता - जो व्यक्ति इच्छा, राग -द्वेष आदि भावों से रहित सन्तुलित मानस से दुख-सुख, निन्दा-प्रशंसा, आशा-निराशा आदि विपरीत परिस्थितियों को सहता हुआ सबके प्रति समता का व्यवहार करता है।

2. जो अहं भाव, घृणा, ईर्ष्या आदि दोषों से रहित हो और शाश्वत आत्मा के सत्य को जानने के कारण अनासक्त हुआ साक्षात्कार से जगत में रहता हुआ सब कर्तव्य कर्म करता हो, वह महाकर्ता है।

3. जिसने निरन्तर ब्रह्म में स्थित रहते हुए सुख-दुख, आशा-प्रत्याशा आदि मनोकामनाओं को त्याग दिया हो और देहभाव से मुक्त हुआ बाह्यिक स्थिति में रहता हुआ प्रारब्ध कर्म फल की पूर्ति तक जीवन मुक्त की भांति शरीर धारण करता हो, वह महात्यागी कहलाता है।

4. श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्दा

इस प्रकार स ज्ञान प्राप्त स्थिति ही सुषुप्ति मौन है। ज्ञान की सप्त भूमिकाआ मे [1] यह छठी भूमिका है, जिसे पदार्थ भावना नाम से निर्दिष्ट किया जाता है।

सुषुप्ति मौन में अन्तर्प्रज्ञा के विकसित होने पर विश्व की सच्चाई समाप्त हो जाती है। जब आत्मा पर गहन ध्यान के संस्कार घनीभूत होते हैं, तब अहंकारी चेतना पर आधारित चित्त के मलिन सस्कार धीर धीरे नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध संस्कार छा जाते हैं। फलस्वरूप योगी अन्तरात्मा का असीम आनन्द अनुभव करता है। फिर उसे अपने सुख के लिए बाह्य पदार्थों अथवा परिस्थितियो पर निर्भर नहीं होना पड़ता। वह एक स्वप्नद्रष्टा जैसा है जो स्वप्न से जाग कर अनुभव करता है कि 'अरे यह स्वप्न था।'[2] अतः उसे स्वप्न की बातों में कोई रूचि नहीं।

अतएव वसिष्ठ जी कहते हैं, हे राम ! तुम ॐ के चार आध्यात्मिक पक्षों और अर्ध बिन्दु पर चित्त स्थिर करो -ध्यान लगाओ - जो अन्तःकरण की चार अवस्थाओं - जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यातीत के प्रतीक हैं। ॐ का महत्ता पर ध्यान लगाने से तुम चित्त की सूक्ष्म वासनाओ से मुक्त होकर दिव्य निद्रा-रहित निद्रा में स्थित हो जाओगे।

5. कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी एक रहस्यमयी शक्ति है जो जीवन की सारी क्रियाओं में निहित है - इसे प्राण शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। कुण्डलिनी शक्ति का स्थूल रूप नहीं - बिजली की भांति यह आध्यात्मिक शक्ति है। कुण्डलिनी योग तांत्रिक विद्या पर आधारित है, जो सारी सृष्टि को शिव और शक्ति रूप में देखते हैं। तन्त्रविद्या के अनुयायी दो प्रकार के होते है - एक वे जो शिवजी को पूरी मान्यता देते हैं, दूसरे केवल शक्ति को मानते हैं। यद्यपि तन्त्रविद्या के उपासकों ने विभिन्न रूपों में वर्णन किया है, वास्तव में यह सर्वतोमुखी शक्ति है - जिसकी महिमा सब ने गाई है। इसे वाक् शक्ति कहते हैं, ज्ञान की आधार होने के कारण माता सरस्वती भी कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है। कुण्डलिनी सूक्ष्म प्राणों से जुड़ी हुई है। प्राण नाड़ी और चक्रों से जुड़े हैं। नाड़ियां मस्तिष्क से संबंधित है और मन शरीर के सब भागों से जुड़ा है - इसीलिए यह कहा जाता है कि मन शरीर के प्रत्येक अग में व्याप्त है।

प्राण शरीर की क्रियात्मक शक्ति है - प्राणायाम द्वारा प्राणों को सक्रिय होना कुण्डलिनी का जागृत रूप कहलाता है। कुण्डलिनी जागरण की कई पद्धतियां हैं - परन्तु सर्वप्रथम कुण्डलिनी विज्ञान को समझना और प्राण शुद्धि आवश्यक है।

मनुष्य का शरीर एक आश्चर्यजनक मशीन है जो अदृश्य रूप में बिना किसी स्थूल सामग्री अथवा साधनों के अदृश्य शक्ति परमात्मा द्वारा निर्मित हुआ है। एक सूक्ष्म से अणु तुल्य बीज से नव महीने माता के गर्भ में यह ढांचा तैयार होता है। उस अदृश्य इंजीनियर ब्रह्मा की करामात को किसी ने नहीं देखा - फिर भी शरीर विज्ञानवेत्ताओं ने जो तथ्य मालूम किए हैं, वे हजारों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों ने अपनी प्रज्ञा शक्ति के बल से अन्तर्दृष्टि द्वारा जान लिए थे।

सारे शरीर में 72000 नाड़ियां हैं जो रक्त संचारण द्वारा जीवात्मा को भोजन पहुंचाती है। इनमें तीन मुख्य हैं—सुषुम्ना, इड़ा-पिगला। सुषुम्ना नाड़ी सर्वाधिक सूक्ष्म है। यह पीठ के मध्य मे है जिसे स्पाइनल कार्ड कहते हैं। इस में होकर कुण्डलिनी जिसे प्राण शक्ति भी कहते हैं - सर्प की भांति लहराती हुई सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचती है। ब्रह्मर्षियों ने कुण्डलिनी योग द्वारा सुषुम्ना

---

1. शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसी, सत्वपति, असंसक्ति, पदार्थ भावना अथवा सुषुप्ति तथा तुर्या।
2. इनका विस्तृत वर्णन देखिए इसी पस्तक के उत्पत्ति प्रकरण में अज्ञान और ज्ञान की सप्त भूमिकाए

नाडी [illegible] प्रधान प्राप्त कर लिया

सुषम्ना [illegible] नाम की [illegible] भाग चमक वाला है और राजसी लक्षणा का है। व्रजा के भीतर चित्रा नाम की पीले रंग की नाड़ी है सात्विक प्रकृति की। इसका निम्न भाग ब्रह्मद्वारा माना गया है। चित्रा योगियों को आनन्द देने वाली सर्वोच्च नाड़ी है।

इस केन्द्र पर छः चक्र होते हैं जिन पर चलती हुई कुण्डलिनी शक्ति सर्प की भांति लहराती हुई जाती है। सुषुम्ना में होकर श्वास लेने से चित्त स्थित हो जाता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के दाईं बांईं ओर हैं - ये तीनों मूलाधार चक्र पर मिलती हैं। ये तीनों का जंक्शन - गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम की भांति मुक्त त्रिवेणी कहलाती हैं। ये चक्र हैं—

1. मूलाधार चक्र—गुदा के पास में स्थित
2. स्वाधिष्ठान चक्र—जननेन्द्रिय के पास
3. मणिपुर चक्र—नाभि में
4. अनहद चक्र—हृदय में
5. विशुद्धि चक्र—गर्दन के पास
6. आज्ञा चक्र—भृकुटि पर—दोनों भौं के बीच में

सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र - शिर के मध्य ऊर्ध्व भाग में होता है।

ये षट चक्र शक्ति के केन्द्र हैं। जीवित शरीर में ये प्राण वायु द्वारा प्रकट होते हैं। मृत्यु के समय जब नाड़ियों का सम्बन्ध विच्छेद होता है, तब चक्रों का लोप हो जाता है।

मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र होती हुई कुण्डलिनी शक्ति यदि चित्तशुद्ध है तो नाभि के पास स्थित मणिपुर चक्र तक जाती है - उसे बेध कर हृदय में स्थित अनहद चक्र तक जाती है - वहां से गले के पास विशुद्धि चक्र में और फिर भृकुटि के मध्य में आज्ञा चक्र पर पहुंचती है। यहां पहुंचने पर योगी समाधि में स्थित हो जाता है, किन्तु ब्रह्म से सूक्ष्म दूरी शेष रहती है तत्पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र से सहस्रार चक्र में पहुंचने पर निर्विकल्प समाधि लग जाती है। यह सर्वोच्च स्थिति है ब्रह्म से एक रूप होने की।

कुण्डलिनी सदाशिव में मिल जाती है - दूसरों को ज्ञान देने के लिए योगी लोक संग्रह हेतु पुनः विशुद्धि चक्र तक आ सकता है।

सबसे पहले कुण्डलिनी मूलाधार चक्र (सबसे नीचे वाला गुदा के पास जहां इड़ा पिंगला इससे मिलती हैं) से उठती है - अर्थात् शक्ति जागृत होकर ऊपर की ओर बढ़ती है - कुण्डलिनी योग से तात्पर्य है श्वास लेते समय शक्ति ऊपर को बढ़े। नीचे के चक्रों पर वापिस न जाय। शुभ कर्म करने वालों की नाड़ियां ऊपर की ओर जाती हैं।

मूलाधार से स्वाधिष्ठान चक्र को छेदती है। स्वाधिष्ठान चक्र पर सभी नाड़ियों की शक्ति होती है। वहां से उठकर नाभि के पास मणिपुर चक्र पर आती है। फिर हृदय कमल कुण्डलिनी में अनहद चक्र पर पहुंचने से हृदय शुद्धि होती है - आगे उठकर गले के पास वाला विशुद्धि चक्र कहलाता है - यहां तक पूर्ण शुद्धि होकर आज्ञाचक्र में पहुंचने तक योगी को निर्विकल्प समाधि लग जाती है।

इन छः चक्रों को पार करके यदि शिर पर सहस्रार तक - जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं - कुण्डलिनी शक्ति पहुंच जाय तो योगी ब्रह्म से एकाकार हो जाता है।

चक्रों पर कुण्डलिनी जागृत होने का अर्थ है - शुद्ध चैतन्य का विस्तार - जब तक सर्वोच्च चक्र तक कुण्डलिनी शक्ति न पहुंचे, तब तक उत्तरोत्तर चेतना शक्ति बढ़ती रहे, जिससे नाड़ी शोधन होता है। कुण्डलिनी शक्ति का प्रथम लक्ष्य है नाड़ी शोधन। नाड़ी शोधन होते होते अंतिम सीढ़ी पर पहुंचने तक योगी ब्रह्म से एक रूप होने का अधिकारी बनता है।

किसी साधक ने कुण्डलिनी शक्ति के छः चक्रों की आधुनिक विज्ञान द्वारा आविष्कृत किए एलिवेटर की मंजिलों (फ्लोर्स) से तुलना की है। एलिवेटर के विभिन्न पड़ाव की भांति - मानव शरीर रूपी भवन के उच्च शिखर पर पहुंचने के लिए छः चक्र मानों छः पड़ाव हैं।

एलिवेटर का तलहटी का फ्लोर भीड़ भड़क्का वाला अंधकार जैसा होता है। इसी प्रकार कुण्डलिनी का आधारभूत प्रथम चक्र मूलाधार अंधकारपूर्ण है - ज्यों ज्यों कुण्डलिनी ऊपर चढ़ती है शुद्ध चैतन्य का विस्तार बढ़ता जाता है - एलिवेटर भी ऊपर जाता हुआ प्रकाशवान होता जाता है। अंतिम मंजिल पर पहुंच कर पूर्ण प्रकाश युक्त विस्तार बन जाता है।

भवन का स्वामी सबसे ऊपर वाली मंजिल पर रहना पसन्द करता है - भिन्न किन्तु उसकी उपस्थिति सभी मंजिलों में अनुभव की जाती है। इसी प्रकार छः चक्र भेद कर योगी सहस्रार पर पहुंच जाये परन्तु उसकी शक्ति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है।

सिद्ध बाबा मुकुन्दानन्द ने कहा है—"सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र सब तुम्हारे भीतर भ्रमण करते हैं।"

सब कुछ मनुष्य के भीतर है। जब चेतन शक्ति नीचे की ओर जाती है, तो भय और अंधविश्वास आदि निम्न प्रकृति बढ़ती है और ऊपर की ओर जाने पर उत्साह और प्रकाश जागृत होता है।

कुण्डलिनी सब जीवों में परमशक्ति का केन्द्र है - जब हृदय स्थित प्राण कुण्डलिनी तक पहुंचता है, तब यह खुलती है और कम्पन आरम्भ होता है एवं तभी प्रकृति के तत्वों की चेतना जागृत होती है। अन्य समस्त नाड़ियां इसी से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं - अतएव कुण्डलिनी चैतन्य शक्ति का और ज्ञान का बीज है।

कुण्डलिनी जागरण साधना

भौतिक स्तर पर कुण्डलिनी जागरण के लिए हठयोग क्रियाएं - आसन, प्राणायाम, बन्ध-मुद्रा आदि किए जाते हैं। परन्तु चक्रों का उद्घाटन केवल हठयोग पर आधारित नहीं है - बिना हठयोग क्रियाओं के भी कुण्डलिनी, राजयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग की साधनाओं द्वारा जागृत की जा सकती है। इतना ही नहीं, हठयोग के साथ भी इन आन्तरिक साधनाओं का योग नितान्त आवश्यक है। जब योगी का मानसिक और शारीरिक धरातल शुद्ध और अनुशासित हो जाता है, तब प्राणिक शक्ति प्रवाहित होकर चक्र खुलने लगते हैं। स्वामी ज्योतिर्मयानन्द ने चक्रों को बंद कमल की उपमा देते हुए लिखा है कि जब प्राणिक शक्ति प्रवाहित होती है तो बंद कमल की कलियां खुलने लगती हैं और नाड़ियों की पंखड़ियों से समस्त शरीर और चित्त में एक दिव्य प्रकाश उत्पन्न होकर आध्यात्मिक विस्तार होने लगता है।

जब जब चक्र खुलता है, तब तब चित्त का विकास होता है - परन्तु जब तक कुण्डलिनी मूलाधार, स्वाधिष्ठान (मूत्रालय) तथा मणिपुर (नाभि पर) चक्रों तक रहती है, तब तक मन भोजन, काम और विषयानन्दों में उलझा रहता है - जब कुण्डलिनी अनहद (हृदय पर) चक्र को पार करके गले के पास विशुद्धि चक्र और भ्रूमध्य आज्ञा चक्र तक पहुंचती है तब योगी इंद्रियों के क्षेत्र से बाहर पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो जाता है। तब योगी की प्रज्ञा शक्ति जागृत हो जाती है और वह अनुभव करने लगता है कि मैं एक सीमित व्यक्तित्व नहीं बल्कि चित्त रूपी आइने में परमशक्ति का प्रतिबिम्ब हूं फिर धीरे धीरे कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार तक उठ जाती है, यही कुण्डलिनी का सर्वोपरि कृत्य है, जिससे साधक चित्त से छुटकारा पा कर ब्रह्म में लीन हो जाता है - यहां अज्ञान नष्ट होकर वह अपनी मूल प्रकृति को प्राप्त करता है और संसार चक्र समाप्त हो जाता है।

6 यथार्थ पूजा विधि (मुनि वसिष्ठ की समाधि अवस्था मे शिवजी द्वारा बताई गई)

वसिष्ठ जी कहते हैं—मैं कुछ दिन शिवजी के स्थान कैलाशपर्वत पर शिवोपासना और तपस्या के लिए ठहरा था। कई सिद्ध ऋषिगण मेरे साथ थे जिनके साथ में शास्त्रों पर चर्चा किया करता था।

एक संध्या के समय जब मैं भगवान शिव की पूजा कर रहा था- जंगल में भीषण अंधकार मे मुझे महाप्रकाश दिखाई दिया। तब मैंने अपनी अन्तर ज्योति से देखा कि वह शिव भगवान पार्वती जी के साथ स्वयं थे और उनके आगे आगे उनकी सवारी नान्दी चल रही थी रास्ता बनाती हुई। मैंने अपने पास एकत्रित शिष्यों को उनकी उपस्थिति सूचित की और उस स्थान की ओर चल दिये जहां भगवान थे।

मैंने उन्हें प्रणाम किया- उन्होंने पूछा - 'तुम्हारी तपश्चर्या निर्बाध चल रही है - जो तुम चाहते थे वह प्राप्त कर लिया है ? तुम्हारे आंतरिक भय दूर हो गए ? वन्दना स्तुति के पश्चात मैंने उत्तर दिया—भगवन् ! आप के साक्षात् दर्शन से मैंने सब कुछ पा लिया। आप की कृपा से मैंने आत्मतृप्ति प्राप्त कर ली - फिर भी मैं आप से एक बात के विषय में और भी जानना चाहता हू। कृपया प्रकाश डाले कि भगवान की पूजा की क्या विधि है, जिससे सारे पाप नष्ट होकर शुभ सस्कारों का विकास हो।

जैसे जल और तरंग मे भेद नहीं - ब्रह्म और जगत में भेद नहीं। सम सत्ता शिव शान्ति रूप ओर अनिर्वचानीय है। इसकी चतुर्मात्रा तुरीयपद परम शान्त है ...। इस प्रकार परम शान्ति रूप परम तत्व का प्रसंग वसिष्ठ जी ने सुना, तब दोनों की वृत्ति आत्मतत्व में स्थित हो गई और चित्रलिखित से मौन हो गए - एक मुहूर्त उपरान्त सदा शिव जी ने तीनों नेत्र खोले - तो एक दम बारह (द्वादस) सूर्य के इकट्ठे प्रकाश की भांति प्रकाश हुआ। उन्होंने देखा - वसिष्ठ जी नेत्र मूंदे हुए हैं। तब कहा कि 'हे मुनिवर .! जागो। अब नेत्र क्यों मूंदे हो - जो देखना था सो तुम ने देख लिया- अब समाधि का क्रम किस लिए ? तुम जैसे तत्ववेत्ताओं को कुछ हेय या उपादेय नही होता। तुम जैसे बुद्धिमान हो, वैसे ही आत्मदर्शी भी हो। जो कुछ पाने योग्य या जानने योग्य था, तुमने पाया और जाना।'

हे राम ! इस प्रकार कहकर सदा शिव ने मेरे भीतर प्रवेश करके मुझे जगाया और फिर कहा—

हे वसिष्ठ ! इस शरीर की क्रिया का कारण प्राण स्पन्दन है। प्राणों से ही शरीर की चेष्टा रहती है - उसमें आत्मा उदासीन की तरह स्थित है। वह न कुछ करता है, न भोगता है। जीव को अपने स्वरूप का प्रमाद होने पर देहाभिमान होता है और वह अपने को कर्ता - भोक्ता मानता है - इससे दुख पाता है और लोक-परलोक में भटकता होता है - देहाभिमान मिट कर दुख से मुक्त होता है। तब आत्मा का अभ्यास होता है - देहाभिमान मिटकर दुख से मुक्त हो जाता है। इस ससार में संवित् रूप चिन्मात्र नित्य स्थित है - उसका पूजन करो। जो सब प्रत्ययों का कर्ता और सदा अनुभव से प्रकाशित होता है, उसका अपने में आप पूजन करो। उठते बैठते, चलते फिरते, खाते पीते, त्याग, ग्रहण और भोग, सबको करते रहते भी इस देव की पूजा करो। शरीर में शिव लिंग चिन्ह से रहित बोध रूप देव हैं - यथा प्राप्त में सम रहना उस देव का पूजन है।

जो कुछ प्राप्त हो, उसमें राग द्वेष से रहित होना और सर्वदा साक्षी रूप अनुभव में स्थित रहना ही उसका पूजन है। प्राण-अपान रूपी रथ पर आरूढ़ जो हृदय में स्थित है, उस का ज्ञान ही पूजन है ऐसा जो संवित् तत्व है उसे सर्वज्ञ जानकर उसका चिन्तन करना ही उसका पूजन है

वह देव सब देहो म स्थित है तो भी आकाश सा निर्लिप्त और निमल हे सर्वव्यापक है शब्द आदि विषयो का कर्ता और मन का प्रेरक है। जैसे तिलों का आश्रय तेल हैं, वैसे ही आत्मा सब का आश्रय है।

प्रत्यक् चैतन्य जो आत्मतत्व अपने हृदय में स्थित है, वहीं अपने फुरने से शीघ्र द्वैत की तरह हो जाता है। जो कुछ साकार रूप जगत दिखाई पड़ता है, वह विराट आत्मा है। अतः अपने में ऐसी विराट भावना करो कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरी देह है -मैं ही प्रकाश रूप देव हूं - मैं एक अखण्ड रूप, अनन्त आत्मा भेद रहित अपने में स्थित परिपूर्ण हूं।

आगे भगवान शिवजी वसिष्ठ जी को यथार्थ पूजा का रहस्य समझाते हैं—

"तुम जानते हो ईश्वर कौन है ? विष्णु, शिव या ब्रह्मा ईश्वर नहीं है, न वायु, सूर्य, चन्द्रमा, न ब्राह्मण या राजा, न मैं, तुम, लक्ष्मी - मन बुद्धि आदि। ईश्वर बिना आकार अविभाज्य है - ईश्वर वह प्रकाश (Splendous) है जिसका न आदि है, न अन्त है- वह भगवान शिव कहलाता है जो शुद्ध अन्तःकरण (Pure consciousness) है। वही उपासना के योग्य है - वही सब कुछ है। जो कोई इस शिव की उपासना में असमर्थ है, तब वह आकार की पूजा हेतु प्रेरित किया जाता है। यह उपासना सीमित फल प्रदान करने वाली है और पूर्वोक्त उपासना अनन्त फल देने वाली है। अनन्त को छोड़ कर सीमित फल देने वाली उपासना ऐसी है जैसे नन्दन वन को छोड़कर कांटो की झाड़ी को पूजना। सन्तजन कभी कभी क्रीड़ा में आकार पूजते हैं। यथार्थ पूजन सामग्री है - ज्ञान, आत्म नियन्त्रण, सभी जीवों में आत्मस्वरूप को देखना - सर्वोपरि सामग्री है। आत्म ही भगवान शिव है - प्रत्येक काल में ज्ञान रूपी पुष्पों से उसी का पूजन होना चाहिए।"

वसिष्ठ जी कहते हैं, मैंने फिर पूछा, 'भगवन् ! कृपया यह बतायें कि शुद्ध अन्तःकरण जीव तथा अन्य पदार्थों के रूप में कैसे प्रतीत होता है।'

शिवजी कहते हैं—वस्तुतः केवल वही चिदाकाश का अस्तित्व है, उसी के भीतर जो शक्ति स्फुरित होती है, उसी से विचार उत्पन्न होते हैं और उसी में समस्त पदार्थ और जीव आदि प्रतिबिम्बित होते हैं - उसके बाहर किसी वस्तु अथवा विचार का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। जिसप्रकार स्वप्न मे बिना अस्तित्व के संसार की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में सृष्टि प्रकाशमान हो जाती है।

विश्व में जो कुछ दृष्टि आता है - सारा दृश्य जगत - उस चिदाकाश के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में द्वित्व जो दीखता है मिथ्या है, उसी प्रकार द्वैत रूप में दीखने वाली सृष्टि मिथ्या है। स्वप्न तथा जागृत दोनों अवस्थाओं में शुद्ध अन्तकरण ही सार है - वही ईश्वर है वही परम सत्य है। उसी ईश्वर की उपासना सच्ची उपासना है।

बोध, साम्य और शम् - ये तीन फूल हैं। अर्थात् साम्यग्ज्ञान, सब में साम्य देखना तथा चित्त का निवृत करना - आत्मतत्व से भिन्न कुछ न देखना - इन्हीं तीनों फूलों से चिन्मात्र शुद्ध देव शिव की पूजा होती है। आकार की अर्चना से अर्चा नहीं होती। आत्मा भगवान एक देव है - वही शिव और परम कारण रूप है। उसी का सर्वदा ज्ञानअर्चन से पूजन करो और कोई पूजा अर्चना नहीं है।

चैतन्य, आकाश और निरवयव स्वभाव एक आत्मदेव को जानो। शिव, विष्णु, देवी तथा अन्य विभिन्न देवों के रूप में विविध प्रकार से ज्ञानी जन इसी देव की पूजा अर्चना करते हैं जो अज्ञानी एवं मंद बुद्धि जीव यह आत्म पूजन करने में असमर्थ हैं - उनके लिए शास्त्रों में सगुण साकार रूप में देवी-देवताओं के पूजन का विधान है।

उस निम्न कोटि पूजन को अध्यात्म की प्रथम सीढ़ी समझना चाहिए - उस पूजन के द्वारा चित्त शुद्धि होते होते आत्मा का विकास होगा और मानव आत्मज्ञान की उच्च भूमिकाओं पर पहुच कर यह उच्च कोटि पूजन करने में समर्थ हो सकेगा

यदि सीमित देवी देवताओं की पूजा किसी फल की कामना से की जाती है, तो उतने ही सीमित फल प्राप्त होंगे परन्तु उस परमसत्ता की उपासना करने से सर्वोच्च फल मोक्ष के रूप में प्राप्त होगा। उस परम सत्ता का पूजन ही वह परमानन्द प्राप्त कराता है जिसका न आरम्भ है न अन्त, जो अविभाज्य है।

जिन मनुष्यों में विवेक दृष्टि नहीं है, जिनकी बुद्धि बच्चे के समान दुर्बल है और वे भावात्मक पूजा करने में असमर्थ हैं, उनके लिए शास्त्रों में विभिन्न रूपों में ईश पूजा का विधान किया गया है। इस पूजा के फलस्वरूप उन्हें स्वर्गीय सुख और सब प्रकार के मिथ्या आनन्द प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें भोगकर पुनः संसार में जन्म लेना पड़ता है; मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शास्त्रीय विधान के अनुसार अनेक रूपों से देवी देवताओं की पूजा के द्वारा चित की शुद्धि होती है, उससे भगवत भक्ति का विकास होता है और सर्वोपरि ऊपर वर्णन की हुई पूजा के लिये मार्ग प्रशस्त होता है। अब इस परमोच्च पूजा की विधि बताते हैं कि वह परम सत्ता ही पूजा के योग्य है जो विश्व के सारे पदार्थों में व्याप्त है; जो समय और दूरी के विचारों से ऊपर है और उपनिषदों में इसे 'ॐ' के नाम से विदित किया गया है। पूजा विधि है कि सर्वप्रथम मनुष्य को देह का भाव छोड़ना चाहिए कि 'मैं शरीर हूं।' आत्मा का ध्यान ही यथार्थ उपासना है, अतएव मनुष्य को ध्यान के द्वारा तीन लोक के स्वामी की उपासना करनी चाहिए। किस प्रकार उसका चिन्तन करें ? वह शुद्ध, बुद्ध, सहस्र सूर्यो के समान ज्योतिर्मय है "ज्योतिषामपि परम ज्योत"—अन्तर्ज्योति। पुरुष सूक्त में वर्णन किए अनुसार उस आत्मदेव, देवों के देव परम पुरुष के अनन्त मुख, अनन्त शिर और नेत्र आदि हैं—वह सबको व्याप्त करके स्थित है। भगवद् वाणी गीता में वर्णन है—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतो क्षिशिरो मुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥" 13 :13वां

इस प्रकार उसका चिन्तन करना चाहिए। अपने ही शुद्ध चैतन्य अंतःकरण रूप में उस परम देव परमात्मा का पूजन होना चाहिए - चंदन कुमकुम-चावल पुष्प - और दीपक - आरती आदि भौतिक सामग्री से नहीं। किंचित् प्रयत्न के बिना आत्मसाक्षात्कार के द्वारा ही भगवत् प्राप्ति होती है, यही उस देवों के देवों का पूजन है।

सोते जागते, चलते फिरते, देखते -सुनते, खाते -पीते-हर स्थिति में उसके अन्तर्वास की चेतना बनी रहे और अपने शुद्ध चैतन्य को पहिचाने - यही परमोच्च योग है - इस पूजा विधि को अपनाने वाला देवता, दानव तथा अन्य सभी के द्वारा पूज्य होता है। यह बहिर्पूजा हुई।

अब भगवान शिव आन्तरिक पूजा पर प्रकाश डालते हैं। कहते हैं - यह आन्तरिक पूजा सर्वोपरि चित्तशुद्धि के साधन है। दृढ़ता से जीवन प्रवाह में स्थिर रहो - सुख-दुख, सफलता - असफलता हर स्थिति में समत्व भाव रखते हुए आत्मज्ञान में डूबे रहो - समझो वही आत्मशक्ति सब का कर्ता धर्ता है - शरीर के सारे कृत्य वही संचालित करता है - ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति - ये दो परमात्मा की प्रधान शक्तियां हैं - ज्ञान के विविध पक्ष उस के आभूषण हैं। "मैं वह अनन्त आत्मा हूं जो अविभाज्य है।"

इस प्रकार स्वरूप पर चिन्तन करने वाला समता की मूर्ति बन जाता है और समदृष्टि से प्रेरित उसका व्यवहार स्वाभाविक रूप से भलाई एवं आंतरिक शुद्धि के स्तर को प्राप्त कर लेता है - वह उस देव का पूजारी है जो उसकी सम्पूर्ण देह में व्याप्त है।

"यह पूजा निरन्त बिना प्रयत्न के सुलभ सामग्री से दिन रात चलती रहती है। अपनी सारी

प्रवृतियां, परिस्थितियां, वृतियां - शुद्ध और अशुद्ध हृदय के भाव - प्रेम, करूणा, अपेक्षा - उपेक्षा मित्रता - शत्रुता आदि समस्त गुणो से प्रभु का श्रृंगार हो।"[1]

सारांश यह है कि यह भाव ही यथार्थ पूजन है कि सब कुछ ब्रह्म है - सब कुछ मैं ही हू - मुझ से भिन्न कुछ नहीं और इस प्रकार समत्व भाव का विकास होकर 'मैं - मेरा' आदि द्वैतभाव नष्ट होगा - इस भावना से शिव का पूजन करना चाहिए। निर्लेप आत्मा में राग-द्वेष आदि हैं ही नहीं। परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस परम आत्मा रूप परम शिव की उपासना ही उपादेय है। "इस पूजन में इष्टदेव को समर्पण करने हेतु विवेक शीलता, स्वच्छबुद्धि, शान्ति एवं अन्य दैवीगुण सुगधित पुष्प हैं।"[2]

शिवजी कहते हैं, हे मुनि ! ज्ञानी पुरुष जितने समय समाधिस्थ नहीं रहते, उस काल मे सगुण पूजा करते पाए जाते हैं। वे मानो कौतुक से पूजन करते हैं - नाशवान सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं। यह ज्ञान होना सर्वोपरि देव पूजन है कि, "जीव ब्रह्म ही है - इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ सीमित और क्षणिक है।"[3]

इसलिए सारे सीमित विचारो को छोड़ कर आत्मा की आत्म के द्वारा पूजा करो। शान्त शुद्ध और वासनाओं से मुक्त रहो। यह समझो कि सारे अनुभव और जीवन के सारे कृत्य आत्मा की पूजा ही हैं। इस भाव का आदिशंकराचार्य का पद स्मरण करने योग्य है।[4]

वसिष्ठ जी ने पूछा कि ये सारे भेद उत्पन्न ही कैसे हुए ? इस पर शिवजी उत्तर देते है यथार्थ सत्य आदि और अन्त रहित है और जो किसी वस्तु में प्रतिबिम्बित भी नहीं है, वह यथार्थ है। फिर भी क्योंकि मन और इंद्रियों की पहुंच से परे है, इसलिए असत् जैसा समझा जाता है (अस्तित्व रहित)। फिर वसिष्ठ जी पूछते हैं कि यदि वह मन से परे है तो कैसे पहचाना जाये ? इसका उत्तर शिवजी देते हैं कि जो साधक अज्ञानता से मुक्ति पाने के लिए उत्सुक हो और उसमे सूक्ष्म बुद्धि हो तो वह शास्त्रों की सहायता से उस अज्ञानता को दूर कर सकता है। जिस प्रकार धोबी कपड़े से भरी हुई धूल को दूसरी प्रकार की धूल अर्थात्—साबुन - की सहायता से दूर कर देना है। इस उपाय से अज्ञानता दूर होने पर आत्मा आत्मा को पहचान लेती है, अपनी ही अन्तःप्रकृति के प्रकाश से। यदि निरंतर आध्यात्मिक विचारना चलती रहे तो उस अज्ञानता को पुनः विकसित होने का अवसर नहीं मिलेगा और यह चेतन अनन्त चेतना बनी रहेगी। यह ज्ञान केवल गुरु के उपदेश अथवा शास्त्रीय ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता, वह तो साधन मात्र है। अपने पुरुषार्थ से सत्संग, ध्यान और विचारणा से प्राप्त होता है ।

अपनी शुद्ध प्रकृति को प्राप्त होने पर यह आत्मा अपनी ही शक्ति से संसार चक्र से मुक्त हो जाती है। हे मुनि ! ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इंद्रियों की क्रियाओं का आधार मन आत्मा में लीन हो जाता है और संसार चक्र समाप्त हो जाता है। ज्ञान की स्थिति में योगी जले हुए बीज

---

1 2 3 योगवासिष्ठ, चतुर्थ भाग, स्वामी ज्योतिर्मयानन्द

4. आत्मात्व गिरिजा मतिः प्राणाः सहचराः शरीरं गृह पूजा ते
विष्योप भोग रचना निद्रा समाधि स्थितिः सचारः पदयोः
प्रदक्षिण विधिः स्तोत्राणि सर्वागिरा
यत्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलम् शम्भोतवाराधनम् ॥
अर्थात्— हे शम्भो ! मैं जो भी कर्म करता हू वे बस तुम्हारा पूजन हैं। मेरी आत्मा तुम स्वयं, बुद्धि गोरी माता है, प्राण तुम्हारे गण हैं, शरीर पूजा गृह (मंदिर) है - जो भी विषय भोगता हूं वह तुम्हारा नैवेद्य है, मेरी निद्रा समाधि अवस्था है, पाँवों से चलना तुम्हारी प्रदक्षिणा है और वाणी से जो कुछ बोलता हू वह तुम्हारी स्तुति है। इस प्रकार मैं जो कुछ करता हूँ वह सब तुम्हारी अर्चना है। इस भाव से निरन्तर **पूजा करते रहें**

के समान बन जाता है जो शरीर न नए जन्मों में स्फुरित नहीं होता इस अवस्था में वह संसार का निषेध करके केवल परम सत्य को ही देखता है ज्ञान का यह स्तर महासुप्त अवस्था कहलाता है।

शिवजी कहते हैं कि हे वसिष्ठ ! मैंने अब तक तुमको ज्ञान का पहला स्तर बताया। अब दूसरे स्तर को सुनो, जो बिल्कुल अज्ञान रूपी अंधकार से रहित स्वयं प्रकाश रूप है यह नीले आकाश के विस्तार की भांति समझो, मानो स्वप्न रहित गाढ़ निद्रा जैसे अनुभव। इस स्तर में अन्तरात्मा समय और दूरी की सीमाओं से रहित हो जाती है और सीमितता के सारे विचारों का अन्त हो जाता है वह जाग्रत स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठ जाती है। जो तुर्या नाम से विहित है। जहां सब प्रकार के दुखों का अन्त हो जाता है। इस स्थिति में चित्तशक्ति तीनों स्तर के द्रष्टा रूप में प्रकाशमान होती है। यही सब को प्रकाश देने वाली है और परम आनन्द की स्थिति है।

चौथे स्तर में चित्त और ब्रह्म एक हो जाते हैं और द्रष्टा-दृश्य और दृष्ट का भेद समाप्त हो जाता है। यही आत्मा रूप परमात्मा, आत्मज्ञान के द्वारा पूजा के योग्य है, अन्य कोई ईश्वर नही। जो आत्मा को जान लेता है, वह आत्मा से एकाकार हो जाता है।

हृदय की गहराइयों में आत्मा का वास के सतत चेतना सब प्रकार की उपासनाओं से श्रेष्ठ है और ध्यान का सर्वोपरि रूप है। देखते, सुनते, सूंघते, खाते, सोते, चलते-फिरते, बोलते, सांस लेते - प्रत्येक काम करते समय इस आत्म चेतना को बनाए रखना चाहिये। पूजा का यह रूप सबसे अधिक फलदायक है, क्योंकि यह पूजा आत्मा के बढ़ते हुए आनन्द की दृष्टि को खोलने वाली है।

अपनी आत्मा का महान् देवता के रूप में ध्यान करके अन्तर चेतना में लीन हो जाना चाहिये। इस महान् इष्ट देवता को गहन ध्यान से बढ़ कर कोई पूजा सामग्री प्रिय नहीं है। किसी अन्य साधन से आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हे मुनि ! आत्मा पर ध्यान करके मनुष्य सारे पदार्थों का आनन्द लेने वाला बन जाता है। जिस प्रकार एक गृहस्थ अपने घर में सारे पदार्थों का आनन्द भोगता है, उसी प्रकार वह मुनि सारे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का आनन्द भोगता है क्योंकि वह उस आत्मा से एक रूप हो जाता है जो सब का भोक्ता है।

शिवजी कहते हैं—हे मुनि ! "संसार के पदार्थ भ्रांति मात्र हैं, वस्तुतः उनके पीछे ब्रह्म ही एक सत्य है" इस आन्तरिक सत्य की प्राप्ति का संकल्प भी भगवान की उपासना का सर्वोपरि रूप है।

7 काग भुषुण्डि उपाख्यान (प्राणायाम रहस्य)

भगवान राम के पूछने पर श्री वसिष्ठ जी मोक्ष प्राप्ति के साधन प्राणनियमन अर्थात् प्राणायाम द्वारा मोक्ष प्राप्ति का वर्णन करते हुए कागभुशुण्डि की कथा सुनाते हैं।

वसिष्ठ जी कहते हैं कि जन्म मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने वाले साधन को योग कहते हैं, जिसकी विधि बताता हूं। मैं सृष्टि रचियता ब्रह्मा का मानस पुत्र हूं - एक बार जब मैं इन्द्रलोक मे रहता था, तब नारद मुनि जैसे ऋषियों से दीर्घायु प्राप्त सत्ताओं की कथा सुनी- उस प्रसंग में ऋषि सतापा ने बताया कि मेरू पर्वत के एक कोने में कूट नाम का तरू है जिसकी पत्तियां सोने चॉदी की हैं। उस वृक्ष पर भुषुण्डि नामक कौआ (कागभुषुण्डि) रहता है। उससे अधिक आयु जीवी पृथ्वी पर कोई नहीं है। वह आत्मज्ञानी एवं शान्त भी है। यदि तुम में से कोई उसकी भांति रह सके तो अत्यन्त प्रशंसनीय तथा उदात्त जीवन होगा।

यह सुनकर मैं तुरन्त उससे मिलने के लिए चल पड़ा और मेरू पर्वत की चोटी पर पहुंच

गया जहां काग भुषुण्डि रहता था मैंने वहां कूट नामक आकाशचुम्बी वृक्ष देखा। जिसकी प[illegible]
हीरे के समान चमचमा रही थी। उस वृक्ष पर ब्रह्मा की सवारी हंस, अग्नि देवता की सवारी शुक
कार्तिकेय की सवारी मयूर आदि थे और भी कई प्रकार के पक्षी थे। कुछ दूरी पर कौवे दिखाई
दिए जिनमें महान् कागभुषुण्डि था जो बिल्कुल शान्त बैठा था - अति सुन्दर और ज्योतिवान था।
यही था दीर्घ जीवी भुषुण्डि जिसने सृष्टि की कई रचनाएं (युग) देख ली थीं - उसमें 'मैं - मेरा' का
भाव नहीं था - सभी का मित्र था।

मैं सीधा भुषुण्डि के सामने जाकर उतरा - उसने विधिपूर्वक मेरा आतिथ्य किया - मेरे पहुंचने
पर कृतज्ञता प्रगट की - मैंने उससे पूछा, "तुम किस जाति से आए हो, तुमने जानने योग्य ज्ञान कहां
से प्राप्त किया - तुम्हारी क्या अवस्था है - तुम्हें कुछ भूतकाल की घटनाएं याद हैं क्या" ? आदि
आदि।

भुषुण्डि ने अपने जन्म की लम्बी कहानी सुनाते हुए बताया कि किस प्रकार अपने पिता
चनाड कौवे के निर्देशानुसार वे 21 भाई सुमेरू पर्वत पर आकर रहे और 21 में से उस अकेले के
शेष रहने का क्या रहस्य है।

भुषुण्डि कहता है—हे ऋषिवर ! बहुत लम्बा समय बीत चुका है - मेरे भाइयों के स्थूल
शरीर शिवलोक पहुंच चुके - संसार में जो आता है, उसे कभी न कभी शरीर छोड़ना ही होता है
- पवित्र आत्माएं - शक्तिवान शरीर भी इस नियम से नहीं बचीं - फिर भी विधि का विधान ही
होगा जो मैं शेष हूं। मैंने कई सृष्टियां देख लीं - मानसिक रूप से शरीर का संबंध त्याग दिया।
सदैव आत्मज्ञान में स्थित रहता हूं। इस कल्पवृक्ष पर रहते हुए मैं प्राणायाम के अभ्यास द्वारा समय
से ऊपर उठ गया हूं।

प्रलय होने पर घोंसला छोड़कर मैं पूर्णरूपेण मन और उसके विचारों से मुक्त होकर सर्वात्म
स्थान से एक रूप हो जाता हूं।

जब 12 सूर्य पृथ्वी पर असह्य गर्मी छोड़ते हैं तो मैं वरूण धारणा का अभ्यास करता हूं।
जब प्रबल आंधी चलती है तो पारवती धारणा का अभ्यास करता हूं। जब सारी पृथ्वी प्रलय जल
में डूबने लगती है तो वायु धारण का अभ्यास करता हूं। इस प्रकार इन सब परिवर्तनों से अप्रभावित
रहकर मैं नई सृष्टि की रचना तक गाढ़ निद्रा में सोता रहता हूं। फिर इसी घोंसले में रहने लगता
हूं।

शरीर की आवश्यकता पूर्ति हेतु सारे काम करता हूं - अन्य किसी वस्तु से सम्पर्क नही
रखता - मानसिक रूप से किसी भी काम में आसक्त नहीं होता और अपने यथार्थ स्वरूप से कभी
अलग नहीं होता - इस सारे ज्ञान का आधार प्राणायाम का अभ्यास अर्थात् योग है—मैंने प्राण और
अपान के संसरण की गति पाई है - इससे आत्मबोध हुआ।

प्राण अपान की कला

प्राण हृदय से उपज कर 12 अंगुल तक बाहर जाता है। फिर वहां से अपान रूप हो कर
हृदय में आकर चित्त होता है।

बाहर आकाश के सम्मुख जो प्राण जाता है, वह अग्नि सा उष्ण होता है - और हृदयाकाश
के सम्मुख जो आता है, वह शीतल नदी के प्रवाह सा होता है। अपान चन्द्रमा रूप है जो बाहर से
भीतर आता है। भीतर से बाहर जाने वाला सूर्य रूप है - अग्नि जैसा उष्ण।

प्राण वायु हृदयाकाश को तपाता और अन्न को पचाता है। और अपान हृदय को चन्द्रमा
की तरह शीतल करता है। जब अपान रूपी चन्द्रमा प्राण रूपी सूर्य में लीन हो जाता है - जहा
तत्व है - तो उसमें स्थित हुआ मन शोक को नहीं प्राप्त होता - और प्राण रूपी सूर्य जब अपान
रूपी चन्द्रमा के घर में लीन होता है उस अवस्था में फिर जन्म का भागी नहीं होता।

प्राण-अपान रूपी चन्द्रमा-सूर्य बिना यत्न के ही उदय अस्त होते हैं। जब प्राण रूप सूर्य हृदय कोट से उपज कर बाहर आता है, उसी क्षण अपान रूप चन्द्रमा में लीन होता है और अपान रूपी चन्द्रमा उदय हो जाता है। और जब अपान रूपी चन्द्रमा हृदय कोट के प्राण वायु रूपी सूर्य मे स्थित होता है, तब उसी क्षण प्राण रूपी सूर्य उदय होता है। प्राण के अस्त होने पर अपान का उदय होता है और अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है। जैसे छाया के अस्त होने पर धूप और धूप के छिपने पर छाया - ऐसे ही प्राण अपान की गति है।

जब हृदय से प्राण का उदय होता है, तब प्राण का रेचक और अपान का पूरक होने लगता है - और जब प्राण अपान में स्थित होता है, तब अपान का कुम्भक होता है। इस कुम्भक में जब स्थिति होती है तब फिर तीनों तापो से तप्त नहीं होते। जब अपान का रेचक होता है, तब प्राण का पूरक होने लगता है, और जब अपान जाकर स्थित होता है, तब प्राण का कुम्भक होता है। जब मन स्थित होता है, तब भी तीन तापों से तप्त नहीं होता।

हे मुनिश्वर ! प्राण अपान के भीतर जो शान्त रूप आत्म तत्व है, उसमें जब स्थिति होती है तब मन तप्त नहीं होता। जब अपान आकर स्थित होता है और प्राण का उदय नहीं हुआ होता उस अवस्था में जो साक्षी भूत सत्ता है, वह आत्मतत्व है - उसमें जब स्थिति होती है, तब फिर वह साधना कठिन नहीं होती।

जब अपान के स्थान में प्राण स्थित होता है और अपान जब तक उदय नहीं होता, वहा जो देश, काल, अवस्था है, उसमें जब मनस्थित होता है, तब मन का मनत्व जाता रहता है, और फिर नहीं उपजता। प्राण जब अपान में स्थित हुआ होता है और अपान का उदय नहीं हुआ होता वह कुम्भक है। अपान जब प्राण में स्थित हुआ हो और प्राण का उदय नहीं हुआ हो, उस कुम्भक मे जो शान्त तत्व है, वह आत्मा का स्वरूप, शुद्ध और परम चैतन्य है। जो उसको प्राप्त होता है वह फिर शोक युक्त नहीं होता।

जैसे पुष्प में गंध का प्रयोजन होता है, वैसे ही प्राण अपान के भीतर जो अनुभव तत्व स्थित है उससे प्रयोजन है। वह न प्राण है, न अपान - उस अनुभव स्वरूप आत्मतत्व की हम उपासना करते हैं। प्राण अपान कोट में क्षय को प्राप्त होता है और अपान प्राण कोट में। इस प्राण और अपान के मध्य में जो चिदात्मा है, उसकी हम उपासना करते हैं।

हे मुनिश्वर ! जो प्राण का प्राण, अपान का अपान, जीव का जीव और देह का आधारभूत है उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जो सब प्रकाशों का प्रकाश है, सब पावनों का पावन है और जो सर्व है - उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। उस चिदात्मा पर चिन्तन करना ही सर्वोत्तम स्थिति है - इस असीम शुद्ध चैतन्य पर ध्यान लगाने से ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं। संसार रूपी दीर्घ स्वप्न विलीन हो जाता है। इसमें मन और हृदय शुद्ध होता है, चिन्ताएं व विपत्तियां दूर होती हैं।

हृदय से सारे अवयवों को शक्ति मिलती है। केन्द्रीय मनःशक्ति जिसे हृत्कमल कहते हैं, वही शक्ति प्राण है - इसी में नेत्र, कान, मुख आदि कार्य करते हैं इसके दो पक्ष हैं। एक ऊपर एक नीचे क्रमशः प्राण और अपान। ऊपर वर्णन किये अनुसार जो प्राण अपान की उपासना करता है वह बंधन से मुक्त हो जाता है।

जब अपान अस्त हुआ और प्राण नहीं उपजा, उस क्षण में जो कलंक से रहित है, उस चैतन्य तत्व की, हम उपासना करते हैं। जब प्राण अस्त हुआ और अपान नहीं उपजा, ऐसा जो नासिका के अग्रभाग में शुद्ध आकाश है और उससे जो सत्यता है, उस चित सत्ता की हम उपासना करते हैं।

हम आत्मा में ही स्थित रहे शरीर और मन को व्यग्र करने वाली व्यर्थ की प्रवृत्तियों में न

पड़कर सुखी और सतुष्ट ।

ज्ञान प्राप्ति के दो साधन बताए हैं - ब्रह्म चिन्तन और प्राण चिन्तन। ब्रह्मचिन्तन है ज्ञानयोग जो योगवासिष्ठ का प्रधान विषय है। प्राण चिन्तन हठ योग के अन्तर्गत आता है - प्राणों के सुचारू सचालन पर जीवन की समस्त क्रियाएं आधारित हैं। काग-भुषुण्डि द्वारा वर्णित प्राणों के नियमन प्राणायाम रहस्य पर प्रकाश डालकर वसिष्ठ जी ने मोक्ष प्राप्ति की विद्या प्राण चिन्तन को समझाया है।

8. योग के सात स्तर

अनेक जन्मों के बाद जीव को यह चेतना होती है कि संसार के धन्धे निरर्थक हैं, इनमें जीवन गवाना व्यर्थ है। धीरे धीरे उसमें वैराग्य उत्पन्न होने लगता है, पाप से डरने लगता है, वाणी मे माधुर्य और सत्य का उदय होता है - यह योग का प्रथम चरण है। वह सन्त जनों का संसर्ग और धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन करने लगता है - इसकी निरन्तर खोज संसार रूपी समुद्र को पार करने की रहती है।

तत्पश्चात् साधक योग के दूसरे स्तर 'विचार' में प्रवेश करता है। वह उच्च कोटि के सतो का संसर्ग खोजकर शास्त्र अध्ययन करके योगाभ्यास करता है। अभिमान, ईर्ष्या, भ्रांति तथा लोभ आदि दुर्गुणो को त्याग देता है।

फिर वह शीघ्र ही निरासक्ति की स्थिति में पहुंचकर एकान्त प्रिय हो जाता है। तीसरी भूमिका में प्रवेश करके समझने लगता है कि 'न मैं कर्ता हूं, न भोक्ता। दुख सुख समय के अनुसार आते है, चले जाते हैं।' इसप्रकार के चिन्तन से वह सत्य की खोज में लग जाता है।

योग के तीन स्तर जागृत अथवा चेतना स्थिति कहलाते हैं, क्योंकि इनमें अन्तःचेतना मे विभाजन है। योग के इन प्रथम तीन स्तर के प्रबल अभ्यास से अज्ञानता नष्ट होकर हृदय में ज्ञान का उदय होता है। योग के चतुर्थ स्तर में साधक सब में एक का दर्शन करने लगता है और संसार स्वप्न के समान प्रतीत होने लगता है।

पांचवें स्तर में अविभाजित यथार्थ रह जाता है, अतः वह सुषुप्ति के समान माना जाता है। इस स्तर पर पहुंचा हुआ योगी संसार के समस्त कार्य करता हुआ भी अपने में शान्त रहता है। तत्पश्चात् छटे स्तर में प्रवेश करता है जो तुरिया कहलाता है। उसमें साधक सोचता है कि मैं द्वैतभाव और अद्वैत -दोनों से परे हूं। सारे संदेह दूर हो गए। वह बिना निर्वाण को प्राप्त किए भी तेल रहित लैम्प के समान चित्रित सा रहता है - भीतर से शून्य खाली बर्तन के समान, परन्तु साथ ही भीतर बाहर से पूर्ण।

सप्त भूमिका पर पहुंचे हुए ज्ञानी विदेह मुक्त कहलाते हैं। उनकी स्थिति अवर्णनीय है, फिर भी विभिन्न प्रकार से उनका वर्णन होता है। योगवासिष्ठ में राजा जनक, भक्त प्रह्लाद, दैत्यराज बलि, वीतहव्य और भागीरथ आदि कई राजर्षियों का वर्णन है जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर के विदेह की भाति संसार के समस्त कर्तव्यों का पालन किया है।

इन सात भूमिकाओं का अभ्यास करने के पश्चात् मनुष्य दुख को प्राप्त नहीं होता। परन्तु इच्छा रूपी हाथी जो शरीर रूपी वन में भ्रमण करता है, वह ऐन्द्रियकता से मतवाला होता है - उसके अनेक नाम हैं - वासना, मन, विचार, भाव, आकर्षण आदि। साहस तथा संकल्प रूपी हथियार मे उसका दमन करने पर इन सात भूमिकाओं को प्राप्त करने में सफलता मिलती है अथवा अभिन्नता की अनुभूति से उत्पन्न संकल्प के द्वारा।

जब तक मनुष्य दृष्य पदार्थों में विश्वास करता है, तब तक वासनाओं का जन्म होता रहता है पदार्थों को न मानना इच्छा को नष्ट करता है - यही ज्ञान का रहस्य है। अतएव महापुरुष

अनुभूत [illegible] अनुभूत [illegible] [illegible] सर्व श्रेष्ठ है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर दुःख का अन्त [illegible] परम आनन्द शाश्वत सुख (सुपरीम ब्लिस) की प्राप्ति होती है - अन्य किसी प्रकार से नहीं

मैं सत्य-ज्ञान और आनन्द [illegible] मैं हूं - मैं अमर और अविनाशी [illegible] इस भाव में व्यक्ति और ब्रह्म [illegible]

□ चित्त को आत्मा के प्रतिबिम्ब रूप में देखने से आत्मानन्द का स्रोत बनता जाता है।

□ आत्मा पर चित्त स्थिर करने से मन में शान्ति रहती है और हर काम करने के लिए आत्मज्योति (अन्तःकरण) से सही प्रेरणा मिलती है। •

उपसंहार

वसिष्ठ जी कहते हैं - हे राम ! मैंने तुम्हें सर्वोच्च सत्य को निर्दिष्ट करने वाला शब्दजाल प्रदान किया है - अपने चित्त को हृदय में स्थिर करके तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

इस सत्य पर बारम्बार चिन्ता करके अपने मार्ग पर आगे बढ़ो। यदि तुम्हारी बुद्धि इस सत्य से प्रकाशमान रहेगी तो विभिन्न प्रवृत्तियों में संलग्न रहकर भी अपने समस्त सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए तुम बंधन में नहीं पड़ोगे। और यदि तुम इस शिक्षा को केवल बुद्धि से ग्रहण करके जीवन में नहीं उतारोगे तो अंधे मनुष्य की भांति ठोकर खाकर गिर पड़ोगे।

मेरे द्वारा बताए ज्ञान की स्थिति पर पहुंचने के लिए तुम्हें पूर्णरूपेण विरक्त का जीवनयापन करना होगा। समय के अनुसार जो भी उपयुक्त है करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होवो - सारे धर्मशास्त्रों की शिक्षाओं का यही सर्वोपरि अंग है।

बाल्मीकि जी अपने शिष्य सन्त भारद्वाज से कहते हैं कि अपने गुरु वसिष्ठ जी से परमोच्च ज्ञान का सार सुनकर शक्तिपात से प्रभावित हुए राम कुछ समय के लिए आनन्द सागर में मग्न हो गए। उन्होंने प्रश्न पूछना उत्तर पाना उन्हें समझना बंद कर दिया। वह आत्म ज्ञान की परमोच्च दशा में स्थित हो गए।

भारद्वाज जी बोले, गुरुदेव ! यह सुनना यथार्थ में परम आनन्दप्रद है कि राम ने वह परम पद प्राप्त किया, परन्तु अब यह कैसे सम्भव हो कि हम जैसे मूर्ख और अज्ञानी जन जो पाप युक्त प्रवृति के हैं, वह स्थिति प्राप्त करें जिस तक पहुंचना ब्रह्मा जैसे देवों के लिए भी कठिन है।

महर्षि बाल्मीकि ने कहा कि मैंने तुम्हें राम और वसिष्ठ जी के बीच हुआ वार्तालाप पूर्ण रूपेण सुना दिया है। इसका भली प्रकार चिन्तन करो क्योंकि यह मेरे लिए उपदेश है। शुद्ध चैतन्य मे कोई विभाजन नहीं है जिसे संसार कहा जा सके। तुम्हें बताई हुई युक्तियों द्वारा विभाजन के विचारों से मुक्त हो जाओ। जागृत और सुषुप्ति - दोनों अवस्थाएं इस दृष्टि के अंग हैं। आत्मज्ञान का लक्षण शुद्ध अन्तर आलोक है। आत्मज्ञानी सदैव सत्य में स्थित होता है जो विभिन्न प्रतीत भी नही होता।

भारद्वाज बोले, भगवन् ! मैं अब सूक्ष्म शरीर से मुक्त होकर परम आनन्द के सागर में तैर रहा हूं। मैं उस परम ब्रह्म से एक रूप हो गया हूं जो शाश्वत है, सर्वव्यापी, नित्य, शुद्ध एवं शान्त।

गुरुदेव ! आप के ज्ञानपरक वार्तालाप ने मुझे जगा दिया है। अब मैं यह जानना चाहता हू, आत्मज्ञानी अपने कर्तव्य करते हैं या बिलकुल नहीं। बाल्मीकि जी ने मुमुक्षु के कर्तव्य विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा कि मैंने तुम्हें वसिष्ठ जी की वार्ता सुना दी है - उस के अभ्यास से अपने चित्त को स्थिर करो, ज्ञान एवं योग के मार्ग पर अग्रसर होओ, तुम्हें पूर्ण साक्षात्कार हो जाएगा।

राम को पूर्णतया आत्म स्थित देखकर विश्वामित्र जी वसिष्ठ जी से बोले, हे सृष्टि रचयिता के पुत्र ! तुम महान् हो। तुम ने शक्तिपात द्वारा सिद्ध कर दिया कि तुम यथार्थ गुरु हो। गुरु वह है जो दृष्टि से, स्पर्श से, मौखिक वार्ता से अथवा दिव्य कृपा द्वारा शिष्य में ईश्वरीय चेतना जागृत कर दे। शिष्य के सारे दोष दूर होकर प्रज्ञा शक्ति जागृत होती है। किन्तु हे मुनिश्वर ! अब कृपया राम को पुनः देह चेतना में लाओ, क्योंकि उन्हें तीनों लोकों के कल्याण के लिए और मेरे लिए बहुत कुछ करना है।

सारे उपस्थित जन समूह ने राम को प्रणाम किया। मुनि वसिष्ठ के आग्रह पर विश्वामित्र जी ने राम के यथार्थ स्वरूप का परिचय दिया कि वह देवाधिदेव भगवान विष्णु के अवतार हैं सारे देवता इन्हीं के हैं राजा दशरथ पुण्यशाली हैं रावण का वध करके पृथ्वी

का भार उतारने हेतु राम दशरथ के घर में जन्मे हैं।

वसिष्ठ जी ने राम को सम्बोधन करके कहा, हे राम ! यह समय आराम करने का नहीं है, विश्व को आनन्दित करने के लिए उठो। यह कहकर उन्होंने राम के हृदय में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्रवेश किया, राम ने नेत्र खोले और सामने विद्यमान गुरु पर दृष्टि डाली। उनके चरणों पर मस्तक रखकर बोले, "आप के वचन सदा शिरोधार्य हैं।" फिर समस्त उपस्थित मण्डल को सम्बोधित करते हुए बोले, "सुनो, आत्मज्ञान से बढ़कर कुछ नहीं है, गुरु से श्रेष्ठ कोई नहीं है।"

सारे एकत्रित सन्त समूह एवं देवगण ने राम पर पुष्पवर्षा कर साधुवाद किया और चले गए।

इस प्रकार महर्षि बाल्मीकि ने भारद्वाज को रामकथा सुनाकर कहा, "हे भारद्वाज ! इस योग के अभ्यास द्वारा परमानन्द प्राप्त करो। जो भी निरन्तर इस राम-वसिष्ठ के वार्तालाप को सुनेगा - जीवन की किसी भी परिस्थिति में हो - वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा।"

योग वासिष्ठ भारतीय ज्ञानरवि की एक अनुपम रश्मि है। इसमें ब्रह्मनिरूपण, संसार की निस्सारता, उससे तरने के उपाय, दैव-पुरुषार्थ, तत्व ज्ञान एवं उसके साधनों के प्रत्येक अंग पर क्रमानुसार विचार किया गया है जिसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

महर्षि वसिष्ठ ने राम के पूछने पर योगवासिष्ठ का सार निचोड़कर एक श्लोक में भर दिया—

"तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृग पक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥"

अर्थात्—पशु पक्षियों से मनुष्य को विशिष्ट उसकी मनन शक्ति के कारण माना जाता है - प्राण शक्ति और मनन शक्ति दोनों का विकास केन्द्र मानव है।

इस विशिष्ट उपदेश को आत्मसात कराने के उच्च उद्देश्य से समग्र योगवासिष्ठ प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत विशिष्ट उपदेश को विश्वहित के लिए प्रसारित करने के कारण ग्रन्थ का नाम "वासिष्ठ" रखा गया। वैदिक भाषा में विशिष्ट का बोधक वसिष्ठ शब्द से है।

योगवासिष्ठ हिन्दू धर्म का परमोच्च दर्शन ग्रन्थ है। इसमें वेदान्त सांख्ययोग, जैनमत, शैव सिद्धान्त तथा बौद्धधर्म (महायान) के सूत्र सूक्ष्म रूप से बुने हुए हैं।

जिस प्रकार सोते हुए व्यक्ति के सामने प्रकाश कर देने से वह जाग जाता है, उसी प्रकार अज्ञान निद्रा में सोया हुआ मनुष्य योगवासिष्ठ महारामायण के ज्ञान रूपी चकाचौंध करने वाले प्रकाश से जागने लगता है।

■

परिशिष्ट

(i) 'मृत्यु' की उत्पत्ति का रहस्य

महाभारत में प्रसंग है कि बाणों की शैया पर पड़े हुए भीष्म पितामह से युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर उन्होंने श्रीनारदमुनि द्वारा वर्णित उपाख्यान सुनाते हुए मृत्यु की उत्पत्ति का रहस्य बताया था, वह इस प्रकार है—

सृष्टि रचना प्रक्रिया में ब्रह्मा जी ने असंख्य जीवों को रचा तब तक मृत्यु का आस्तित्व नही था। अतएव पृथ्वी पर अत्याधिक आबादी के कारण किंचित भी स्थान नहीं था और ब्रह्माण्ड का सारा वातावरण विक्षिप्त सा (suffocating) हो गया था।

जीवसँख्या की ऐसी भयकर स्थिति देखकर ब्रह्मा जी चिन्तन करने लगे कि किस प्रकार प्राणी सँख्या कम की जावे। इस समस्या का कोई हल नहीं सूझा तो वह क्षुब्ध हो उठे उस समय क्रोध वश उनके नेत्रों एवं अन्य इन्द्रियों से अग्नि प्रकट हो गई और जगत को नष्ट करने लगी। तदनन्तर आकाश और पृथ्वी में आग की लपटें फैल गई भगवान अग्नि देंव सम्पूर्ण चराचर जगत को दग्ध करने लगे।

तब जटाधारी दुःखहारी स्थाणु नामधारी भगवान रूद्र परमेष्टी भगवान ब्रह्माजी की शरण मे गये। प्रजावर्ग के हित की इच्छा से भगवान रूद्र के आने पर परमदेव महामुनि ब्रह्मा जी बोले—

"अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त करने योग्य पुत्र ! तुम मेरे मानसिक संकल्प से उत्पन्न हुए हो- बताओ क्या चाहते हो - मैं तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य करूंगा।"

स्थाणु (रूद्रदेव) ने कहा—"प्रभो ! आपने स्वयँ प्रजा की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न किया, अब आपकी सारी प्रजाएँ आपके क्रोध से दग्ध हो रही हैं - आप उन पर प्रसन्न होइये।"

ब्रह्मा जी बोले—रूद्र ! वसुधा के हित के लिए ही मेरे मन में क्रोध का आवेश हुआ था। हे महादेव ! इस पृथ्वी ने भार से पीड़ित होकर मुझे जगत के संहार के लिये प्रेरित किया था - यह सती साध्वी देवी महान् भार से दबी हुई थी, तब मैनें अनेक उपायों पर विचार किया, कोई उपाय न सूझा तो मुझे क्रोध का आवेश हो गया।

रूद्र बोले, "भगवन् ! यह जगत भूत, भविष्य और वर्तमान - तीनों रूपों में विभक्त हो जाय, आपके मन रोप न हो आपका तेज स्वरूप क्रोध जगत के संहार से निवृत्त होकर आप में ही विलीन हो जाय - यही मेरे लिये आपकी ओर से वर प्राप्त हो। आप इनकी ओर कृपा पूर्ण दृष्टि से देखिये - सतानों का नाश होने से जगत के सम्पूर्ण प्राणियों का अभाव न हो जाय।"

"आदि देव ! आपने सम्पूर्ण लोकों में मुझे लोक सृष्टा के पद पर नियुक्त किया है।"

महादेव के यह वचन सुन कर ब्रह्मा ने पुनः अपनी अन्तरात्मा में ही उस तेज (क्रोध) को धारण कर लिया और अग्नि का उपसंहार करके लोगों को प्रवृत्ति (कर्म) और निवृत्ति (ज्ञान) मार्गों का उपदेश किया।

उपसंहार करते समय ब्रह्मा जी की सम्पूर्ण इन्द्रियों से एक नारी प्रकट हुई जो काले और लाल रंग की थी। जिव्हा, मुख और नेत्र पीले-लाल रंग के थे - स्वर्ण की भाँति शोभित थी - उसके सभी आभूषण तप्त स्वर्ण के समान चमक रहे थे। वह उनकी इन्द्रियों से निकल कर दक्षिण दिशा में खड़ी हुई। उन दोनों देवताओं को देखकर वह मुस्कुराने लगी। ब्रह्मा जी ने पास बुलाकर उसें मृत्यु कहकर पुकारा और कहा "इन समस्त प्रजाआ का सहार कर "

देवि ! तुम संहार बुद्धि से मेरे रोष द्वारा प्रकट हुई हो, अतः मूर्ख और अज्ञान अंधकार में डूबी हुई प्रजाओं का संहार करती रहो । इससे तुम कल्याण को प्राप्त होगी । ब्रह्माजी का आदेश सुनकर मृत्यु के दोनों नेत्रों से टपटप आँसू गिरने लगे, ब्रह्मा जी ने उसे सान्त्वना देने के लिए अश्रु अपने हाथ में ले लिए।

नारद जी आगे कहते हैं, वह बड़े २ नेत्रों वाली देवी मृत्यु तब [illegible] ब्रह्माजी से कहने लगी, "भगवन् ! जीवित प्राणियों का संहार जैसा भयानक कृत्य करने हेतु आपने मुझ को क्यों उत्पन्न किया है ? मैं बच्चे, युवक और वृद्धों को अनके स्नेही माता पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धियों से कैसे विलग करूँगी ? मैं तपस्या करना चाहती हूँ ।"

मृत्यु के बारम्बार अनुनय विनय करने पर भी ब्रह्मा जी अपनी आज्ञा पर अटल रहे कि इन जीवों को तुम्हें मारना ही होगा, इसी कार्य के लिए तुम्हें सर्जित किया गया है । तत्पश्चात् एक भी शब्द कहे बिना मृत्यु ने ब्रह्मा के सामने से जाकर एक आश्रम की शरण ली और वहाँ घोर तपस्या करने लगी । पन्द्रह दिव्य वर्षों के बाद फिर ब्रह्माजी प्रकट हुए और वही आदेश दोहराया, अतएव मृत्यु बीस हजार दिव्य वर्षों के लिए वन में जाकर हरिणों के साथ भ्रमण किया फिर बीस हजार दिव्य वर्षों तक केवल वायु पर रह कर अनेक प्रकार की घोर तपस्या की । पुनः ब्रह्मा जी ने प्रकट होकर कहा, "हे पुत्री ! तुम व्यर्थ मे भयंकर तप कर रही हो । तुम्हें मेरे आदेश का पालन करना ही होगा । जीवित प्राणियों को मारने का पाप तुम्हें नहीं लगेगा - धर्म द्वारा तुम्हारी रक्षा होगी - तुम्हारे इस कृत्य के लिए देवता गण तुम्हारी रक्षा करेंगे । तुम्हारे अश्रु कण जो मैंने अपने हाथों मे लिए थे वे भीषण रोग और आपत्तियाँ बन कर संहार कार्य में तुम्हें योग देंगे । तुम प्राणों को उन्हीं के कर्मों के नाश से संहार करोगी । तुम उनमें वासना और क्रोध उत्पन्न करोगी जो उनके विनाश का कारण बनेगा ।" इस पर मृत्यु ने उनका आदेश स्वीकार कर लिया ।

नारद जी कहते हैं तब से मृत्यु बराबर कर्मानुसार मनुष्यों का संहार करती रही है । जिस प्रकार निद्रावस्था में इंद्रियाँ विरत हो जाती हैं, जागने पर पुनः क्रियाशील बन जाती हैं, इसी प्रकार मृत्यु के बाद सारे प्राणी सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, फिर अपने -२ कर्मानुसार पुनः भौतिक संसार में प्रवेश करते हैं । यह है जन्म और मृत्यु का रहस्य ।

(ii) शुक्र की कहानी

दीर्घ काल पूर्व ऋषि भृगु एक पर्वत की चोटी पर कठोर तपस्या कर रहे थे। इनका पुत्र शुक्र जो उस समय युवक था पिता के ध्यानास्थ होने पर उनकी आवश्यक सेवा सुश्रूषा करता था।

एक दिन युवक आकाश में एक अप्सरा को उड़ते हुए देखकर उसे पाने की आकांक्षा करने लगा। उस तेजस्वी युवक शुक्र को देखकर उसको भी आकर्षण हुआ।

उस परी के लिए अत्याधिक लालायित होकर शुक ने नेत्र मूँद लिए और मानसिक रूप से उसका पीछा करते-२ स्वर्ग पहुँच गया। वहाँ उसने देवी-देवता स्वर्गीय हाथी घोड़े और सृष्टि रचयिता ब्रह्मा तक को देखा तथा ब्रह्माण्ड का शासन करने वाले अन्य देवताओं को भी - स्वर्गीय उद्यानों आदि का भ्रमण करके अन्त में देवताओं के स्वामी इन्द्र को भी देखा जो अपने ऐश्वर्य्य पूर्ण सज धज कर बैठा हुआ अद्वितीय सुन्दरी अप्सराओं से घिरा हुआ था।

शुक्र ने इन्द्र का अभिवादन किया - इन्द्र ने भी खड़े होकर स्वागत करते हुए शुक्र को कुछ काल तक वहाँ ठहरने का निमन्त्रण दिया जो उसने स्वीकार भी कर लिया।

शुक्र अपने पूर्व स्वरूप को बिल्कुल भूल गया। कुछ दिनों इन्द्र के आथित्य में रहने के पश्चात् उसने पहले देखी हुई अपसरा को ढूँढा। मिलने पर दोनों एक दूसरे पर आकर्षित हो गए। अप्सरा ने शुक्र से प्रेम की भिक्षा माँगकर आलिंगन किया। शुक्र उस समय अप्सरा के साथ स्वर्ग मे भ्रमण करता हुआ दीर्घकाल तक रहा जो आठ संसार चक्रों के समान था।

इतनी अवधि में शुभ कार्यों के फल पूरे होने पर शुक्र उस अप्सरा के साथ पृथ्वी पर आ गिरा। वे ओस की बूँद बनकर अनाज में प्रविष्ट हुए वह अनाज एक ब्राह्मण ने खाया - उसके वीर्य से शुक्र उनका पुत्र हुआ अप्सरा स्त्री हरिण बनी उसके द्वारा शुक्र को मनुष्य रूप का पुत्र हुआ जिसमें उसे बहुत आसक्ति थी इस बालक की चिन्ता परेशानियों से दुःखी होकर आनन्द की कामना करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। फलस्वरूप अगले जन्म में राज्य का शासक हुआ - फिर तापसी जीवन की आकाँक्षा करते हुए जीवन का अन्त हुआ तो अगले जन्म में सात्विक व्यक्ति बना।

इस प्रकार एक के बाद एक जीवन व्यतीत करके अपने भाग्य के फल भोगने के पश्चात् नदी के किनारे खड़ा होकर तपस्या करने लगा। अपने पिता के सामने खड़े हुए इस प्रकार चिन्तन करते-करते उसने अपने विभिन्न जन्मों के सारे उतार-चढ़ाव देखे कभी स्वर्गारोहण, कभी पृथ्वी पर उतरना। इन दृश्यों में वह इतना तल्लीन हो गया कि सब कुछ सत्य प्रतीत होने लगा।

शरीर वहाँ पड़ा हुआ सब प्रकार की ऋतुओं से प्रभावित हुआ खाल की झिल्ली मात्र रह गया था देखने में भी भयावना था, किन्तु पशुओं द्वारा किंचित भी नहीं सताया गया था क्योंकि तपस्या में बैठे हुए संत भृगु के सामने ही था, और शुक्र स्वयं से भी योगाभ्यास के बल द्वारा उसमे मानसिक शक्ति निहित थी।

सौ दिव्य वर्ष योग साधना के पूरे होने पर भृगु ऋषि आसन से उठे और अपने समक्ष शुक्र के स्थान पर उसका सूखा हुआ शरीर देखा। उसका शरीर कीड़े मकोड़ों का घर बना हुआ था जो तेजी से आँखों के भीतर घुस रहे थे। यह देखकर यथार्थ में घटित स्थिति पर चिन्तन किए बिना ही वह क्रोध में भर गए और अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु के लिए 'काल' (यम) को श्राप देने लगे। इतने में ढाल, तलवार लिए हुए छः हाथों और छः मुखों वाला 'काल' अपने सेवक मण्डल सहित आ उपस्थित हुआ। उसके शरीर से और शस्त्रों से विनाशकारी लपटें निकल रही थीं।

वह भृगु ऋषि के पास जाकर शान्ति पूर्वक कहने लगा "भौतिक शरीर दुख सुख का अनुभव नहीं करता है मन अनुभव करता है वास्तव में देह मन की कल्पना (fancy) के अतिरिक्त

कुछ नहीं है मन के बिना भौतिक शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।"

सारे जीव अपनी क्षमता और पूर्व संस्कारों के अनुसार प्रकट हुए कर्म प्राप्त करते हैं कोई व्यक्ति, अथवा देवता उनका जिम्मेदार नहीं है।

तुम जैसे ज्ञानी सन्तों के लिए यह अकारण रोष उचित नहीं। ज्ञानी पुरुष तो किसी के द्वारा भड़काए जाने पर भी नहीं चिढ़ते हैं। तुम पूज्य हो, मैं तुम्हें अभिवादन करता हूँ।

मैं काल हूँ मैंने असंख्य प्राणियों को नष्ट किया है - मैं भक्षक हूँ तुम मेरा भोजन हो, वस्तुत यह प्रकृति द्वारा निर्धारित है, यह पारस्परिक पसन्द पर निर्भर नहीं है। सब के हृदय में स्थित परमात्मा द्वारा कर्मानुसार भाग्य बनता है।

तुम सत्य के ज्ञाता हो, सत्य की अनुभूति करो - हम तो अपने स्वाभाविक कर्तव्य का पालन करते हैं - किसी स्वार्थ अथवा अहंभाव से प्रेरित होकर नहीं। तुम व्यर्थ ही क्रोध करते हो।

तत्पश्चात् यम ने शुक्र के अप्सरा के पीछे जाने, स्वर्ग के भोग भोगने एवं अनेक योनियों मे भ्रमण करने की कथा सुनाकर बताया कि अब वह सामङ्ग नदी के किनारे ब्राह्मण पुत्र वासुदेव के रूप में तपस्या कर रहा है। यह सब वृत्तान्त सुनकर भृगु ऋषि ने अपनी प्रज्ञा शक्ति से स्वयं अपने पुत्र के जीवन पुनरावर्तन का पूरा विवरण देख लिया। तत्पश्चात् पुत्र के प्रति बिल्कुल निरासक्त भाव से भृगु यम से बोले, "भगवन्! आप तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) के ज्ञाता हो और हम तुच्छ बुद्धि वाले हैं। यह दृश्य जगत उच्च कोटि के ज्ञानी पुरुषों को भी भ्रमित कर देता है। आप निश्चय ही मन के द्वारा उत्पन्न की हुई स्थिति को समझते हैं।"

मेरा पुत्र मृतक नहीं है फिर भी मैं उसे समय से पूर्व मृतक जानकर मैं उद्विग्न हो उठा। ससार में क्रोध न करने योग्य कर्म करवा देता है जबकि शान्ति से मनुष्य कर्तव्य कर्म करने को समर्थ होता है।

मैंने अपने पुत्र को पुनः देख लिया और मैं मानता हूँ कि मन ही शरीर है - मन ही संसार के दृश्य को रचता है। यम बोला, हे महात्मन्! तुमने सत्य कहा, मात्र विचारों के द्वारा मन शरीर की सर्जना करता है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएं मन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नही है - इस प्रकार समझाने के पश्चात् वह भृगु का हाथ पकड़ कर उस के पुत्र शुक्र के पास ले गया जो पहले से भिन्न शरीर में बड़ी शान्त अवस्था में था।

दो आलोकित आत्माओं को सामने देखकर वह खड़ा हो गया और स्वागत करके चट्टान पर बिठाया। भृगु के कहने पर शुक्र ने आँख मीच कर क्षण भर में अपनी पूर्व सत्ता का स्मरण कर लिया और बोला, "देखिये मैंने अनगिनत शरीर धारण किए हैं और सुखद और दुखद असंख्य अनुभव किए हैं। अब मुझे कोई इच्छा वासना नहीं है। पिताजी, आइये जहाँ मेरा पुराना शरीर सूखा हुआ है वहाँ चलें। शीघ्र ही वे तीनों वहाँ पहुँच गए। विनाश की भयंकर स्थिति में अपन शरीर को पड़ा देखकर शुक्र दुख प्रकट करने लगा, बोला कि जो सुन्दर देह स्वर्ग की परियों को भी मोहित करने वाला था आज मन रूपी हाथी से अलग हो कर विचारों और संकल्पों से मुक्त हुआ यह शरीर निराधार पड़ा हुआ कीड़े मकोड़ों का निवास बन गया है। यह मेरा अहोभाग्य है कि मैं इस देह को इस वन मे दुखों से मुक्त हुआ देख सका।"

युवक साधु वासुदेव को अपने पूर्व शरीर पर दुख प्रकट करते हुए देखकर यम ने कहा, हे भृगु पुत्र! तुम अपने इस शरीर को छोड़कर पूर्व शरीर में प्रवेश कर जाओ। इस युग के अन्त मे तुम शरीर त्याग दोगे और फिर तुम कभी देह के बन्धन में नहीं बँधोगे। यह कह कर यम अलोप हो गया

शुक्र ने वैसा ही किया वासुदेव पृथ्वी पर गिरकर लाश बन गया महात्मा भृगु ने जिसमें

शरीर को जीवित करने की शक्ति थी वह मंत्र पढ़कर शुक्र के शरीर पर छिड़का, तुरन्त वह देह पहले जैसी युवा और आलोकित हो गई। शुक्र ने ध्यानावस्था से उठकर पिता के चरणों में नमन किया। भृगु अपने पुत्र को पुनर्जीवित देखकर आनन्दित हुआ। पुत्र के साथ मेरे मन की भावना ने ऋषि भृगु को भी उद्वेलित कर दिया - शरीर के रहते हुए ये भाव जागृत होना स्वाभाविक हैं।

पिता - पुत्र ने मिलकर ब्राह्मण पुत्र वसुदेव के मृतक शरीर के अन्त्येष्टि संस्कार किए - क्योंकि ज्ञानी जन इसी प्रकार परम्परागत एवं सामाजिक प्रथाओं का सम्मान करते हैं।

कालान्तर में शुक्र दैत्यों का गुरू बनकर शुक्राचार्य कहलाया और भृगु उच्च कोटि के ऋषियों मे मान्य हुआ।

■

(iii) भक्त प्रहलाद् की कहानी

पाताल लोक में एक अत्यन्त बलशाली दैत्य राजा हिरण्यकशिपु रहता था उसने ब्रह्मा जी की उपासना करके ऐसा वर प्राप्त कर लिया था कि उसकी मृत्यु किसी भौतिक साधनों से नहीं होगी - न पृथ्वी पर होगी अत: वह निर्भय होकर मनमाने अत्याचार करता हुआ तीन लोकों का राज्य करता था।

हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष ने पृथ्वी को पाताल में धसा दिया था तब देवताओं की विनती पर भगवान विष्णु ने वराह अवतार धारण कर हिरण्याक्ष का वध कर डाला और पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठा लाए।

हिरण्यकशिपु ने अपने भाई को मारने का बदला लेने हेतु विष्णु को मारने का संकल्प लिया ओर विष्णु भगवान को अपना शत्रु घोषित कर दिया और स्वयं को भगवान। परन्तु प्रह्लाद विष्णु भगवान का परम भक्त था - बालकपन से वह 'श्री हरि' नाम उच्चारित करता, औरों को भी यही सिखाता कि 'श्री हरि' ही सब कुछ करने वाला है - हर दुःख में विपत्ति में 'श्री हरि' नाम जपना चाहिए।

प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु ने उसे दैत्य विद्या पढ़ाने के लिए स्कूल भेजा किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ - अध्यापक गण प्रयत्न कर कर के हताश हो गए - उसे वापिस पहुँचाना पड़ा। प्रह्लाद को कई प्रकार से ताड़ना दी गई, सब कुछ निरर्थक देखकर उसके पिता ने प्रह्लाद के जीवन का अन्त करना ठान लिया। ऊँचे पर्वत की चोटी से समुद्र में फिंकवाया, दूध में विष दिलवाया आदि-2 परन्तु हर समय भगवान विष्णु ने अपने भक्त की रक्षा की। अन्त में हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अपनी बहिन होलिका की गोद में बिठाकर प्रचण्ड अग्नि ज्वाला में भस्म करना चाहा - होलिका को वरदान मिला हुआ था कि अग्नि उसे जलाएगी नहीं - परन्तु भगवान के वरदान जीवों की रक्षा के लिए होते हैं संहार के लिए नहीं। अतएव होलिका जलकर भस्म हो गई और भगवद् भक्त प्रह्लाद ज्यों का त्यों जीवित बैठा रहा। तब हिरण्यकशिपु क्रुद्ध होकर बहिन के लिए शोक करता हुआ पुत्र प्रह्लाद को खम्भे से पटक कर मारने को तैयार हुआ। प्रह्लाद बोला, "पिताजी। भगवान श्री हरि सब जगह हैं, आप श्री हरि से प्रार्थना करें।" पिता बोला, "क्या इस खम्भे मे भी तेरे श्री हरि हैं - दिखा।" दुष्ट दलन भगवान विष्णु नृसिंह रूप में प्रकट हो गए - आधा मानव देह और मुख सिंह जैसा। उन्होंने ब्रह्मा जी के वरदान की रक्षा करते हुए हिरण्यकशिपु दैत्य का अपनी जंघा पर रखकर दमन कर दिया।

उपस्थित जन मण्डल उनके भयंकर स्वरूप को देखकर भयभीत हो गया। कुछ क्षणों में ही शान्त होकर भक्त प्रह्लाद की जय जयकार करने लगे। दैत्य राजा के अत्याचारों से मुक्त हुई प्रजा में शान्ति स्थापित हो गई।

इस अवसर पर अग्नि की लपटों के भीतर से बालक प्रह्लाद के सही सलामत निकलने के उपलक्ष में सारा जनसमूह आनन्द विभोर होकर गाने नाचने लगा। एक दूसरे पर अबीर गुलाल छिड़कते और रंग की वर्षा करने लगे। दैत्यराज हिरण्यकशिपु की बहिन 'होलिका' भस्मीभूत हुई थी उस के स्मृति रूप में भारत वर्ष में फाल्गुन शुक्र पूर्णिमा (लगभग मार्च) के दिन प्रतिवर्ष 'होलिका दहन' त्यौहार मनाया जाता है। भक्त प्रह्लाद की रक्षा के प्रतीक रूप में छोटे बालकों को सुन्दर -2 मेवा की मालाएँ बना कर पहनाते हैं। घरों में भाँति-2 के पकवान मिठाइयाँ बनाकर परस्पर भेंटों का आदान प्रदान होता है

विशिष्ट आध्यात्मिक शब्दावली

चित् शक्ति—शुद्धचैतन्य, सवित् मात्र जो चैतन्य है—इसी को आत्मतत्त्व कहते हैं जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में भवात्मक रूप से विद्यमान है।

चिदाकाश—अविभाजित शुद्ध चैतन्य अर्थात् सार्वभौमिक चैतन्य शक्ति जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक रूप है - व्याप्त है।

चित्ताकाश—जिस सूक्ष्म आकाश मे विचारों एवं मनोभावनाओं का संचरण होता है। (व्यक्तिगत चित्त की चेतन शक्ति)

भरताकाश—जिस आकाश में स्थूल शरीरों एवं वस्तुओ को स्थान मिलता है।

ब्रह्म—समस्त ब्रह्माण्ड का नियन्ता - वह अपनी माया से कर्मफल देने वाला ईश्वर बनता है। माया की उपाधि से ब्रह्म के तीन रूप बन जाते हैं - ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट।[1]

1. **ईश्वर**—अव्यक्त परमात्मा - कारण शरीरों की समष्टि
2. **हिरण्यगर्भ**—सूक्ष्म शरीरों की समष्टि
3. **विराट**—स्थूल शरीरों की समष्टि - दृश्य जगत।

[सृष्टि रचना में हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा है और ईश्वर स्थूल रूप]

तेजस्— सूक्ष्म शरीर का भावात्मक रूप। स्वप्न शरीर से तादात्म्य होने पर जीव का नाम तेजस् हो जाता है।

प्रज्ञानम्—शुद्ध अन्तःकरण (True conscience) ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है।

परात्पर—पर - अपर से अतीत, सापेक्ष पदार्थों से परे।

अन्तवाहक शरीर—सूक्ष्म शरीर

भूमा—असीम आनन्दस्वरूप (आत्मा)

सत् चिद् आनन्द—सत्य, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप (आत्मा)

अखण्ड—अविभाज्य, जिसके भेद नहीं हो सकते

असंग—निर्लिप्त

अनित्य—नाशवान

नित्य—शाश्वत, सदा रहने वाला - आदि अन्तरहित

मुक्त—संसार बंधन से जो छूट गया है, जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा

त्रिगुणातीत—सत् रजस् -, तमस् - तीनों गुणों से ऊपर

ब्रह्मविद्—ब्रह्मविद्या का ज्ञाता

ब्रह्मनिष्ठ—आत्मज्ञानी

श्रोत्रिय—वेदों का पारंगत

चैतन्य—चेतना की विशदावस्था

चिन्मय—शुद्ध चेतना से ओतप्रोत

ज्योति—आत्मप्रकाश

1 App d yagu

विक्षेप—चित्त की चंचल अवस्था। (power of Projection)

निर्विकल्प समाधि—ब्रह्मज्ञान प्राप्ति

उपरति—निर्लिप्तता

पंचभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। (इन पाँच तत्वों से जीवों के स्थूल शरीर बने हैं)

तन्मात्राएँ—इन पाँच तत्वों से क्रमशः सम्बन्धित पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार —

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

पर्यष्टक—मन, बुद्धि, अहंकार सहित पाँच तन्मात्राएं सूक्ष्म शरीर में निहित हैं। इसी को पुर्यष्ट भी कहते हैं (आठ तत्वों का पुरी)।

प्रत्यक्—अन्तरात्मा, जो ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है।

अप्रमेय—नापा न जाने योग्य, अपरिमित।

अव्यक्त—भावगम्य प्रकट रूप में दृष्टि न आने वाला (unmanifested)

अनुस्यूत—रमा हुआ, जिस प्रकार लकड़ी के भीतर अग्नि रगड़ने से प्रकट होती है, दृष्टि नहीं आती।

कूटस्थ—सदैव एक रूप, कभी न बदलने वाला साक्षीमात्र

साक्षी—सर्वथाभिन्न, द्रष्टा बनकर अलग विद्यमान।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. योगवासिष्ठ (हिंदी) सम्पूर्ण

2. YogaVashistha (English) I, II, II, & IV Parts by Swami Jyotirmayanand

3. Concise Yogavasishtha by Swami Venkateshananda

4. Supreme Yoga Part I & II. „ „ „ „

(Eng. translation of Yogavasishtha)

5. Brahma sutras by Swami Shivananda

6. Ten Upnishads „ „ „ „

7 Philosophy of Yagyavalkya „ „

8. Bhagwadgeeta (English) „ „

9 Self Knowledge „ „

10. Supreme Knowledge by Swami Brahmanand

11. Realisation of the Absolute by Swami Krishnanand

12. विवेक चूड़ामणि —आदि शंकराचार्य । (Vivek Churamani Adi Shankaracharya)

13. पंचदशी—श्री विद्यारण्य । (Panchdashi—Shri Vidyaranya)

14. Rajyoga Sutras of Pantanjali —by Swami Jyotirmayanand

15 Applied Yoga „ „